पाञ्चरात्र-आगम-तन्त्र

[जयाख्यसंहिता के परिप्रेक्ष्य में]

डॉ. शीतलाप्रसाद पाण्डेय

पाञ्चरात्र-आगम-तन्त्र

[जयाख्यसंहिता के परिप्रेक्ष्य में]

पाञ्चरात्र-आगम-तन्त्र

[जयाख्यसंहिता के परिप्रेक्ष्य में]

लेखक

डॉ. शीतलाप्रसाद पाण्डेय

असिस्टेण्ट प्रोफेसर, धर्मागम विभाग,
संस्कृतविद्या-धर्मविज्ञान-सङ्काय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

शिवांक

शिवांक प्रकाशन

नयी दिल्ली-110002

इस पुस्तक के सर्वाधिकार सुरक्षित है। लेखक की अनुमति के बिना इसके किसी भी अंश को फोटो कॉपी एवं रिकार्डिंग सहित, इलेक्ट्रानिक अथवा मशीनी किसी भी माध्यम से, अथवा ज्ञान के संग्रहण एवं पुनर्प्रयोग की प्रणाली द्वारा किसी भी रूप में पुनरुत्पादित अथवा संचारित प्रसारित नहीं किया जा सकता।

© डॉ. शीतलाप्रसाद पाण्डेय

प्रकाशक : **शिवांक प्रकाशन**
4598/12 बी, गोला कॉटेज, अंसारी रोड,
दरिया गंज, नई दिल्ली-110002

दूरभाष : 011-23251264, Mob.: 9811734184

प्रथम संस्करण : 2016

ISBN : 978-93-83980-19-2

लेज़र कम्पोजिंग : अवधेश कम्प्यूटर्स दिल्ली-1100094

मुद्रक : विशाल कौशिक प्रिन्टर्स, दिल्ली

समर्पणम्

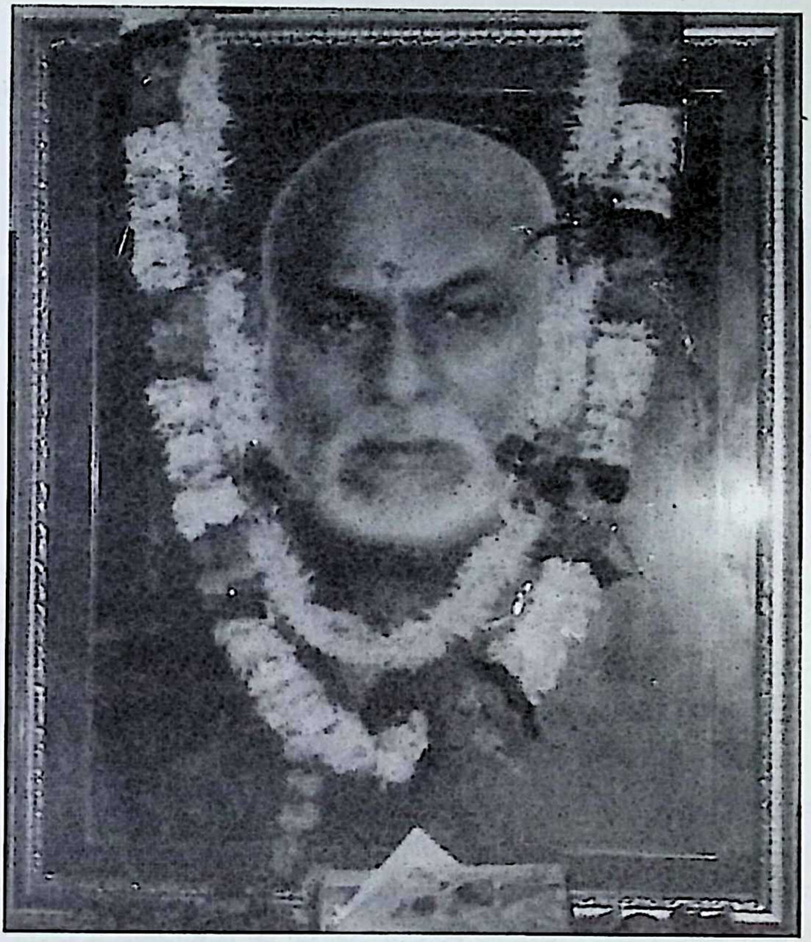

पूज्य स्वामी श्रीजगदेवानन्द सरस्वती

(पूर्वाश्रम में हमारे पितृव्य श्री जगन्नाथ पाण्डेय)

के चरणों में प्रणत वन्दन

आशीर्मय-अभिमत

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी की चक्रवर्ती/पी-एच.डी. उपाधि के लिए श्रीशीतलाप्रसाद पाण्डेय द्वारा आचार्य कमलेशदत्त त्रिपाठी के निर्देशन में संकलित एवं प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का परीक्षण की दृष्टि से आद्योपान्त वाचन वस्तुतः एक सुखद अनुभव सिद्ध हुआ है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध समसामयिक शोध धारा से कुछ पृथक् आयाम उद्घाटित करता है। शोध-प्रबन्ध का मूल आलेख छह अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय विषय प्रवेश की आवश्यक भूमिका है, जिसके अन्तर्गत आगम तथा तन्त्र साहित्य का आधारभूत परिचय मिल जाता है। शोध-प्रबन्ध का प्रतिपाद्य विषय है जयाख्य-संहिता की तत्त्वमीमांसा और उसकी उपासना-पद्धति का विवेचनात्मक परिचय।

"शास्त्रावतरण" से "योगाख्यान" तक जयाख्य-संहिता में तैंतीस पटल हैं, परन्तु प्रत्येक पटल की विषय वस्तु का दार्शनिक आधार और उपासना पद्धति का प्रयोग-पक्ष आगम-परम्परा के विषय-विभाग की पृष्ठभूमि के बिना विवेचनीय नहीं हो सकते। अतएव प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध की योजना में द्वितीय तथा तृतीय अध्याय के अन्तर्गत वैखानस तथा पाञ्चरात्र आगम के नितान्त शास्त्रीय कलेवर का साङ्गोपाङ्ग परिचय केवल उपादेय ही नहीं अपितु अपरिहार्य ही बन पड़ा है। वैष्णव आगमों में वैखानस एवं पाञ्चरात्र परम्परा की पृष्ठभूमि में जयाख्य-संहिता का विवरण चतुर्थ अध्याय में प्रस्तुत किया गया है। पञ्चम अध्याय में जयाख्य-संहिता की तत्त्वमीमांसा और औपासनिक पद्धति के संकल्पित विवेचन से शोध-प्रबन्ध की अभीष्ट-सिद्धि हो जाती है।

भारतीय संस्कृति के इतिहास में वैदिक साहित्य के विपुल भण्डार का रचना सन्दर्भ इतना विस्तृत है कि अधुनातन शोध-दृष्टि में भी उसका काल निर्धारण प्रायशः पूर्वाग्रह-ग्रस्त सीमाओं से बाहर नहीं आ पाया है। ईसवी पूर्व पाँचवी या छठीं शताब्दी के पूर्व का काल सुदूर क्षितिज पर किसी घने कुहरे से

आच्छन्न सा दीख पड़ता है। पाणिनि की अष्टाध्यायी में वासुदेव-उपासना के संकेत, विष्णुगुप्त कौटिल्य के अर्थशास्त्र में उद्धृत प्रतिज्ञायौगन्धरायण के रचयिता भास जैसे नाटककार की वैष्णव निष्ठा अथवा भास के रंगमंच पर प्रतिबिम्बित महाभारतीय सन्दर्भों के मूल में वैष्णव तत्त्वदर्शन, वैष्णव आगम के उद्भव विकास और प्रतिष्ठा के लिए आगम-काल और निगम-काल के बीच पर्याप्त अन्तराल को इंगित करता है।

गौतम बुद्ध का धर्मचक्र-प्रवर्तन और महावीर स्वामी के जैन अनुशासन के व्यापक प्रसारकाल से पूर्व वैष्णव आगमों का अभ्युदय अप्रासंगिक नहीं कहा जा सकता। यदि आगमिक परम्परा के स्रोत गुप्तकाल में न उपजे होते तो भारतीय मूर्तिकला में वैष्णव तत्त्व का उतना उत्कर्ष प्रतिफलित होना दुष्कर ही होता। अतएव श्री शीतलाप्रसाद पाण्डेय द्वारा वैखानस आगम तथा पाञ्चरात्र आगम के अविर्भाव-काल के विवेचन में संकलित विभिन्न पाश्चात्य एवं भारतीय आकलन के सन्दर्भ सार्थक और सूक्ष्म परीक्षण की दिशा में कुछ और अधिक सीमाओं की ओर अग्रसर होने की सम्भावना अवश्य दर्शाते हैं।

चतुर्थ अध्याय के प्रारम्भ में श्रीपाण्डेय ने जयाख्य-संहिता के काल निर्णय का सार्थक प्रयास किया है और इसके लिए वे अवश्य ही साधुवाद के पात्र हैं। शोध-कर्ता के रूप में श्रीपाण्डेय की मौलिकता का परिचय शोध-प्रबन्ध के अन्तिम अध्याय में मिलता है। यद्यपि यह षष्ठ अध्याय केवल पाँच पृष्ठों में प्रतिपादित हुआ है, परन्तु शोध अध्ययन में श्री शीतलाप्रसाद पाण्डेय की सूक्ष्म दृष्टि और विवेचन शक्ति का परिचय निष्कर्ष के कुछ वाक्यों में ही अवश्य प्रमाणित हो जाता है। आगम परम्परा में जयाख्य-संहिता का विवेचनसामान्य दृष्टि से केवल शास्त्रीय या अधुनातम जीवन में आगम शास्त्रों के अध्ययन की विरलता को देखते हुए अतिशास्त्रीय ही कहा जायेगा फिर भी श्रीशीतलाप्रसाद पाण्डेय की दृष्टि समसामयिक यथार्थ की ओर भी जागरूक है, क्योंकि उनके अनुसार, "संहिता की सबसे अधिक उल्लेखनीय बात उस सांस्कृतिक छाप से देखी जा सकती है, जो मानव-जीवन के स्तर को ऊँचा उठाती है।......सच्चा वैष्णव सदा अहिंसक हुआ करता है, जिसका परम कर्त्तव्य है कि वह मनसा, वाचा, कर्मणा किसी का अपकार न करे।.....सच्चे वैष्णवों की संख्या में वृद्धि होने पर सारे समाज का कल्याण अवश्यम्भावी है। यही संहिता का सन्देश है।

शोध-प्रबन्ध के अन्त में नियोजित चार परिशिष्ट अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं, जो ग्रन्थ की उपादेयता को बढ़ाने में सार्थक हैं। शोध-प्रबन्ध की भाषा प्रवाहपूर्ण एवं सरल है। आगम शास्त्र के दुरूह विषय की सुस्पष्ट एवं तर्कसंगत व्याख्या इस ग्रन्थ-रचना की विशेषता है। अतएव मेरी अनुशंसा है कि प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध को चक्रवर्ती/पी-एच.डी. उपाधि के लिए स्वीकृत किया जाय। शोध-प्रबन्ध की गुणवत्ता और उपादेयता को ध्यान में रखते हुए मेरी अनुशंसा है कि इस ग्रन्थ को विश्वविद्यालय की ओर से प्रकाशन के लिए भी स्वीकृत किया जाय। वैष्णव आगम जैसे दुरूह और अप्रचलित विषय पर इस ग्रन्थ के प्रकाशन का व्यापक स्वागत सुनिश्चित है। अन्त में प्रस्तुत प्रतिवेदन को संस्कृत शुभाशंसा के साथ विराम देना प्रासंगिक प्रतीत होता है।

श्रीशीतलाप्रसादेन वैष्णवागमवाङ्मयम्।
वैखानसं विमृश्याऽथ पाञ्चरात्रं व तत्त्वतः।।१।।
सम्प्रदायानुरोधेन प्रबन्धेऽस्मिन् विचित्रितम्।
सोपपत्ति समालोच्य सुधिया सूत्रितं ततः।।२।।
जयाख्यसंहितातत्त्वमीमांसापरिशीलनम्।
अनन्तानन्दरूपेण तत्रादौ ब्रह्मचिन्तनम्।।३।।
शुद्धः प्राधानिको ब्राह्म इति सृष्टिक्रमस्ततः।
त्रैगुण्यबन्धनात् सृष्टौ जीवानां मोक्षसाधनम्।।४।।
भक्तियोगेन साध्यं तत्त्वं भक्तिरुपासना।
मन्त्रो मुद्रा च दीक्षा च वैष्णवाचारसम्पदः।।५।।
साकारतां भजन्ते वै प्रतिमायां यथायथम्।
प्रासादश्च प्रतिष्ठा च सात्त्विकोत्सवहेतवः।।६।।
तत्रोत्सववतां भक्तिर्योगसिद्धिः प्रवर्तते।।७।।
उपासनाविधिः सोयं वैष्णवाचारसम्मतः।
जयाख्यसंहितादृष्ट्या लोककल्याणसाधकः।।८।।
विविच्य भारतीयानां विदुषां तत्त्वचिन्तनम्।
समाहृत्य च पाश्चात्यधीमतां मतमञ्जसा।।९।।
उदाहृतः प्रबन्धोऽयं जायतां सुधियां मुदे।
श्रीशीतलाप्रसादोऽपि प्रतिष्ठां लभतां पराम्।।१०।।

उज्जयिनी
अक्षयतृतीया, सम्वत् २०५१
१३ मई, १९९४

(श्रीनिवास रथ)

प्राक्कथन

काशी प्रकाश की नगरी है क्योंकि यह विश्वप्रकाशिका काशी है। यह नगरी विद्या, साधना तथा कला तीनों की अधिष्ठान रही है। भगवान् विश्वनाथ एवं भगवती विशालाक्षी की विशेष कृपादृष्टि तथा प्रातः स्मरणीय पूज्यपाद महामना मालवीय के विशेषानुग्रह का सुपरिणाम है कि मुझे सर्वविद्या की राजधानी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में अध्ययन और अध्यापन का सुअवसर प्राप्त हुआ। धर्मागमशास्त्र का अध्येता होने के कारण मुझे विद्यार्थी जीवन से ही आगमिक साहित्य-सम्पदा पर कार्य करने की रुचि रही, विशेष रूप से उन आगमों के ऊपर जिन पर अभी तक स्वल्प कार्य हुए हैं। ऐसे आगमों में ही एक है पाञ्चरात्र-आगम-तन्त्र। पाञ्चरात्र-आगम-तन्त्र पर अब तक कार्य करने वाले प्राच्य एवं पाश्चात्य विद्वानों में प्रो. एस.एन. दासगुप्त, डॉ. एफ.ओ. श्राडर, डॉ. एच. डैनियल स्मिथ, डॉ. पी.पी. ऑप्टे, प्रो. व्रजवल्लभ द्विवेदी, डॉ. राघवप्रसाद चौधरी, श्रीउत्तमूरवीरराघवाचार्य तथा डॉ. अशोक कुमार कालिया के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इन विशिष्ट विद्वानों द्वारा कृत कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हुए भी अपने-अपने विशिष्ट अध्ययन-क्षेत्रों तक सीमित हैं।

प्रस्तुत अध्ययन मेरे शोध-प्रबन्ध 'जयाख्यसंहिता का तत्त्वमीमांसीय एवम् औपासनिक विवेचन' पर आधारित है। जिसे मैंने १९९३ में. काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से पी-एच.डी. की उपाधि हेतु प्रस्तुत किया था। उसी शोध-प्रबन्ध को "पाञ्चरात्र-आगम-तन्त्र" (जयाख्यसंहिता के परिप्रेक्ष्य में) इस नये शीर्षक से प्रस्तुत करने का विनम्र प्रयास है। इस नये कलेवर में पवित्रारोपण विधि तथा स्नपन विधान पर लेख जोड़े गये हैं। जयाख्यसंहिता ने एक ऐसी पूजा-विधि का आविर्भाव किया था, जिसमें आराधक आराध्य के साथ आन्तर और बाह्य वरिवस्या (पूजा) के द्वारा तादात्म्य स्थापित करने के उद्देश्य से भूतशुद्धि, प्राणप्रतिष्ठा, न्यास तथा मुद्रा का अवलम्बन कर स्वयं देवस्वरूप हो जाता है। "एवं विष्णुमयो भूत्वा स्वात्मना साधकः पुरा। मानसेन तु यागेन ततो विष्णुं समर्चयेत्"।। (जया. १२/१) इस सिद्धान्त को स्वीकार कर देवता को मूर्ति, पट, मन्त्र तथा

मण्डल आदि में प्रतिष्ठित करता है तथा विष्णु की पूजा सम्पन्न करता है। बाह्य वरिवस्या के लिए यहाँ व्रत, उपवास, उत्सव तथा पर्व की प्रक्रिया अपनाता है तथा आन्तरवरिवस्या में यौगिक पद्धति का अनुसरण करता है। इस प्रकार वैदिक विधान से इतर इस कर्मकाण्ड की निष्पत्ति के लिए जिस शास्त्र का प्रणयन हुआ वही आज पाञ्चरात्र-आगम-तन्त्र के नाम से प्रख्यात है।

अपने आराध्य की आन्तर- वरिवस्या के लिए पाञ्चरात्र-आगम-तन्त्र में निजी दर्शन तथा अपनी विशिष्ट यौगिक पद्धति है एवं बाह्य वरिवस्या के लिए देवताओं तथा मूर्तियों का निर्माण कर विग्रहाराधन की विशिष्ट विधियाँ इनमें प्रतिपादित हैं।

रहस्यवादी तन्त्रागमीय उपासना में कर्म, योग तथा ज्ञान की अपेक्षा भक्तितत्त्व की भव्यता इसकी निजी पहचान है। सम्पूर्ण भारत का सन्त साहित्य इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। इस दिशा में सभी धर्मों तथा वर्णों के महान् भक्तों, सिद्धों तथा सन्तों ने अपनी महती भूमिका निभायी है। इस प्रकार निगमागमशास्त्र के अन्तर्गत सम्पूर्ण विश्व के धर्मों का समावेश सम्भव तथा सुरक्षित हुआ है।

जयाख्यसंहिता पर शोध कार्य करने की प्रेरणा मुझे अपने गुरुवर इमेरिट्स प्रोफेसर कमलेशदत्त त्रिपाठी (पूर्व आचार्य एवम् अध्यक्ष, धर्मागम विभाग) द्वारा प्राप्त हुई थी। पूज्य गुरुदेव की मेरे ऊपर अहैतुकी कृपा सदा रही है। मैं उनके चरणों में श्रद्धावनत हूँ। प्रातःस्मरणीया श्रद्धेया माता श्रीमती प्रतिभा त्रिपाठी को सश्रद्ध नमन।

इस क्रम में गुरुवर डॉ. बाबूलाल मिश्र ने भी अपना मार्गदर्शन प्रदान किया था उनके चरणों में भी प्रणति निवेदित है। प्रस्तुत प्रयास की सम्पूर्णता में श्रद्धेय गुरुवर डॉ. रामनिवास तिवारी जी का सर्वाधिक योगदान है, उसे शब्दों में नहीं कहा जा सकता। गुरुदेव के चरणों में श्रद्धावनत होकर अपने को सौभाग्यशाली समझता हूँ। श्रद्धेया बहन जी डॉ. ऊर्मिला शर्मा ने इस कार्य में प्रभूत मार्गदर्शन दिया। इनके प्रति श्रद्धा-समन्वित कृतज्ञता समर्पित करता हूँ।

गुरुदेव आचार्य कृष्णकान्त शर्मा, प्रो. नवजीवन रस्तोगी, प्रो. चन्द्रमा पाण्डेय, प्रो. विन्ध्येश्वरी प्रसाद मिश्र, प्रो. चन्द्रमौलि द्विवेदी, प्रो. कौशलेन्द्र पाण्डेय इन सभी विद्वद्-विभूतियों के प्रति सादर प्रणामाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

'आशीर्मय-अभिमत' के प्रदाता प्रातः स्मरणीय पूज्य आचार्य श्रीनिवास रथ के चरणों में सश्रद्ध प्रणामाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

प्रातः स्मरणीय पूज्य पं. विद्यानिवास मिश्र, प्रो. प्रेमलता शर्मा, डॉ. राघवप्रसाद चौधरी, प्रो. कल्याणमल लोढा, प्रो. वाचस्पति उपाध्याय तथा आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी इन विद्वद्वर्यों की कृतियों से कार्य करने की सही दृष्टि मिली है। इन सबको नमन करता हूँ। कीर्त्तिशेष पं. बटुकनाथ दूबे, पं. वैद्यनाथ उपाध्याय, कैप्टन एस.एन. मिश्र, पं. रामदेव पाठक तथा सहोदर-सदृश भाई जयशंकर मिश्र- इन सबको सादर प्रणामाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

जन्मदाता जनक पं. श्रीरामनाथ पाण्डेय तथा प्रातः स्मरणीया जन्मदात्री जननी अखण्ड सौ. श्रीमती सुदामा देवी के स्नेहाशीष का ही यह सुपरिणाम है कि मैं ज्ञान की इस दिशा में इतनी दूर आ सका। उन्हें मेरा सतत नमन- "पितरौ वन्दे"।

अपनी सहधर्मिणी श्रीमती आशा पाण्डेय, पुत्री श्रीमतीसीमाद्विवेदी, पुत्र श्रीयोगेशप्रसाद पाण्डेय तथा पुत्रवधू श्रीमती मीनाक्षी पाण्डेय तथा अबोध पौत्रियों, इन सभी को आशि-राशि से अभिषिक्त करता हूँ।

सुहृदवरों में पं. राजेन्द्रजी उपाध्याय, श्री काशीनाथ दूबे, श्री कृष्णकुमार शुक्ल जी, श्री देवमूर्ति मिश्र जी, श्री राधेश्याम दीक्षित जी इन सभी के चरणों में श्रद्धा वन्दन।

विभिन्न ग्रन्थालयों से पुस्तक से सहायता प्राप्त की है इनके प्रति भी कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ। अन्त में प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादन में प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से जिनका भी सहयोग प्राप्त हुआ है, उन सभी का मैं हृदय से आभारी हूँ।

विविध प्रकार से प्राप्त होने वाले इस सहयोग को परिभाषित करना वस्तुतः कठिन कार्य है। प्रस्तुत प्रयास से विद्वज्जनों तथा अनुसन्धाताओं को किञ्चित सन्तुष्ट कर सका तो मुझे सन्तोष होगा।

शी. प्र. पाण्डेय

ग्राम कुरहुआ,
वाराणसी, २०१६ ई.

शीतलाप्रसाद पाण्डेय

विषयानुक्रम

		पृष्ठ संख्या
प्रथम अध्याय :	**विषय-प्रवेश**	**१-३६**
	आगम-तन्त्र	१-६
	व्युत्पत्ति-विवेचन	१-६
	तन्त्र का तात्पर्य	६-१९
	आगम तन्त्र के भेद	**२०-३६**
	सौरागम	२१-२४
	गाणपत्यागम	२४-२७
	स्कान्दागम	२७-३०
	शैवागम	३१
	शाक्तागम	३२
	बौद्धागम तथा जैनागम	३२-३६
द्वितीय अध्याय :	**वैखानस आगम**	**३७-५६**
	वैखानस आगम का उद्गम	३७-४८
	वैखानस आगम-साहित्य	४८-५६
तृतीय अध्याय :	**पाञ्चरात्रागम**	**५७-११४**
	नाम-व्युत्पत्ति एवं आगम परिचय	५७-६४
	पाञ्चरात्रागम की वेदमूलकता	६४-६९
	पाञ्चरात्रागम की प्राचीनता	६९-७२
	पाञ्चरात्रागम साहित्य	७२-७६
	प्रमुख संहिताओं का परिचय	७६-८०
	पाञ्चरात्र तथा वैखानस का अन्तर	८०-८२
	पाञ्चरात्रीय तत्त्वदर्शन	**८३-११४**
	ब्रह्मविमर्श	८३-९०
	शक्ति-स्वरूप	९०-९३

	काल-स्वरूप	९३-९४
	विशाखयूप	९४-९६
	चतुर्व्यूह	९७-१०२
	विभव	१०२-१०३
	जगत् का स्वरूप	१०३-१०७
	जीव	१०७-१११
	मोक्ष	१११-११४
चतुर्थ अध्याय :	**जयाख्यसंहिता**	**११५-१४७**
	काल निर्णय	११५-१२०
	जयाख्यसंहिता का सारसंक्षेप	१२०-१४७
पञ्चम अध्याय :	**जयाख्यसंहिता का तत्वदर्शन एवं औपासनिक विवेचन**	**१४८-२२८**
	ब्रह्मतत्त्व	१४८-१५१
	सृष्टिविमर्श	१५१-१६०
	जीवात्मा तथा मोक्ष	१६०-१६४
	औपासनिक विवेचन	**१६५-२२८**
	मन्त्र विमर्श	१६५-१७५
	यन्त्र	१७५
	मुद्रा	१७६-१८२
	प्रतिमा-प्रासाद-प्रतिष्ठा तथा उत्सव	१८३-१९५
	पवित्रोत्सव	१९५-१९७
	स्नपन	१९७
	दीक्षा विधि एवं अभिषेक	१९८-२२३
	वैष्णव-लक्षण, पाञ्चरात्रिक आचार एवं प्रायश्चित्त	२२४-२२८
षष्ठ अध्याय :	**उपसंहार**	**२२९-२३२**
परिशिष्ट-	क. जयाख्यसंहितोक्त भगवत्-स्तुति	२३३-२३४
	ख. नवपद्ममण्डल	२३५-२३७
	ग. विशिष्ट शब्दों की विवरणी	२३८-२४२
	घ. सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची	२४३-२४९
	ङ. विशिष्ट शब्द अनुक्रमणी	२५०-२५२

आगम-तन्त्र

भारतीय संस्कृति के अन्तःस्तल में प्रवाहित होने वाली ज्ञानसलिला के अपरिमेय दो स्रोत हैं- निगम, आगम अथवा तन्त्र। निगमागमात्मक ज्ञान सृष्टि विज्ञान है। वस्तुतः निगम की अध्यात्मविद्या को विज्ञान बनाने का श्रेय आगम को ही है। निगम द्वारा प्रकाशित सत्य का साक्षात्कार करने का साधन आगम है। निगम सिद्धान्त पक्ष है तो आगम उसका क्रियात्मकरूप। 'व्यासोच्छिष्टं जगत्सर्वम्' का अभिमत है- "श्रुतिप्रमाणागममङ्गलैश्च शेते जरामृत्युभयादभीतः।"[1] अर्थात् श्रुति प्रमाणों का विचार और आगमशास्त्र में निर्दिष्ट मङ्गलमय साधनों के अनुष्ठान से मनुष्य जरा-मृत्यु के भय से रहित होकर सुखपूर्वक सोता है।

इस मौलिक सांस्कृतिक-परम्परा के जन्मदाता वे सिद्ध, सन्त, भक्त एवं त्यागी महापुरुष रहे हैं जिन्होंने इस कर्मभूमि में अवतरण किया। इस संस्कृति के इन तीर्थङ्करों में जाति-प्रजाति का कोई बन्धन नहीं होता, उनकी गुरु-शिष्य परम्परा चलती रहती है। यह परम्परा अत्यन्त प्राचीनकाल से अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है।[2] दूसरी ओर जो भौतिक परम्परा की सभ्यता है, उसे प्राचीन काल से ही विविध जातियों-जनपदों का योगदान रहा है। उसका रूपान्तरण भी युगानुरूप होता रहा है।

व्युत्पत्ति एवं विवेचन

संस्कृत साहित्य में 'आगम' शब्द का प्रयोग विविध अर्थों में हुआ है, किन्तु प्रतीयमान विरोधों के बावजूद भी उनमें प्रायः एकरूपता है। आगम शब्द 'आ' उपसर्ग के साथ 'गम्' धातु से निष्पन्न है, अर्थात् 'आ समन्ताद् अर्थं गमयति इति आगमः'। इसी प्रकार 'निगम' भी 'नि' उपसर्ग के साथ गम् धातु से निष्पन्न

१. शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वः २१९/४६.
२. 'पारम्पर्येणाविच्छिन्न उपदेशः आगमः, श्रुतिलक्षणः स्मृतिलक्षणश्च सः" इति। महाभाष्य १.१.१., काशी हिन्दूविश्वविद्यालय संस्करण, बनारस.

होने के कारण 'निःशेषेण अर्थं गमयति इति निगमः' दोनों का ही अर्थ किसी ज्ञान की पूर्ण अभिव्यक्ति है। गम् धातु गत्यर्थक होने के साथ ही साथ ज्ञानार्थक भी हैं–"ये गत्यर्थाः धातवः ते ज्ञानार्थाः"।[१] 'आ' उपसर्ग का अर्थ पूर्णता है। इस प्रकार आगम का अर्थ हुआ पूर्ण ज्ञान, पवित्र ज्ञान, स्वतःस्फूर्तज्ञान, विमलज्ञान, निराकुलज्ञान, गुह्याद्गुह्यतरज्ञान, शिवज्ञान, दिव्यशास्त्र, अवबोधरूपज्ञान और सिद्धान्त आदि।[२] इस प्रकार 'आगम' वह शास्त्र है, जिसके द्वारा सभी कुछ ज्ञात हो जाता है। वाचस्पति मिश्र ने अपनी तत्त्ववैशारदी में यह प्रतिपादित किया है कि आगम यह बताने की प्रक्रिया है कि मनुष्य किस प्रकार इस लोक में सुख प्राप्त करते हुए भी मुक्ति प्राप्त करता है।[३] 'उपासकाध्ययन' में आगम शब्द को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि हेय तथा उपादेय रूप से धर्मार्थकामादि चतुर्वर्ग समाश्रय पूर्वक त्रिकालगत अर्थों का ज्ञान कराने वाली विद्या आगम है।[४]

स्वामी करपात्री जी ने 'निगम' की परिभाषा करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि "सम्प्रदायावच्छिन्ने सति अस्मर्यमाणकर्त्तृकत्वं निगमत्वम्"–अर्थात् जिस वाणी या ज्ञानधारा की परम्परा अनादिकाल से अविच्छिन्न रूप में चली आ रही हो और जिसके कर्ता का स्मरण न हो वही निगम है।[५] कुछ संशोधन के साथ यही परिभाषा आगम के ऊपर भी चरितार्थ होती है। आगम भी अविच्छिन्न परम्परा से प्राप्त होते हैं, किन्तु इसके कर्ता के विषय में विभिन्न मान्यताएँ हैं। नैयायिक सामान्य पुरुष के द्वारा वेद की संरचना को असम्भव मानते हुए उसे भी ईश्वररचित ही मानता है, और पुरुष शब्द का अर्थ अलौकिक पुरुष या सर्वशक्तिमान् ईश्वर करता है।

आगम का अर्थ 'परमज्ञान' भी होता है।[६] अपने स्वरूप का ज्ञान जिस ज्ञान से होता है, उस ज्ञान को भी आगम कहते है। स्वरूप का अभिप्राय है

---

१. जर्नल ऑफ् कर्नाटक यूनिवर्सिटी ह्यूमनिटीज- १९७०, पृ० २९.
२. जर्नल ऑफ् कर्नाटक यूनिवर्सिटी ह्यूमनिटीज- १९७०, पृ० ३०
३. "आगच्छन्ति बुद्धिमारोहन्ति यस्माद् अभ्युदयनिःश्रेयसोपायाः स आगमः।" तत्त्ववैशारदी १-७.
४. हेयोपादेयरूपेण चतुर्वर्गसमाश्रयात्। कालो भयागतानर्थान् गमयत्यागमः स्मृतः।। उपासकाध्ययन, श्लोक १००.
५. सन्मार्ग, आगम विशेषांक, पृ० १.
६. "आगमो ज्ञानमित्युक्तम्" आगमरहस्य, उद्धृत त्रिपुरार्णवतन्त्रभूमिका, पृ० ४

पारमेशस्वरूप से अभेद-विमर्शन।[१] स्वरूप ज्ञान का अभिप्राय है 'शिवोऽहं' की भावना। स्वच्छन्दतन्त्र में लिखा है कि प्रत्यक्ष, अनुमान, अनुभव तथा अर्थि-प्रत्यर्थिभाव से प्रवर्तित ज्ञान ही आगम है।[२] अर्थि-प्रत्यर्थि का अभिप्राय है द्रष्टा तथा वक्ता दोनों में अनुग्राह्य-अनुग्राहक भाव। सभी शास्त्र शब्दात्मक है, क्योंकि विश्व में कोई भी ऐसा ज्ञान नहीं है जो शब्दात्मक न हो।[३] हाँ, यह निश्चित है कि सभी अनुभवात्मक ज्ञान शब्दरूप में अभिव्यक्त नहीं होते। अभिप्राय यह है कि इस अनुभूत ज्ञान का न कोई उच्चारक है और न कोई प्रतिहन्ता।[४] इस प्रकार आगम वह ज्ञान है, जो आत्मदर्शन की ओर प्रेरित करता है। डॉ० एच०वी०ग्लासेम्पा का यह मानना है कि संसार के सभी दृश्य पदार्थ तथा उनका स्वरूप एक पूर्णता है। इसका छोटा से छोटा भी बड़े से बड़े भाग को प्रभावित करता है क्योंकि यह एक रहस्यमय सूत्र से संग्रथित हैं। विश्व की नित्य सत्ता इससे कभी अलग नहीं होती, तान्त्रिक दर्शन का यही मूलाधार है।[५] इससे भी यही अभिप्राय निकलता है कि विश्वात्मक सत्ता के साथ जीवात्मा का अभेद ज्ञान ही आगमिक या तान्त्रिक ज्ञान है।

आगम शब्द अपनी वैचारिक यात्रा में विविध सोपानों से होता हुआ कभी वेद, कभी शास्त्र, कभी शब्द के प्रमाणभूत तत्त्व के अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है जैसा कि विविध शास्त्रों में इस शब्द के प्रयोग से स्पष्ट है। निगमागम शब्द की व्याख्यायें निरुक्त से लेकर काव्यग्रन्थों तक बिखरी पड़ी हैं।

---

१. आसमन्तात् गमयति अभेदेन विमृशति पारमेशस्वरूपमिति आगमः, तत्रैव

२. गृह्यते ह्यनुमानेन प्रत्यक्षानुभवेन च। अर्थि - प्रत्यर्थिभावेन आगमेन तु लभ्यते।। स्वच्छन्दतन्त्र-४/३३९.

३. न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ।।-वाक्यपदीयम् १/११५.

४. नास्योच्चारयिता कश्चित् प्रतिहन्ता न विद्यते। स्वयमुच्चरते हंसः प्राणिनानामुरसि स्थितः।। तत्रैव ७/५९

५. The Notion that the whole universe with the totality of its phenomena forms one single whole, in which even the smallest element has an effect upon the largest, because secret threads connect the smallest item with the eternal ground of the world. This is the proper foundation of all tantric Philosophy.: H.V. Glasenappa, "Tantrismus and Schaktismus", Ostasiatische Zeitschrist, Vol. 22, p. 120, Berlin, 1936.

इन विविध व्याख्यानों में 'निगम' अनादि श्रुतिपारम्पर्यात्मक 'वेद', तार्किक निगम तथा वाणिज्य की दृष्टि से संघात्मक रूप चले आते 'निगम' के अर्थ में प्रयुक्त है।[१] दूसरी ओर 'आगम' 'आगमन' एवम् 'आगत' परम्परा के अर्थ में प्रयुक्त है।[२] अतः निष्कर्ष रूप में वह पारम्पर्य प्राप्त ज्ञान आगम है जो गुरु-शिष्य पद से चला आया है। उस ज्ञान को निबद्ध करने वाले ग्रन्थ भी उपलक्षण से 'आगम' कहलाते हैं।[३] आचार्य रामेश्वर झा ने "समन्ताद् गमयन्नर्थमागमः परिभण्यते" कह कर यह प्रतिपादित किया है कि आगम विमर्श रूप है।[४]

देवसूरि ने अपने 'प्रमाणनयतत्त्वलोकालंकार' में आगम की परिभाषा देते हुए बताया है कि 'आप्तवचनाद् आविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः'।[५] अर्थात् किसी आप्त पुरुष द्वारा अर्थ विशेष का परिज्ञान कराने वाले ज्ञान का नाम आगम है। यहाँ आप्त पुरुष का अभिप्राय है स्वदृष्ट ज्ञान का उपदेशक क्योंकि 'सांख्यसप्तति' की जयमङ्गला व्याख्या में यह कहा गया है कि रागद्वेष से रहित अपने कर्म में लगे हुए अजातशत्रु तथा सज्जनों द्वारा पूजित व्यक्ति को ही आप्त कहते हैं।[६] इसमें 'स्वकर्मणाभियुक्तो' शब्द महायान बौद्ध धर्म के 'महायानार्थकोविदम्' विशेषणधारी कल्याण मित्र की भाँति है। चरकसंहिता में कहा गया है कि

१.क. निगमाः पूर्वणिग्वेदनिश्याध्ववणिक्पथाः - हैमः।
 ख. न्यायमतसिद्धे पञ्चावयवन्यायमध्ये चरमावयवे निश्चयार्थे निगमशब्दप्रयोग : तर्कसंग्रहः
 ग. वाणिक्पथं पुरं वेदोनिगमाः-अमरकोशः
 घ. निगमशब्दो वेदवाची यास्केन तत्र तत्र 'निगमो भवति' इत्येवं वेदवाक्यानामवतारित्वात्। -ऋग्वेदभष्यभूमिकायाम्।
 ङ. निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्, इति भागवते-१-३
 च. नित्यता निर्मुक्ते निखिलनिगमान्तस्तुतपदे नित्ये निगमयममापि स्तुतिमिमाम्-सौन्दर्यलहरी-१००

२. "श्रुतवन्तो वयं धीराणां धीमतां वचनम् । ये आचार्या नोऽस्मभ्यं तत्कर्म च ज्ञानं च विचचक्षिरे व्याख्यातवन्तस्तेषामयमागमः पारम्पर्यागत इत्यर्थः" -ईशावास्योपनिषद्भाष्ये-१०

३.क. प्रज्ञा विवेकं लभते भिन्नैरागमदर्शनैः-वाक्यपदीय २/४८४ क.
 ख. आगमैः सदृशारम्भ आरम्भसदृशोदयः-रघुवंश १/१५.
 ग. न्याये चतुर्विधं प्रमाणं स्वीकृतमस्ति चतुर्थमागमप्रमाणम-तर्कसंग्रहः ।

४. आन्तरं चित्स्वभावस्य शब्दनं यद्विमर्शनम्। अन्तरङ्गस्वरूपं तत् प्रत्यक्षस्यापि जीवितम्।। यद् यद् विमृश्यते तेन तत्तदेव भवेद् ध्रुवम्। आगमः स विमर्शो हि प्रोच्यते मुख्यतो बुधैः।। उपयोगितया तत्र उपचारेण कथ्यते। शब्दोप्यागमशब्देन विमर्शजनकत्वतः।।-सन्मार्ग, आगम विशेषांक, पृ० ६०.

५. प्रमाणनयतत्वालोकालंकार- ४-१.

६. स्वकर्मण्यभियुक्तो यो रागद्वेषविवर्जितः। निर्वैरः पूजितः सद्भिः आप्तो ज्ञेयः स तादृशः।। सांख्यकारिका ५, टीका जयमंगला।

"जिनका सर्वविषयों में तर्करहित, निश्चयात्मक ज्ञान रहता है, जो त्रिकालदर्शी है, जिनकी स्मरणशक्ति कदापि नष्ट नहीं होती हो, जो रागद्वेष के वश में नहीं होते और जो पक्षपातशून्य हैं, वे ही आप्त हैं"[१]

आप्त के उपदेश की प्रामाणिकता के प्रति किसी को सन्देह नहीं होता।[२] पृथक्-पृथक् प्रसिद्धियों के सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् आप्तता देखी जाती है। पाणिनि और वररुचि आदि की आप्तता व्याकरण में प्रसिद्ध है किन्तु अक्षपादादि की नहीं। इस प्रकार ज्ञान की भिन्न-भिन्न शाखाओं में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की आप्तता प्रसिद्ध है। यही चरणाप्तवाद या शास्त्राप्तवाद है। पुरुषाप्तवाद की व्याख्यागत उपलब्धियों को जब लोक में पूर्ण समादर प्राप्त हो जाता है तब पुरुषाप्तवाद ही लोकाप्तवाद के रूप में परिणत हो जाता है। 'आगम' शब्द के मूल में 'परम्परा-ख्याति' की प्रधानता है। इन सबका आदिस्रोत प्रतिभा अथवा पराशक्ति का विमर्श है।[३] इन वाक्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि निगम का व्यवहार पक्ष ही आगम है।

पूर्व विवरण से यह स्पष्ट है कि आगम शास्त्र तथा प्रमाण दोनों हैं। शास्त्र का अभिप्राय ज्ञान की उस समग्रता से है, जिसके द्वारा अनुशासन के साथ ही साथ व्यवहार तथा अभ्यास की सीमा भी निर्धारित की गयी हो। यदि आगम के इतिहास पर एक विहङ्गम दृष्टिपात किया जाय तो यह स्पष्ट होगा कि प्रारम्भिक काल में वेदविहित कार्यों के अतिरिक्त योगक्षेम के लिए वेदबाह्य प्रक्रियाएँ भी प्रचलित थीं, जिसमें वैदिक मन्त्रों के आधार पर नये मन्त्रों की भी रचना की गयी थी, जो स्वर आदि के नियमों से रहित थे।[४] अतः विद्वानों ने आगम के दो प्रधान भेद किये-(१) वैदिक (२) अवैदिक। निगम सम्प्रदाय-निष्ठ उपासना आदि पद्धति को वैदिक माना गया तथा अनादिकाल से ही बौद्ध तथा जैन आदि निगमविरुद्ध प्रस्थान मानने वालों की परम्परा को अवैदिक। अस्तु, उनकी पूजापद्धति को भी अवैदिक ही कहते हैं। तन्त्रवार्तिक में आगमों की एक लम्बी

---

१. चरकसंहिता, विमानस्थान ४/४

२. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, भाग-२, वि० ३, पृ० १०२.

३. "प्रतिभानलक्षणा इयं शब्दभावनाख्यआगम एवेति" ई०प्र०वि०वि०, पृ० ९३

४.क. वेदादृतेऽपि कुर्वन्ति कल्पैः कर्माणि याज्ञिकाः। न तु कल्पैर्विना केचिद् मन्त्रब्राह्मणमात्रकात्।। मीमांसादर्शनम् तन्त्रवार्त्तिक १/३/६/५२७, कुमारिलभट्ट, भाग १, तारा प्रिंण्टिग वर्क्स, वाराणसी, १९८४, पृष्ठ ४५७.

ख. स एवं श्रुतिमन्त्रः याद्वेदस्वरविवर्जितः। तान्त्रिकं मन्त्रमित्युक्तं तदेवं श्रुतिचोदितम्।। पराशरसंहिता-१२.

एवं विशद सूची के साथ ही साथ उनके कार्यकलापों का विवरण प्राप्त होता है।[१] वाचस्पति मिश्र ने सांख्यतत्त्व- कौमुदी में शाक्यादि तन्त्रों को तन्त्राभास स्वीकार किया है।[२] वीरमित्रोदय आदि प्रबन्धों में अधिकारि-भेद के आधार पर सभी आगमों को प्रमाण माना गया है।[३] पराशरमाधवीय में वैदिक भक्तिमार्गीय आगमों की संख्या छः बतायी गयी है–शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर, वैनायक, स्कान्द।[४] लक्ष्मीतन्त्र की भूमिका में आगमों के दो भेद स्वीकार किये गये हैं– वैदिक एवं अवैदिक। वैदिक में निगम, इतिहास, पुराण एवं आगम। आगम के तीन भेद– शैव, शाक्त एवं वैष्णव किये गये हैं। पुनः शैव के चार, शाक्त के दो एवं वैष्णव के भी दो भेद किये गए हैं। अवैदिक में बौद्ध आदि आते हैं।[५]

'तन्त्र' का तात्पर्य-

'तन्त्र' शब्द विस्तार का बोधक है। अजितागम में तत्त्व तथा मन्त्र का विस्तार बतानेवाले ज्ञान को तन्त्र माना गया है।[६] विष्णुसंहिता में तन्त्र की विशेषता बताते हुए कहा गया है-

'सर्वेऽर्था येन तन्यन्ते त्रायन्ते च भयाज्जनाः।
इति तन्त्रस्य तन्त्रत्वं तन्त्रज्ञाः परिचक्षते।।'[७]

वास्तव में तन्त्र का शाब्दिक अर्थ शक्तिस्वातन्त्र्य और चेतना का विकास है।

अगेहानन्द भारती आदि विद्वानों के अनुसार पारिभाषिक शब्दावली का अभाव या यों कहिये कि इस प्रकार के शब्दों का परिज्ञान न होना जो तन्त्र के

---

१. सांख्ययोगपाञ्चरात्रपाशुपतशाक्यग्रन्थपरिगृहीतधर्माधर्मनिबन्धनानि विषचिकित्सा-वशीकरणोच्चाटनोन्मादनादिसमर्थ-कतिपय-मन्त्रौषधिकादाचित्कसिद्धिनिदर्शनबलेन-अहिंसा-सत्यवचनदमदयादि-श्रुतिस्मृतिसंवादिस्तोकाथगन्धवासित-जीविका-प्रायार्थान्तरोपदेशीनि, यानि च बाह्यन्तराणि म्लेच्छाचारमिश्रकभोजनाचरणनिबन्धनानि, तेषामेवैतत्श्रुतिविरोध-हेतुदर्शनाभ्यामनपेक्षणीयत्वं प्रतिपाद्यते-मीमांसादर्शनम् तन्त्रवार्तिक, तत्रैव, पृष्ठ ३२८.

२. शाक्यभिक्षुनिर्ग्रन्थसंसारमोचकादीनामागमाभासाः परिहृता भवन्ति।-सांख्यतत्त्वकौमुदी, श्लोक ५ की व्याख्या।

३. दर्शनोदयः, लक्ष्मीनिवासपुरम्, मैसूर १९३३, पृष्ठ ४५५

४. शैवं च वैष्णवं शाक्तं सौरं वैनायकं तथा। स्कान्दं च भक्तिमार्गस्य दर्शनानि षडेव हि।। -पराशरमाधवीये ६८ पृ०

५. लक्ष्मीतन्त्र, उपोद्घात, पृ० १

६. "तनोति विपुलानर्थांस्तत्त्वमन्त्रसमन्वितान्।
त्राणं च कुरुते पुंसां तेन तन्त्रमिति स्मृतः।। अजितागम, वा. १.

७. विष्णुसंहिता, पटल ७.

वास्तविक अर्थ को अभिव्यक्त कर सके[१], तान्त्रिक विश्वास और आगम की आलोचना-भ्रान्ति का मुख्य कारण है। तन्त्र शब्द "तनु विस्तारे" धातु से निष्पन्न है जिसका अर्थ होता है कि मूल वस्तु का अत्यधिक विस्तार करना। वाचस्पति मिश्र, आनन्दगिरि, गोविन्दानन्द ने इस शब्द की निष्पत्ति 'ततृ' धातु से मानी है, जिसका अर्थ है व्युत्पादन अर्थात् ज्ञान का मूल स्रोत।[२] यहाँ तक कि ईशानशिव ने अपने 'ईशानशिव-गुरुदेवपद्धति' में भी तन्त्र की निष्पत्ति ततृ धातु से ही मानी है।[३] अजितागम में तत्त्व तथा मन्त्र का विस्तार बतानेवाले ज्ञान को तन्त्र माना गया है।[४] विष्णुसंहिता में तन्त्र का अर्थ भय से रक्षा करना है।[५] तन्त्र का उद्देश्य साधक की सर्वदा रक्षा करना है, इस बात का उल्लेख नेपाल के दरबार पुस्तकालय में प्राप्त 'पिंगलमत' में किया गया है।[६] सामान्य रूप से तन्त्र शब्द का प्रयोग उन प्रत्येक दार्शनिक तथा वैज्ञानिक निबन्धों के लिए था जिसमें किसी विषय का वर्णन क्रमबद्ध तथा विस्तारपूर्वक किया गया हो। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने इस शब्द का अर्थ संक्षिप्त करना माना है जिसका अभिप्राय है मन्त्र या किसी सिद्धान्त को बीजगणितीय सूत्र की तरह से उपनिबद्ध करना, जिससे अत्यन्त विस्तृत अर्थ भी संक्षिप्त रूप से अधिगत हो जाय।[७] डॉ० एस०एन० दासगुप्त ने यह माना है कि तन्त्र साहित्य की यह विशेषता है कि उसने भारतीय संस्कृति के उन सभी परिणामों का समावेश किया है जो वैदिक काल से चले आ रहे थे और जिन्होंने अपने-अपने ढंग से विरोध परिहार किया।[८] सुश्रुत के अनुसार तन्त्र आयुर्वेद का अपर पर्याय है।[९] वास्तव में तन्त्र का शाब्दिक अर्थ शक्तिस्वातन्त्र्य और चेतना का विकास है।

---

१. The Tantric Tradition, Agehanand Bharati, P. 13.

२. श्री आशुतोष मुखर्जी सिलवरजुवली वाल्यूम्स २, भाग १, पृ० २५३, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता.

३. ईशानशिवगुरुदेवपद्धति-तन्त्रीति धातोरिह धारणार्थता भाग ३, पृष्ठ २८.

४. अजितागम, वाल्यूम १, क्रियापाद, पटल १, श्लोक ११५, पृष्ठ १०.

५.क. विष्णुसंहिता, अध्याय-२, श्लोक १०, सम्पादक प०म०टी० गणपतिशास्त्री, त्रिवेन्द्रम् १९२६.

ख. तनुते त्रायते नित्यं तन्त्रमित्थं विदुर्बुधाः-काशिकावृत्ति.

६. "तन्यते ज्ञायते नित्यं तन्त्रमित्थं विदुर्बुधाः" -पिंगलमत, (श्रे. ३.थ. नर्ज्त)"ल्दूा ग्ह ऊऍंथः

७. शक्ति एण्ड शाक्त, सर जान वुडरफ, प्रकाशित गणेश एण्ड कम्पनी, तृतीय संस्करण, मद्रास, १९२९, पृ० ५०.

८. श्री आशुतोष मुखर्जी सिलवरजुबली वाल्यूम तृतीय भाग, १, पृ० २५४.

९. इत्यष्टाङ्गमिदं तन्त्रमादितः प्रकाशितम्।। सुश्रुत।

तन्त्र शब्द का प्रयोग शास्त्र अर्थ में भी मिलता है। शङ्कराचार्य ने सांख्यदर्शन के लिए तन्त्र शब्द का प्रयोग किया है।[१] विभिन्न कोशकारों ने तन्त्र शब्द के विविध अर्थ बताये हैं–१. कुटुम्बभरणादिकृत्य, २. सिद्धान्त, ३. औषधि, ४. प्रधान, ५. परिच्छेद, ६. वेदशाखाभेद, ७. हेतु, ८. उभयार्थक प्रयोग, ९. इतिकर्तव्यता, १०. तन्तुवाय, ११. राष्ट्र, १२. परछन्दानुमान, १३. स्वराष्ट्रचिन्ता, १४. प्रबन्ध, १५. शपथ, १६. धन, १७. गृह, १८. वयनसाधन, १९. कुल, २०. शिवादिशास्त्रभेद।[२]

वस्तुतः भावी विश्व की रूप-रेखा जहाँ बनती है या तानी जाती है, वह सूक्ष्मकृतिसम्पन्न अभेद का रूप बनता है, वही वस्तु-तत्त्व रूप ही तन्त्र है। बाद में वही वस्तुतत्त्व जब कुछ पूर्व दशा से उन्मिषित होता है तब भेद और अभेद रूप को प्राप्त करके भावी प्रसार अथवा फैलाव का मध्यावस्थात्मक ठाठ तन्त्र कहलाता है और भेदात्मक पूर्ण प्रसार तो तन्त्र ही है। इस प्रकार तन्त्र की त्रिधा स्थिति संभव है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर तन्त्रालोक में बताया गया है कि भैरव अभेद दशा है, शिव भेदाभेद दशा और रुद्र भेद दशा है। पीछे कहा गया कि त्रिक ही तन्त्र का सार है।[३] यही बात वेद के लिए भी प्रसिद्ध है। ऋक्, यजुः और साम यह त्रयी वेद का सार है। ऋक् अभेदावस्था है, यजुः भेदाभेद अवस्था है और साम भेदावस्था। सूर्य के रूप में त्रयी तप रही है। सूर्य के अन्तराल में अधिष्ठाता रूप से विद्यमान पुरुष यजुः, मण्डल ऋक् है और साम है सूर्य की त्रिभुवनव्यापिनी रश्मिमाला।[४]

तन्त्र या आगम को कभी शिव-शक्ति के संवाद के रूप में माना जाता है और कभी-कभी साक्षात्कार के रूप में देखा गया है। रुद्रयामलतन्त्र में यह उल्लिखित है कि देवी ने स्वयं ही इस शास्त्र का प्रणयन किया है अतः इस शास्त्र को आगम न कहकर निगम कहा जाता है।

---

१. 'स्मृतिश्च तन्त्राख्या परमर्षिप्रणीता', ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य २/११.

२. वाचस्पत्यम्-पृ० ३२२३.

३. जज्ञे तत्रैव रुद्रशिवभैरवाख्यामिदं त्रिधा। वस्तुतो हि त्रिधैवेयं ज्ञानसत्ता विजृम्भते। भेदेन भेदाभेदेन तथैवाभेदभागिना।।-तन्त्रालोकटीका, प्र०आ०, पृ० ४५.

४. सा वा एषा वाक् त्रेधा विहिता ऋचो, यजूंषि, सामानि। सा या वागसौ स आदित्यः। मण्डलमेवर्चः, अर्चिः सामानि, पुरुषो यजूंषि।-शतपथब्राह्मण १०.

भास्करराय के अनुसार तन्त्र की एक परम्परा है। इस पवित्र शास्त्र का सर्वप्रथम उपदेश पूर्णब्रह्म ने स्वच्छन्द को किया जो भैरव तथा उसके पश्चात् क्रमशः अनाश्रित ईश्वर, देवी, सदाशिव, ईश्वर, विघ्नेश्वर तथा श्रीदण्ड से होते हुए यह शास्त्र पृथ्वी पर अवतरित हुआ।[1] शारदातिलक के टीकाकार राघवभट्ट ने भी तन्त्रों को स्मृतिशास्त्र मानकर उन्हें वेद के तृतीयकाण्ड-उपासनाकाण्ड के अन्तर्गत स्वीकार किया है। श्रीकण्ठाचार्य ने ब्रह्मसूत्र पर शैवभाष्य लिखते हुए तन्त्रों को वेदवत् प्रमाण स्वीकार किया है क्योंकि तन्त्र और वेद दोनों के निर्माता शिव हैं अतः दोनों समान रूप से प्रामाणिक हैं। दोनों में अन्तर मात्र इतना ही है कि वेद त्रैवर्णिकों के लिए है किन्तु, तन्त्र में सभी वर्णों का प्रवेश मान्य है।[2] इससे यह नहीं समझना चाहिए कि तन्त्र में अधिकारी का विचार नहीं है। यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि तन्त्र में भी अधिकारी का बड़ी गम्भीरता से विचार किया जाता है। बिना योग्यता के साधक इसमें प्रविष्ट नहीं हो सकता और यह काम सद्गुरु द्वारा दीक्षा से ही सम्भव है। जैसे वैज्ञानिक यन्त्र सामने रहने पर भी जब तक उसका ज्ञाता प्रयोग करने की शिक्षा नहीं देता, तब तक उसका प्रयोग अत्यन्त हानिकारक होता है, वैसे ही तन्त्र की भी स्थिति है। योग्य गुरु से दीक्षा लिए बिना साधक अपने साध्य को कथमपि प्राप्त नहीं कर सकता।

जयद्रथ यामल के मङ्गलाष्टक में तन्त्रप्रणेता अनेक ऋषियों के नाम हैं, जैसे–विष्णु, कश्यप, सनक, गौतम, विश्वामित्र आदि। वैदिक कर्मकाण्ड को कुछ लोगों ने तान्त्रिक अथवा आगमिक साधना की तैयारी माना है। कौल लोगों ने वेदाचार को सातवाँ आचार माना है जो कुलाचार की आधारशिला है।[3] तान्त्रिक धर्म को वेद का सार अथवा सर्वश्रेष्ठ तत्त्व माना गया है जिसे भगवान् शिव ने वेदरूपी समुद्र का विवेकात्मक ज्ञान से मन्थन करके प्रादुर्भाव किया है। शुक्रनीतिसार के अनुसार तन्त्र अथर्ववेद का उपवेद है।[4] उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि तन्त्रों और वेदों के विचारों में साम्य है। यद्यपि वेद एक है किन्तु विभक्त होकर त्रयी और 'अनन्ता वै वेदाः' हो जाता है। यह

१. योगिनीहृदयतन्त्रम् १/१-३. टीका भास्करराय.
२. ब्रह्मसूत्र श्रीकण्ठभाष्य-२/२/२८.
३. History of Dharmasastra – P.V. Kane, Vol. 2 p. 1051.
४. "अथर्वणं चोपवेदस्तन्त्ररूपः स एव हि" शुक्रनीतिसार, ४.३.३९.

वेद का ही वाक्य है। तन्त्र भी यही कहता है "आगमो ज्ञानमित्युक्तमनन्ताः शास्त्रकोटयः"[१]।

अवश्य ही तन्त्र की अपनी एक अलग मौलिक दृष्टि है जो वेद से इतर प्रतीत होती है। उसका कारण तान्त्रिक साधना का अपना वैशिष्ट्य है। कुछ भी हो, ये दोनों मिलकर भारतीय संस्कृति के अभिन्न अङ्ग हो गये हैं। तान्त्रिक और वैदिक आदि सांस्कृतिक धारायें भारतीय संस्कृति को विशालतम बनाती हुई उसे पूर्णता देती है। तान्त्रिक साधना का मूल उद्देश्य प्रागैतिहासिक काल में शत्रुविनाश के लिए किया गया प्रयोग था। वैदिक यागों में 'श्येन' या अभिचारादि याग की प्रक्रियायें इसी उद्देश्य से प्रवर्तित होती थीं किन्तु, कालान्तर में इनका निषेध कर दिया गया।

सूफी सम्प्रदाय में तान्त्रिक प्रक्रिया को 'तसव्वुफ' कहते थे। आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी ने अपनी पुस्तक में सूफी मत की जिस सामान्य प्रक्रिया का उल्लेख किया है वह भारतीय तान्त्रिक एवं यौगिक पद्धति से अद्भुत साम्य रखती है।[२] मतङ्गपारमेश्वर तन्त्र में तन्त्रशास्त्र के चार पादों का उल्लेख है जिनका नाम क्रमशः विद्या, क्रिया, योग और चर्या दिया है। टीकाकार रामकण्ठ ने प्रथम दो के स्थान पर उपास्या तथा सिद्धि–नामोल्लेख किया है।[३] तन्त्र को पूर्ण स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए विद्वान् साधकों ने इसका सम्बन्ध वेद से जोड़ा है। नेपाल के दरबार-पुस्तकालय में 'प्रायश्चित्तसमुच्चय' नामक एक हस्तलिखित प्रति है जिसे 'वाथुलमहातन्त्र' का अंश माना जाता है। इसके रचयिता ईश्वरशिव के शिष्य हृदयशिव हैं। ग्रन्थ में तान्त्रिक अथवा आगमिक संस्कारों का उल्लेख है जिनकी तुलना वैदिक संस्कारों से की जा सकती है।[४] एक दूसरा ग्रन्थ जयाख्यसंहिता भी उपलब्ध है जिसके रचयिता का नाम चक्रदत्त है। इस ग्रन्थ में भी श्राद्ध आदि का विधिवत् उल्लेख है।[५]

---

१. स्वच्छन्दतन्त्र, पटल ४/३४०.

२. तन्त्र और तसव्वुफ-प्रो० राममूर्ति त्रिपाठी, राका प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र०सं० १९८९, पृष्ठ ३७-३८.

३. दि तन्त्राज स्टडीज आन देयर रिलीजन एण्ड लिटरेचर, डॉ० चिन्ताहरण चक्रवर्ती पृष्ठ ३.

४. तत्रैव, पृष्ठ ५.

५. तत्रैव, पृष्ठ ५.

शक्तिसंचय की प्रक्रिया में तन्त्र का मूल ढूंढने वाले विद्वानों में डॉ० फेजर का नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने एक उद्धरण में इस बात का उल्लेख किया है कि सेमेटिक लोगों में यह प्रथा प्रचलित थी कि मोमबत्ती या प्लास्टिक में शत्रु का आकार बनाकर उसमें नाखून अथवा पिन चुभाकर कष्ट देने का कार्य किया जाता था।[१] डॉ०जे०जे०मोदी ने भी इस तथ्य का उल्लेख किया है कि ईरान में प्राचीन काल में आपत्तियों के निवारणहेतु नाखून तथा बाल कब्र में डाले जाते थे। जरथूस्तेनामेह में उल्लेख है कि जूरोस्टर जादूगर था। यूनान तथा रोम में भी इस प्रकार की प्रथायें प्रचलित थीं।[२]

तन्त्र के विकास का दूसरा मूल स्रोत लोग लिङ्गपूजा को मानते हैं। ब्राउन की यह मान्यता है कि आदिवासी लोगों में लिङ्गपूजा का महत्त्वपूर्ण प्रचलन था।[३] ई०एच०हार्ट लैण्ड ने भी अपने शोधपूर्ण कार्य में यह मान्यता दी कि धर्म के इतिहास में लिङ्गपूजा का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है।[४] डॉ० वाल का तो यहाँ तक कहना है कि मिस्र, यूनान, रोम तथा आधुनिक ब्राह्मणों की शिवपूजा एवं ईसाइयों की रहस्य-पूजा का मूल भी लिङ्गपूजा पर आधारित है।[५] कुछ विद्वानों का मानना है कि आर्यों में लिङ्गपूजा का प्रचलन अनार्यों से हुआ है।[६] सामशास्त्री के अनुसार तान्त्रिक पूजा का प्रादुर्भाव ईसा से एक हजार वर्ष पूर्व हुआ था। इनका कहना है कि ईसा के पूर्व की छठी शताब्दियों में जो सिक्के प्राप्त हुए हैं उनसे तान्त्रिक पूजा के संकेत मिलते हैं।[७]

वेद से तन्त्र का विकास मानने वाले लोगों का निम्नलिखित तर्क है–

१. तैत्तिरीय आरण्यक तथा ऋग्वेद के मन्त्रों में फट्, खट्, आदि शब्दों का मिलना इस बात का संकेत देता है कि तान्त्रिक पद्धति प्रचलित थी।[८] ओंकारोपासना को भी ह्रींकारोपासना मानकर उपनिषदों में भी तन्त्र का बीज माना गया है।[९]

---

१. दि तन्त्राज स्टडीज आन देयर रिलीजन एण्ड लिटरेचर, पृष्ठ ८.
२. तत्रैव, पृष्ठ ८.
३. तत्रैव, पृष्ठ ८.
४. इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स, वाल्यूम, ९ पृ० ८१५-३१.
५. दि तन्त्राज स्टडीज आन देयर रिलीजन एण्ड लिटरेचर, पृष्ठ ९.
६. दि तन्त्राज स्टडीज आन देयर रिलीजन एण्ड लिटरेचर, पृष्ठ १०.
७. इन्डियन ऐंटिक्वेरी-१९०६, पृ० २७७ एफ.
८. तैत्तिरीय अरण्यक ४, २७, वाजसनेयीसंहिता, ७, ३.
९. छान्दोग्य उपनिषद, २, १३, १-२.

२. वामदेव्य उपासना जिसका उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में है तथा इस प्रकार का जो वक्तव्य ऐतरेय आरण्यक में है उससे माना जाता है कि मैथुनी साधना का प्रचार वैदिक काल में था।[१]

३. सौत्रामणी तथा वाजपेय यज्ञ में इन्द्र, अश्विनीकुमार तथा सरस्वती को सोमरस पिलाया जाता था। यह मादक होता था। एग्लिंग ने यह उल्लेख किया है कि अतिरात्र अश्वमेध में लोग रात भर शराब पीते तथा आनन्द मनाते थे। अनेक यज्ञों में तथा प्रधानतया अश्वमेध यज्ञ में विभिन्न प्रकार के पशुओं की बलि दी जाती थी।

४. 'शिश्नदेवाः' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में मिलता है। असुरों को शिश्नदेव कहा गया है। इस आधार पर लोगों का यह मानना है कि लिङ्गपूजा ऋग्वैदिक काल में भी प्रचलित थी।[२]

५. वैदिक षट्कर्म तथा संग्रहणी नामक यागों को भी तन्त्र का मूल माना गया हैं।[३] अथर्ववेद में भी कौशिकसूत्र के आधार पर अभिचार, स्त्रीकर्म, साम्मनस्य तथा पौष्टिक आदि क्रियाओं को तान्त्रिक क्रियाओं के रूप में मान्यता प्रदान की गयी है।[४]

डा० सदाशिव अम्बादास डांगे महोदय ने भी अपने विद्वत्तापूर्ण लेख में वैदिक एवं तान्त्रिक तत्त्वों के सम्बन्ध का उल्लेख करते हुए प्रायः वेदों की महानग्नी परम्परा एवं पञ्चमकार की साधना को तन्त्र की उत्पत्ति का मूल माना है।[५]

'लोकायत' के रचयिता डॉ० चट्टोपाध्याय ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि मातृपूजा तथा मिथुनाचार का प्रादुर्भाव प्रारम्भिक कृषि सम्बन्धी अर्थोपार्जन प्रक्रिया से है जो वेद की पशुपालन-व्यवस्था के विपरीत है। इसी सर्जनात्मक क्रिया के प्रतीकभूत तत्त्वों का इसमें समावेश किया गया है।[६]

---

१. शतपथ ब्राह्मण ५, ४, ५ एफ
२. शतपथ ब्राह्मण ५, १, २, १०, १९.
३. ऋग्वेद, ७, २१, ३,५.
४. अथर्ववेद ३, २, ५ कौशिकसूत्र ३५, २८.
५. डॉ० सदाशिव अम्बादास डांगे-सन्मार्ग का वेद विशेषांक, १९७९.
५. लोकायत, डी०पी० चट्टोपाध्याय, नयी दिल्ली १९५९, पृ० २३२.

जिस प्रकार सिद्धान्त एवं व्यवहार को काल की दृष्टि से अलग नहीं माना जा सकता उसी प्रकार साधना के सिद्धान्त तथा व्यवहार को भी अलग मानना समीचीन नहीं है। सृष्टि के प्रारम्भ में ही मनुष्य ने जब अपने चिन्तन को कार्यरूप में परिणत किया होगा और दूसरों को कार्य करने की प्रक्रिया बतायी होगी तभी से तन्त्र की उत्पत्ति मानना युक्तिसङ्गत है। शाङ्खायनश्रौतसूत्र में बहुतों के उपकारक उपदेश को ही तन्त्र माना गया है।[१]

भारतीय लिङ्गपूजा को पाश्चात्य दृष्टि से देखना युक्तिसंगत नहीं है। किसी को देवता मानने का अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि उसकी पूजा ही की जाती हो। जैसे–अतिथिदेव, पितृदेव इत्यादि। सायणाचार्य ने शिश्नदेव की व्याख्या में इसको स्पष्ट किया है कि असुर लोग अत्यधिक कामसेवक थे। इसका यह कदापि अर्थ नहीं है कि ऋग्वेद काल में लिङ्गपूजा प्रचलित थी। लिङ्ग शब्द का अर्थ वहाँ प्रतीक या चिह्न है। अखिल ब्रह्माण्ड को अण्डाकार मान कर उसी के प्रतीकभूत शिवपूजा को भारतीय परम्परा में लिङ्गपूजा माना गया है।

कतिपय विद्वान् वैदिक घटनाओं को आर्थिक अथवा कृषि-सम्बन्धी क्रियाओं से जोड़ने का प्रयत्न करते हैं। यह विचारणीय है कि वैदिक काल मानव सभ्यता के चरम विकास का काल है। यह अवश्य है कि वेदों में सभी बातों का विस्तृत उल्लेख नहीं है। ऋग्वेद में उल्लिखित 'सिरीस्तन्त्रम्' का अभिप्राय यह है कि वैदिक काल के लोगों ने कृषि का विस्तार किया।[२] इसी प्रकार अथर्ववेद में उल्लिखित 'तन्त्र' का करघा आदि अर्थ इस बात का द्योतक है कि घरों में कपड़ा आदि का निर्माण होता था।[३] अतः इस आधार पर यह मानना कि मातृपूजा तथा लिङ्गपूजा का प्रादुर्भाव कृषिसम्बन्धी आर्थिक व्यवस्था का परिणाम है, समीचीन नहीं लगता क्योंकि वैदिक काल में केवल पशुपालन का ही सर्वप्राधान्य रहा और बाद में कृषिकार्य प्रारम्भ हुआ, ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह अपनी प्रसन्नता तथा अभिलाषाओं की अभिव्यक्ति विभिन्न माध्यमों से करता है क्योंकि वह चेतन है, जड नहीं। अतः मैथुन आदि जीवमात्र की स्वाभाविक अन्तःप्रवृत्ति है न कि कृषि आदि से उत्पन्न कोई आर्थिक व्यवस्था की उपज। आगमशास्त्र का उद्‌घोष है कि मोक्ष कोई अन्य वस्तु नहीं

---

१. "यत् सत्कृतं बहूनामुपकरोति तत् तन्त्रमित्युच्यते" शांखायनश्रौतसूत्र-१, १६, १.

२. सिरीः सारिणो भूत्वा तन्त्रं कृषिलक्षणं तन्वते विस्तारयन्ति कुर्वन्ति। –ऋग्वेद १०,७१,९.

३. तन्त्रमेके युवती। अथर्ववेद, १०, ७, ४२, २क पाणिनि- ५, २, ७.

है, वह भोग से ही सुलभ है और इनका अनुवर्तन करने से एक ही जन्म में मुक्ति हो जाती है।[१]

'आगम' और 'तन्त्र' के सम्बन्ध पर विचार करना भी आवश्यक है। 'आगम' एक व्यापक शब्द है। इसके अन्तर्गत 'तन्त्र' भी आते है। 'हिन्दू तान्त्रिज्म' डॉ० संयुक्तागुप्ता तथा डर्क जेन, ह्वेन्स ट्यून, गोड्रिअन के ग्रन्थ में 'तन्त्र' के कुछ व्यापक स्वरूपों का प्रतिपादन किया गया है–

१. तन्त्र के सिद्धान्त ने वैदिक साधना के साथ ही वैयक्तिक मुक्ति के लिए एक समानान्तर मार्ग प्रशस्त किया क्योंकि वैदिक साधना को प्राचीन माना जाता था।

२. तान्त्रिक पद्धति आध्यात्मिक अभ्युत्थान के साथ ही साथ सांसारिक सुखों को भी अपना उद्देश्य बनाती है। अतः साधना की उपलब्धि का अभिप्राय ऐहिक तथा आमुष्मिक दोनों ही प्रकार का सुख है। इसमें देवत्वप्राप्ति भी एक उद्देश्य माना जाता है।[२]

डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची ने 'तन्त्रों' के दो मोटे भाग बताये हैं– शास्त्रानुवर्ती (आर्थोडाक्स) और शास्त्राननुवर्ती (हिटरोडाक्स)। प्रथम में आगम, यामल, डामर, इनसे सम्बद्ध साहित्य हैं और द्वितीय में कुलाचार, वामाचार, सहजयान और वज्रयान तन्त्रों को माना है।[३] डॉ०जेम्स एच. कजिन्स का कहना है कि तन्त्र एक प्रायोगिक तथा प्रदर्शनशील मनोविज्ञान पर आधारित है, इसे वैयक्तिक भक्ति ने विशदीकृत किया तथा दैनिक जीवन में इसका प्रयोग कर इसे प्रयोगशील बनाया। तन्त्रशास्त्र मानवता की आवश्यकताओं के विकास पर एक महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालता है जिसकी पूर्ति विभिन्न प्रकार के तान्त्रिक संस्कारों के द्वारा होती है।[४]

---

१. "परमार्थसार पर योगराज" की टीका, पृष्ठ १९५.

२. हिन्दू तान्त्रिज्म, संयुक्तागुप्ता एण्ड डर्कजेन, ह्वेन्सट्यून, गोड्रियन, ३० जे० बर्लिन, १९७६, पृ० ६-७.

३. स्टडीज इन दि तन्त्राज़, प्रबोधचन्द्र बागची, ४५-५५.

४. "The Tantrasastra being based on an experimental and demonstrable psychology and vivified by the breath of personal devotion and made practical by the application in daily life, is bound to exert an ever increasing influence on humanity as it rises towards the needs which the shastra supplies, including a ritual."– Shakti and Shakta, by Sri John Woodroffe, Pub. Ganesh & Co., Third Edn., 1929, P. 669.

तन्त्रशास्त्र की महत्ता को उद्घोषित करते हुए आपस्तम्ब श्रौतसूत्र के भाष्य में कहा गया है- "अङ्गसमुदायस्तन्त्रम्" (१/१५/१) अर्थात् सभी शास्त्रों के विविध अङ्गों को एकत्र कर जोड़ने वाला अनुपमशास्त्र है तन्त्र अथवा आगम। इसलिए पाञ्चरात्रागम में स्पष्ट रूप से कहा गया है-

"वैदिकं ब्राह्मणानां तु राज्ञां वैदिकतान्त्रिकम्।
तान्त्रिकं वैश्यशूद्राणां सर्वेषां तान्त्रिकं तु वा।।"[1]

अर्थात् वैदिक प्रक्रियायें ब्राह्मणों के लिए, वैदिक-तन्त्र क्षत्रियों के लिए, तान्त्रिक प्रक्रियायें वैश्य तथा शूद्रों के लिए पृथक्-पृथक् होते हुए भी "सर्वेषां तान्त्रिकं तु वा" कहकर यह प्रतिपादित किया है कि कोई भी शास्त्र या आचरण बिना आगमिक प्रक्रिया के सर्वाङ्गपूर्ण नहीं हो सकता। अत एव जो लोग तन्त्र की अवहेलना का उपदेश देते हैं या उनकी वर्तमान प्रासंगिकता पर अङ्गुली उठाते हैं उनका आधार बेबुनियाद है तथा अमान्य होने योग्य है; क्योंकि धर्म-अधर्म दोनों का साङ्गोपाङ्ग विवरण देने वाला शास्त्र आगम ही है-

आसमन्ताद् गमयति धर्माधर्मौ परं पदम्।
आगमस्तेन कथितः इति वेदविदो विदुः।।[2]

वेदों में "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति", "स्वर्गकामो यजेत", "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" आदि वाक्य मन्त्रद्रष्टा ऋषियों द्वारा प्रणीत हैं। इन वाक्यों पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति" से लेकर "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" तक कोई भी व्यक्ति इसका अनुभव कैसे प्राप्त करे? यह जिज्ञासा हो जाती है। उस जिज्ञासा को अधिक स्पष्ट रूप से "स्वर्गकामो यजेत" का "यजेत" शब्द समाधान देता है। भावनाद्वय से समन्वित इस शब्द के लिए द्रव्य, देवता, मन्त्र तथा विधि की अपेक्षा होती है। ये विधियाँ भी किसी-न-किसी साधक ऋषि के प्रयोग विज्ञान से सिद्ध है। जैसे कोई वैज्ञानिक H_2O से पानी को समझाता है अथवा जैसे कोई विधायिका अपने द्वारा बनाये गये कानून को लागू कराने के लिए नियम, उपनियम बनाती है उसी भाँति साधक ऋषि ने स्वानुभूत स्वर्ग कामना की सत्याभिव्यक्ति के लिए द्रव्य, देवता और मन्त्र का अनुभव प्रतिपादित किया है। इस प्रकार जिस तरह मन्त्रद्रष्टा ऋषि ने ब्रह्माण्ड में व्याप्त नित्य मन्त्र का साक्षात्कार किया उसी भाँति उसके प्रयोग का अभ्यास किया तथा

१.क. सनत्कुमारसंहिता, ब्रह्मरात्र, ४/६९.
ख. विष्वक्सेनसंहिता, ३९/३१६.
२. आगमसुषमा, पृ. ८, प्रकाशित- राष्ट्रिसंस्कृतसंस्थान, तिरुपति, २००५ ई.

उसका प्रयोगात्मक स्वरूप भी स्थिर किया। मूलतः यही आगम है। एक ओर दिव्यानुभूति है तो दूसरी ओर अनुभव का योगदान। अन्तर केवल इतना ही है कि आगम दृष्ट ज्ञान का क्रियात्मकस्वरूप किसी व्यक्ति द्वारा उपस्थापित किया गया शब्द है जबकि निगम क्रियात्मक स्वरूप रहित दृष्ट ज्ञान की अभिव्यक्तिमात्र है। इस प्रकार यह सिद्ध है कि निगम और आगम एक ही रथ के दो पहिए हैं जो समानान्तर गति से चलते हैं।

जहाँ तक आगमशास्त्र के प्रामाण्य का प्रश्न है उस पर यामुनाचार्य[१] से लेकर श्रीवेदान्तदेशिक[२] तक सभी प्राचीन आचार्यों ने तथा बीसवीं शताब्दी के आचार्य श्री रामेश्वर झा ने भी प्रबलतम प्रमाणों से इस शास्त्र की प्रामाणिकता सिद्ध की है-

अतः श्रीभारते वर्षे सर्वदेशशिरोमणौ।
प्रामाण्यमागमस्यास्ति सर्वतो बलवत्तरम्।
शैवः शाक्तस्तथा वेदः पाञ्चरात्रादिभेदतः।
आगमो विविधो नित्यं ईश्वरेणैव दर्शितः।।[३]

विष्णुसंहिता ने तन्त्र की प्रामाणिकता आप्ततया स्वीकार करते हुए शैव, वैष्णव, ब्राह्म, सौर तथा कौमार- तन्त्र के ये पाँच भेद बताये हैं।[४]

आगमों ने जो जीवन दर्शन प्रस्तावित किया वह सर्वग्राही है और इसके आधार पर एक अत्यन्त उन्नत एवं स्वस्थ समाज की रचना की जा सकती है। लिङ्गभेद तथा जातिभेद से ऊपर उठकर आगमों ने परमार्थ के मार्ग का अनुसरण करने का अधिकार सबको दिया तथा स्त्रीशक्ति के प्रति आदरभाव की स्थापना की। सर्वग्राही एवं सर्वसुलभ होने के लिए ही आगमों ने भक्तिमार्ग को प्रधानता दी। आगम अनुष्ठानपरक हैं एवं अत्यन्त सहज क्रियाओं को अपनी साधना में अपनाते हैं। इसी कारण से आगमिक पूजा-पद्धति का विस्तार भारत से लेकर बाली, कोरिया तथा जापान तक दिखता है। आगमिक धारा देवता की पूजा स्वयं देव बनकर करने का उपदेश देती है। आगमिक पूजा का लक्ष्य भगवान् के पास

---

१. आगमप्रामाण्य, गायकवाड ओरियण्टल सीरीज, बड़ौदा, १९७६ ई.
२. पाञ्चरात्ररक्षा, आड्यार लाइब्रेरी, मद्रास, द्वि.सं., १९६७ ई.
३. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, श्लोक. २८४-२८६.
४. आप्तप्रोक्तया तन्त्रं प्रमाणमिति ये विन्दुः। वेदप्रामाण्यमप्याहुराप्तमूलतयैव ते।। तच्चैववैष्णवब्राह्मसौरकौमारभेदतः। पञ्चधा भिद्यते तन्त्रं वक्तृणां च विशेषतः।। विष्णुसंहिता, १९/२०.

पहुँचने की अपेक्षा स्वयं भगवान् को ही पूजक के पास आने के लिए विवश कर देना है। आगमों की ध्यातव्य दृष्टि है कि मानव शरीर उसके पाप का फल नहीं वरन सुकृतों का फल है। यह देह सर्वश्रेष्ठ साधन है। अतः देव-शरीर से भी अधिक स्पृहणीय है।

समस्त तान्त्रिक-सम्प्रदायों को चार भागों में विभाजित किया गया है- (१) ज्ञानपाद, (२) योगपाद, (३) क्रियापाद तथा (४) चर्यापाद।[१] ज्ञानपाद के अन्तर्गत दर्शन तथा सृष्टितत्त्व-सम्बन्धी विषयों का समावेश है। योगपाद में अष्टाङ्गयोग का विवेचन किया गया है। पातञ्जलयोग से किञ्चित् भिन्नता भी प्राप्त होती है। क्रियापाद में वास्तुदेश से लेकर प्रासाद-निर्माण-कल्पन, प्रतिमाविज्ञान (मूर्तिकला) विग्रह-प्रतिष्ठा का विशद विवेचन निर्दिष्ट है। अन्तिम चर्यापाद के भीतर विग्रहाराधन-अर्चन, दीक्षा-विधान, महोत्सव-स्वरूप तथा प्रायश्चित्तादि विषयों के निदर्शन प्राप्त होते हैं।[२]

अब तक जो कुछ कहा गया है वह तान्त्रिक-संस्कृति के बाह्य-अङ्गों की लघु-चित्र-छाया है लेकिन स्मरण रखना चाहिए कि संस्कृति का महत्त्व उसके बाह्य अवयवों के चयन तथा आडम्बरों पर अवलम्बित नहीं है। महामहोपाध्याय आचार्य पं. गोपीनाथ कविराज का उद्घोष है कि "संस्कृति के महत्त्व का परिचायक है- मानव आत्मा की महनीयता का आत्म-प्रदर्शन। जिस संस्कृति में आत्मा के स्वरूप-स्वातन्त्र्य और सामर्थ्य की अतिशयता जितनी अधिक व्यक्त हुई उस संस्कृति का गौरव उतना अधिक मानना होगा।"[३] तान्त्रिक संस्कृति इस तथ्य का सदा पोषण करती है। आचार्य वाणी है-

समः सदैवैकरसः स्वतन्त्रः स्वाच्छन्द्यलीलाललितस्वभावः।
शून्यादिदेहान्तमिवावभास्य स्वयम्प्रकाशोऽस्मि शिवोऽद्वितीयः।।२०३।।
आत्मानमीश्वरं जानन् पश्यन् ज्ञानक्रिये ततः।
आविशन्नेति चैश्वर्यं त्यजन् देहं भवेच्छिवः।।२०४।।[४]

---

१. ज्ञानचर्याक्रियायोगशुभपादचतुष्टयाम्-ईशानशिवगुरुदेवपद्धति, प्रथमभाग, भूमिका- पृ. १-२.

२. क. पाद्मसंहिता, ख. जयाख्यसंहिता, ग. विमानार्चनकल्प, घ. समूर्त्तार्चनाधिकरण तथा ङ शैवसिद्धान्त।

३. तान्त्रिक-संस्कृति, तन्त्रसम्मेलन, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९६५ ई., पृ. १८.

४. संवित्स्वातन्त्र्यम्, महामहोपाध्याय पं. रामेश्वर झा, जोशी निवास, बी. ३७/१८९, बैजनत्था, वाराणसी, २००३ ई.

यत् किञ्चिद् परमाद्वैतसंवित्स्वातन्त्र्यसुन्दरात्।
पराच्छिवादुक्तरूपादन्यत्तत्पाश उच्यते।।[१]

अर्थात् मैं सम, सदा एक रस हूँ, स्वतन्त्र हूँ, पवित्र स्वच्छन्दता की लीला से ललित स्वभाववाला हूँ। शून्य, प्राण, बुद्धि, मन, इन्द्रिय एवं देहपर्यन्त को आभासित कर मैं अद्वितीय शिवरूप में स्वयं प्रकाशमान हूँ। साधक स्वयं को ईश्वर जानता हुआ, स्वयं में ज्ञान और क्रिया को देखता हुआ, ऐश्वर्य से पूरित होता हुआ, देहात्मभाव का परित्याग करता हुआ शिवता की अनुभूति करता है और जो कुछ भी ऊपर कहे गए परम-अद्वैत-संवित् स्वरूप, स्वातन्त्र्य से सुन्दर, परात्पर शिव तत्त्व से भिन्न प्रतीत होता है- वह (प्रतीति) 'पाश' कहा जाता है। तन्त्र एक गौरवपूर्ण प्रायोगिक विद्या है। इसका आरम्भ होता है 'दीक्षा' से तथा समापन होता है आध्यात्मिक प्राप्ति 'कृपा' के साथ। महान् उपलब्धि है- देहान्तर्गत गुप्त विराट् जगत्। पटल, पद्धति, कवच, सहस्रनाम तथा स्तोत्र- ये साक्षात्कार के साधन हैं।[२] यह मात्र सैद्धान्तिक नहीं है अपितु इसके समस्त अवयव अनुभव की कसौटी पर कसे हुए हैं। इसका ढाँचा इस प्रकार से बना है कि इसमें जाति, वर्ग आदि का कोई विभेद नहीं है।

इस प्रकार आगम जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है, निगम का ही व्यवहार पक्ष है अतः दोनों ही समानान्तर चलते हैं। दूसरे शब्दों में दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। वैदिक कर्मकाण्ड जहाँ एक ओर साधक को तैयार करते हैं वहीं दूसरी ओर आगम क्रिया-कलाप उसमें आने वाली व्यावहारिक कठिनाइयों का निवारण करते हैं। एक ओर दिव्यानुभूति की पृष्ठभूमि है तो दूसरी ओर अनुभव का योगदान। एक ओर शब्दब्रह्म है तो दूसरी ओर मूर्तिब्रह्म। वस्तुतः निगम तथा आगम भारतीय ज्ञान की दो आँखें हैं। ये दोनों आगम और निगम साधना रूपी रथ के दो पहिए हैं जिनके सहचार बिना अभीष्टसिद्धि संभव नहीं है।

तान्त्रिक-संस्कृति एक विकास-सम्पन्न विशाल लोकजीवन को अन्तर्व्याप्त करती है। महात्मा, मन्दिर, मन्त्र, यन्त्र, व्रत-उत्सव, संगीत-नृत्य कथायें और यात्रायें, पाठ-कीर्तन अभी भी जनता में प्रचलित है। मुस्लिम समुदाय में अपना चिरन्तन धार्मिक शील सुरक्षित है। मनीषियों और महापुरुषों के जीवन और उपदेशों में आगमिक संस्कृति की जीवनदृष्टि चरितार्थ होती है। उससे जुड़ी

---

१. तन्त्रालोक, १/१४.

२. पटलं पद्धतिवर्म तथा नामसहस्रैकम्।
स्तोत्रं चैते देवस्य साक्षात्कार हेतवः।।

नैतिकता जो सहनशीलता, संयम, त्याग, दान, अहिंसा, सन्तोष, करुणा, अनासक्ति, अपरिग्रह, सत्य तथा कर्त्तव्यनिष्ठा आदि के रूप में व्याख्यात हैं। यह आगम-संस्कृति गुरु-शिष्य की शिक्षा-दीक्षा परम्परा में संरक्षित और विकसित होता है। यह किसी जाति या प्रजाति की नहीं है। यह द्रष्टा और स्रष्टा महापुरुषों के द्वारा अवतरित होती है और इसका बाहरी कलेवर प्रतीकात्मक है। इसकी अन्तःसत्ता आत्मचेतना की वृत्ति होती है। यही कारण है कि कोई भी देश या जनता इस संस्कृति को अपनाने की चेष्टा कर सकती है।

अध्ययन और साधना- ये दोनों भारतीय संस्कृति के मेरुदण्ड रहे हैं। भारत योगियों, सन्तों तथा साधकों का देश रहा है। पॉल ब्रण्टन की पुस्तक 'सर्च इन सिक्रेट इण्डिया' (Search in Secret India), जे.सी. ओमन (J.C. Oman) की पुस्तक 'The Mystics Asceties and the Saints of India' मार्क ट्वेन (Mark Twain) की पुस्तक (More Tramps abroad) 'मोर ट्रैम्प्स अब्राड' आदि में भारत के योगियों तथा सन्तों की साधना और उनके विस्मयजनक तथ्यों का वर्णन प्राप्त है। वस्तुतः तान्त्रिक प्रणाली प्रायोगिक विज्ञान है।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि भारत में एक चिरन्तन संस्कृति युग-युग से चली आ रही है जिसकी प्रेरणा महापुरुषों की साधना, वाणी और चरित्र रहे हैं। इन महापुरुषों को ही समाज में सर्वोत्तम सम्मान दिया गया है। जनता कभी यह सवाल नहीं करती कि इन महापुरुषों ने किन सिद्धान्तों का निरूपण किया है, किस देवता को प्रधानता दी है। जनता तो यह देखती है कि उनमें चरित्र की महनीयता और ज्ञान की तेजस्विता है कि नहीं, यह ज्ञान की तेजस्विता तर्कसाध्य नहीं है। महापुरुष के ज्ञान और चरित्र में सहजरूप से भेद-सहिष्णुता एवं उदारता रहती है, उसमें निष्कामता तथा असंगता के साथ अनुकम्पा और करुणा रहती है। वह दुःख सह लेता है, दुःख देता नहीं है। इसका महामन्त्र मानवमात्र को दुःख से छुड़ाना है। ज्ञानी, योगी, भक्त, कर्मयोगी और बोधिसत्व के आदर्श इसके विविध पक्ष हैं। साधना के सभी भेद सच्चे ज्ञान के आधार माने जाते हैं और इस प्रकार अनपढ़ भगत, पण्डित तथा प्राचार्य समान रूप से साधक हो सकते हैं। अन्त में विश्वकल्याणार्थ महान् तान्त्रिक आचार्य अभिनवगुप्त के अधोलिखित भरतवाक्य की कामना करता हूँ-

शुभमस्तु सर्वजगतां, परहितनिरता भवन्तु भूतगणाः।
दोषाः प्रयान्तु नाशं, सर्वत्र सुखिनो भवन्तु लोकाः।।[१]

१. त्रिक् दर्शनम्, प्रो. रामचन्द्र द्विवेदी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

आगम के भेद

तन्त्रागमीय साहित्य अत्यन्त समृद्ध एवं विशाल है।[१] संख्या में कितने तान्त्रिक सम्प्रदाय आविर्भूत हुए और पश्चात्काल में कितने विलुप्त हुए यह कहना कठिन है। उपास्य-भेद के कारण उपासना प्रक्रियाओं में भेद तथा आचारादि भेद होते हैं। साधारणतया पार्थक्य का यही कारण है। शैव, शाक्त, वैष्णव, गाणपत्य, स्कान्द तथा सौर- ये प्रधान रूप से मान्य है।[२] विष्णुसंहिता में तन्त्र के शैव, वैष्णव, ब्राह्म, सौर और कौमार भेद निर्दिष्ट हैं-

तच्छैववैष्णवब्राह्मसौरकौमारभेदतः।
पञ्चधा भिद्यते तन्त्रं वक्त्रृणां च विशेषतः।।

विष्णुसंहिता, २/२०.

इन सम्प्रदायों में भी अनेक अवान्तर भेद-प्रभेद हैं।

डॉ. बलदेव उपाध्याय ने तन्त्रों के तीन प्रमुख भेदों का प्रयोग किया है जो है- ब्राह्मण तन्त्र, बौद्ध तन्त्र तथा जैन तन्त्र। ब्राह्मण के उपास्य देवता के भिन्नता के कारण वैष्णव आगम, शैवागम तथा शाक्तागम में विभाजित है। दार्शनिक सिद्धान्तों के कारण भी आगम द्वैत प्रधान अद्वैत एवं द्वैताद्वैत तीन प्रकार के हैं।[३]

अप्पयदीक्षित ने 'शिवार्कमणिदीपिका' में शैवागम के दो भेद बताये हैं- वैदिक तथा अवैदिक। वैदिक तंत्र वेदाधिकारियों के लिए तथा अवैदिक तन्त्र अवैदिकों के लिए स्वीकृत है।[४] दोनों ही प्रामाणिक हैं।

१.(a) Prineiples of Tantra, Woodroffe, Vol. I,p. 390-398.
(b) Introduction of the Pancaratra, F.O. Schrader, p. 3-4.
(c)तन्त्र और आगमशास्त्रों का दिग्दर्शन, पं. गोपीनाथ कविराज, पृ. ५९-७२, बिहार राष्ट्राभाषा परिषद् पटना, २००३ ई.

२.क.शैवं च वैष्णवं शाक्तं सौरं वैनायकं तथा। स्कान्दं च भक्तिमार्गस्य दर्शनानि षडेव हि।।
- पराशरमाधवीये, पृ. ६८.१.

ख. गणेशं गाणेशाः शिवमिति च शैवाश्च विवधा रविं सौरा विष्णुं प्रथमपुरुषं-विष्णुभजकाः। वदन्त्येकं शाक्ता जगदुदयमूलां परशिवां न जाने किं तस्मै नम इति परं ब्रह्म सकलम्।।
- पुष्पदन्त कृत गणेशमहिम्नः स्तोत्रम्-२.

३. भारतीय दर्शन, पृ. ४४८.

४. 'शिवार्कमणिदीपिका', २/१/२८.

शक्तिसंगमतन्त्र में "शाक्तं शैवं गाणपत्यं वैष्णवं सौरबौद्धकम्"[१] तथा "शाक्तं शैवं वैष्णवं च सौरं गाणपतमेव च। बौद्धं च देवदेवेशि दर्शनानि च षट्क्रमात्।।"[२] इत्यादि वचन उपलब्ध होते हैं। पञ्चायतन पूजा में सूर्य, अम्बिका, विष्णु, गणेश तथा महेश्वर (आदित्यमम्बिकां विष्णुं गणनाथं महेश्वरम्) की सामूहिक पूजा होती है।

साधना का आरम्भ सृष्टिकाल से ही शुरु हो जाता है। गणेशसहस्रनाम में शाक्त, विनायक, सौर, जैन तथा आर्हत आगमों का उल्लेख है-

शाक्तं वैनायकं सौरं जैनमार्हतसंहिता
सदसद् व्यक्तमव्यक्तं सचेतनमचेतनम्।।[३]

सौरागम-

सूर्य निगम-आगम-संस्तुत तथा ज्ञान-विज्ञान-सम्मत देवाधिदेव परम देवता हैं। उन्हें लोकजीवन का साक्षी तथा सांसारिक प्राणियों की आँखों का प्रकाशक कहा गया है इसीलिए उनको 'लोकसाक्षी' और 'जगच्चक्षु' कहते हैं। सभ्यता के आदिम ग्रन्थ ऋग्वेद के अनुसार भगवान् सूर्य सभी स्थावर-जङ्गमात्मक विश्व की अन्तरात्मा हैं।[४] सूर्य का उद्गम विराट् पुरुष भगवान् के नेत्र से हुआ है।[५] सूर्य शब्द 'सृगतौ' या 'षू प्रेरणे' से क्यप् प्रत्यय होने पर निष्पन्न होता है। 'सरति-आकाशे-इति सूर्यः' जो अकाश में निराधार भ्रमण करता है अथवा 'सुवति कर्मणि लोकं प्रेरयति' जो (उदय होने से) सम्पूर्ण जगत् को अपने-अपने कर्म में प्रवृत्त कराता है वह सूर्य है।

भूर्लोक, भुवर्लोक तथा स्वर्लोक- ये त्रिलोक समष्टि ब्रह्माण्डस्वरूप होने के कारण भगवान् के स्थूलरूप हैं। अस्तु, जगत् सत्य है। उपर्युक्त तीनों लोकों को प्रकाशित करने के लिए अग्नि, वायु तथा सूर्य रूप से वे ही क्षिति, अन्तरिक्ष और द्युलोक में स्थित हैं। ये तीनों देवता उसी परमात्मा की विभूतियाँ हैं। उनमें से एक ही महान् (आत्मा) देवता है जो सूर्य कहलाता है। ये सभी भूतों के अन्तर्यामी हैं- "एक एव वा महानात्मा देवता स सूर्य इत्याचक्षते। स हि सर्वभूतात्मा तदुक्तं परमर्षिणा सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।"[६] ब्रह्मसूत्र के अधोलिखितसूत्र से सभी देववर्गों का

१. शक्तिसंगमतन्त्र, १/५/६.
२. तत्रैव, २/४/३.
३. गणेशसहस्रनाम, १३०.
४. सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च, ऋग्वेद, १/११५/१, यजुर्वेद, ७/४२.
५. 'चक्षोः सूर्यो अजायत', ऋग्वेद, १०/९०/१३.
६. सर्वानुक्रमपरिभाषा, १२/२.

अन्तर्यामी परमेश्वर प्रमाणित है- "अन्तर्याम्याधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात्"[१]। अन्य श्रुतियाँ भी इस कथन को पुष्ट करती हैं- 'य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते'[२], स यश्चायं पुरुषो यश्चायमादित्ये स एकः[३]- इत्यादि श्रुति-वचनों से प्रमाणित हो जाता है कि सभी देवों के अन्तर्यामी भगवान् सूर्य हैं।

सूर्योपनिषद् में सम्पूर्ण संसार की उत्पत्ति में एकमात्र कारण सूर्य को ही बतलाया गया है और उन्हीं को सम्पूर्ण संसार की आत्मा और ब्रह्म बतलाया गया है- "सूर्याद् वै खल्विमानि भूतानि जायन्ते। असावादित्यो ब्रह्म"[४]। यहाँ यह उल्लिखित है कि सम्पूर्ण संसार की सृष्टि तथा पालन सूर्य ही करते हैं। सम्पूर्ण संसार का लय भी सूर्य में ही होता है तथा जो सूर्य है वही मैं हूँ अर्थात् सम्पूर्ण संसार की अन्तरात्मा सूर्य ही है।[५] सूर्यतापिन्युपनिषद् का उद्घोष है कि सूर्य त्रिदेवात्मक तथा प्रत्यक्ष देवता है।[६] वाल्मीकि रामायण में तो भगवान् सूर्य को ब्रह्मा, विष्णु, शिव, स्कन्द, प्रजापति, महेन्द्र, कुबेर, यम, सोम, वरुणादि कहा गया है-

'एष ब्रह्मा विष्णुश्च शिवः स्कन्दः प्रजापतिः।
महेन्द्रो धनदः कालो यमः सोमो ह्यपां पतिः।।[७]

संस्कृत-साहित्य में सूर्यदेव के अनेक पर्यायवाची शब्द प्राप्त होते हैं। ये नाम देवता के विभिन्न गुणों को प्रदर्शित करते हैं। अमरकोष में सूर्य के सैंतीस नामोल्लेख निर्देशित हैं- अरुण, अर्क, अर्यमा, अहर्पति, अहस्कर, आदित्य, उष्णरश्मि, ग्रहपति, चित्रभानु, तपन, तरणि, त्विषांपति, दिवाकर, द्युमणि, द्वादशात्मा, प्रभाकर, पूषा, भानु, भास्कर, भास्वान्, मार्तण्ड, मित्र, मिहिर, रवि, ब्रध्न, विकर्तन, विभाकर, विभावसु, विरोचन, विवस्वान्, सप्ताश्व, सूर, सूर्य, सविता, सहस्रांशु, हंस और हरिदश्व।[८] शतपथ ब्राह्मण में द्वादश आदित्यों का उल्लेख हैं, जिनके नाम क्रमशः- धाता, मित्र, अर्यमा, उषा, शक्र, वरुण, त्वष्टा, विवस्वान्, सविता, अंशुमान् तथा विष्णु हैं।[९] ये ही द्वादश आदित्य संवत्सर के

---

१. ब्रह्मसूत्र, १/१/२०.
२. छान्दोग्योपनिषद्, १/६/६.
३. तैत्तिरीयोपनिषद्, ३/८.
४. कल्याण सूर्य विशेषांक, पृष्ठ-८.
५. सूर्याद् भवन्ति भूतानि सूर्येण पालितानि च। सूर्ये लयं प्राह्नुवन्ति यः सूर्यः सोऽहमेव च।। १/४.
६. एष ब्रह्मा च विष्णुश्च रुद्र एव हि- सूर्योपनिषद्भास्करः। त्रिमूर्त्यात्मा त्रिदेवात्मा सर्वदेवतयो रविः।। सूर्यतापन्यु- पनिषद् १/६.
७. वाल्मीकिरामायण, युद्धकाण्ड, १०५/८.
८. अमरकोष, १/३/२८-३१.
९. शतपथब्राह्मण, १/२/८.

बारहों महीनों के पृथक्-पृथक् अधिपति हैं। ''अदितेरपत्यः पुमान् आदित्यः'' की व्याख्या के अनुसार माँ अदिति से उत्पन्न हुए सारे देवता आदित्य कहे जाते हैं। किन्तु कालान्तर में आदित्य संज्ञा केवल सूर्य में रूढ़ हो गयी। अथर्ववेद के द्वितीय काण्ड के 'शत्रुनाशन' सूक्त में सूर्य की पाँच शक्तियों- संतप्त शक्ति, हरण शक्ति, परिज्वलन शक्ति, शोकाभिभव शक्ति तथा पराभिभूत शक्ति के नाम से उनमें अन्तर्निहित शक्तियों का स्वरूप वर्णित है।[१]

वेद सामान्य रूप से निगम के नाम से विख्यात है। निगम या वेद में सूर्य प्रमुख है। सूर्य को त्रयी-वेदत्रय का रूप ही कहा गया है।[२] आगम में वही बिन्दु, प्रकृति या शब्दब्रह्म के रूप में विख्यात है। शब्दब्रह्म के वाच्यतत्त्व सदाशिव या पञ्चमुख महेश्वर की तुलना वेद में निर्दिष्ट 'आदित्य' से हो सकती है। छान्दोग्योपनिषद् का उद्घोष है- 'आदित्य' देवमधु है, द्युलोक तिरछा बाँस है, अन्तरिक्ष मधुमक्षिकाओं का छत्ता है और किरणें बच्चे हैं। आदित्य के पूर्व, दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर दिशाओं की किरणों से क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और इतिहास पुराणात्मक पुष्प रस प्रवाहित होता है। ऊर्ध्वगत रश्मियों से गुह्य आदेशात्मक मधुकर एवं ब्रह्म (प्रणव) तत्त्वात्मक पुष्प का रस प्रवाहित होता है। आदित्य के पूर्वादि मुखों को अग्नि, इन्द्र, वरुण, सोम एवं ब्रह्मा के नाम से अभिहित किया गया है। ये अग्नि सदाशिव के सद्योजात, तत्पुरुष, वामदेव, अघोर तथा ईशान मुख हैं।[३] आदित्य या सदाशिव के ईशानात्मक ऊर्ध्वमुख से निर्गत गुह्य आदेश ही आगम है। यही निगमागमोक्त आदित्योपासना की साम्यावस्था है।

सौर-साधना के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ साम्बपञ्चाशिका में उपर्युक्त विवेचन का समर्थन अधोलिखित रूप से किया गया है-

---

१. अथर्ववेद, २/२१/१-५.
२. सैषा त्रयी एव विद्या तपति, शतपथब्राह्मण, १०/५/२/२.
३. असौ वा आदित्यो देवमधु तस्य द्यौरेव तिरश्चीनवंशोऽन्तरीक्षमपूपो मरीचयः पुत्राः। छा.उ.३/१। तस्य ये प्राञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्राच्यो मधुनाड्यः। ऋच एव मधुकृत ऋग्वेद एवं पुष्पं वा अमृता आपः ३/२। अथ येऽस्य दक्षिणा रश्मयस्ता एवास्य दक्षिणा मधुनाड्य यजूंष्येव मधुकृतो यजुर्वेद एव पुष्पम् ३/२/१। अथ येऽस्योदञ्चो रश्मयस्ता एवास्योदीच्यो मधुनाड्योऽथर्वाङ्गिरस एव मधुकृत इतिहासपुराणं पुष्पं ता अमृता आपः। तद्यत्प्रथमममृतं तद्वसव उपजीवन्त्यग्निना मुखेन। अथ यद्द्वितीयममृतं तद्रुद्रा उपजीवन्तीन्द्रेण मुखेन।
अथ यत्तृतीयममृतं तदादित्या उपजीव्यन्ति वरुणमुखेन। अथ यच्चतुर्थममृतं तन्मरुत्त उपजीवन्ति सोमेन मुखेन।
अथ यत्पञ्चमममृतं तत्साध्या उपजीवन्ति ब्रह्मणा मुखेन। छान्दोग्योपनिषद् अध्याय ३, खण्ड १-१०.

यत्रारूढं त्रिगुणवपुषि ब्रह्म तद्बिन्दुरूपं
योगीन्द्राणां यदपि परमं भाति निर्वाणमार्गः।
त्रय्याधारः प्रणव इति यन्मण्डलं चण्डरश्मे-
रन्तः सूक्ष्मं बहिरपि बृहन्मुक्तये तत्प्रपद्ये।।[१]

अर्थात् त्रिगुणवपु, सर्वज्ञ, अव्याकृत, जगत्कारणरूप जिस सूर्यमण्डल में बिन्दुरूप शब्दब्रह्म सन्निविष्ट है और जो श्रेष्ठ योगियों के हृदय में ब्रह्माकार में परिणत बुद्धि-वृत्ति के लिए तथा मध्यम योगियों को अर्चिरादि पथ से ब्रह्मलोक पर्यन्त निर्वाण मार्ग के रूप में शोभित होता है, वेदत्रयी का आधारभूत प्रणव ही जिसका सूक्ष्म मण्डल है, सम्पूर्ण जीवों के अन्तःकरण में इन्द्रियों के पकड़ से बाहर अतिसूक्ष्म रूप में वर्तमान और बाह्याकाश में स्थूल तथा व्यापक रूप में अवस्थित उस सूर्यमण्डल के अविद्या नाश के लिए मैं शरणापन्न होता हूँ।

सूर्य की उपासना भारतीय जीवन का अनिर्वाय अङ्ग है। सूर्य से सम्बन्धित वैदिक मन्त्रों के समूह को 'सौर' शब्द की संज्ञा दी गयी है। "तृचभास्कर"[२] में सूर्योपासना के प्रधान कृत्य 'तृचार्घ्यदान' पर विशद विवेचन किया गया है। तृचभास्कर में सूर्यसम्बन्धी सभी साहित्यों की गम्भीर गवेषणा है।

गाणपत्यागम-

भारतीय धर्मोपासना के इतिहास में श्रीगणेश का सर्वप्रथम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। यहाँ के जनजीवन में भगवान् गणपति की उपासना अनादि काल से चली आ रही है। निगमागम साहित्य में गणपति के विराट् और सर्वाकर्षक रूप रूपायित हुए हैं। भारत के नगरों, गाँवों तथा घरों में गणपतिमूर्तियाँ प्रतिमाएँ तथा चित्र पूजित-अर्चित होते हैं। गणपति स्वतन्त्रता के आराध्य देव हैं। लोकमान्य तिलक ने गणेशोत्सवों के माध्यम से स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए देश की जनता को 'गणपति वप्पा मोरया' के बुलन्द जयघोष से आवाहित किया था।

गणेश, गणपति, विनायक, सुमुख, एकदन्त, गणाधिप, हेरम्ब, लम्बोदर, विकट, धूम्रकेतु, गजानन,विघ्नेश, परशुपाणि, गजास्य, शूर्पकर्ण तथा मूषकध्वज आदि अनेक नाम हैं। इनको परब्रह्म मानकर की जाने वाली उपासना गाणपत्य-सम्प्रदाय के नाम से जानी जाती है।

---

१. साम्बपञ्चाशिका-७.
२. तृचभास्कर, श्रीमद्भास्कररायप्रणीत, गायकवाड ओरियेण्टल सीरीज, बड़ौदा, १९८२ ई.

बौधायनधर्मसूत्र में गणेश के विषय में विस्तृत विवरण उपलब्ध है तथा वहाँ पर इनके लिए वक्रतुण्ड, एकदन्त, हस्तिमुख, लम्बोदर, स्थूल एवं विघ्न (राज) विशेषण निर्दिष्ट है।[१]

बौधायन गृह्यसूत्र में गणेश की प्रथम अर्चना का विधान विहित है तथा इन्हें सभी कार्यों का सिद्धि-विधायक, धन-ऐश्वर्य और पशुओं को प्रदान करने वाला कहा गया है। इसी स्थल पर उनको विनायक (विशिष्ट नायक), 'भुवनपति', 'भूतानां पतिः' आदि कहा गया है तथा उनके लिए शूर, वीर, उग्र तथा भीम आदि विशेषणों से विभूषित किया गया है। वे वरद तथा उनके साथ 'पार्षदों', 'पार्षदियों' के एक विशाल गण का निर्देश है-

विनायकाय भूपतये नमो, विनायकाय स्वाहा।
विनायकाय भुवनपतये नमो, विनायकाय भूतानां पतये नमः।
हस्तिमुखाय स्वाहा, वरदाय स्वाहा।
विघ्नपार्षदेभ्यः स्वाहा, विघ्नपार्षदीभ्यः स्वाहा।[२]

सर्वजगन्नियन्ता पूर्ण परमतत्त्व ही 'गणपति-तत्त्व' है; क्योंकि 'गणानां पतिः गणपतिः।' ''गण'-शब्द-समूह का वाचक होता है- गणशब्दः समूहस्य वाचकः परिकीर्तितः।' समूहों का पालन करने वाले परमात्मा को 'गणपति' कहते हैं। देवादिकों के पति को भी 'गणपति' कहते हैं, अथवा 'महत्तत्त्वगणानां पतिः गणपतिः', अथवा निर्गुण-सगुणब्रह्मगणानां पतिः गणपतिः', अथवा ''सर्वविध गणों को सत्ता-स्फूर्ति देने वाला जो परमात्मा है, वही 'गणपति' है।'' अभिप्राय यह कि 'आकाशस्त-ल्लिङ्गात्'[३] इस न्यास से जिसमें ब्रह्मतत्त्व के गुण जगदुत्पत्ति-स्थिति-लय-लीलात्व, जगन्नियन्तृत्व, सर्वपालकत्वादि पाये जाय, वही 'ब्रह्म' होता है। जैसे आकाश का जगदुत्पत्तिस्थिति-कारणत्व- 'इमानि भूतानि आकाशादेव जायन्ते'[४] इस श्रुति से जाना जाता है; इसलिए वह भी आकाशपदवाच्य परमात्मा माना जाता है, वैसे ही 'ॐ नमस्ते गणपतये त्वमेव केवलं कर्त्तासि, त्वमेव केवलं भर्तासि, त्वमेव केवलं हर्तासि, त्वमेव सर्वं खल्विदं ब्रह्मासि' इत्यादि 'गणपत्यथर्वशीर्ष वचन द्वारा 'गणपति'-शब्द से भी ब्रह्म ही निर्दिष्ट होता है।[५]

---

१. बौधायनधर्मसूत्र, २/५/६.
२. तदेव, ३/३/१०, १४.
३. ब्रह्मसूत्र- १/१/२२.
४. नृसिंहपूर्वतापिनी- ३/३.
५. गणपत्यथर्वशीर्ष-१.

विनायकरहस्य में गणपति के अनेक स्वरूपों का वर्णन प्राप्त होता है। गाणपतसिद्धान्त का वर्णन करते हुए बताया गया है-

गणेशाद्वैतं गाणेशमितिवेदे द्विधा स्मृतम्।
सर्वसाक्षीति यः प्रोक्तो मायाचिद्योगरूपवान्।।
स एव गणराजस्स्यात् पञ्चमश्चेति कथ्यते।
मायायोगयुतश्चापि मायोपाधिविवर्जितः।।
निरूपाधिक एवायं निर्गुणात्मस्वरूपवान्।
निर्गुणं सगुणञ्चापि प्राहुरेनं तु गाणपाः।।
पञ्चमाच्च वरं किञ्चिन्नाङ्गीकुर्वन्ति निश्चितम्।
ईश्वरस्य लयोत्पत्तिमङ्गीकुर्वन्ति गाणपाः।।
चतुर्विधजगद्रूपा माया शान्तिं च पञ्चमे।
प्राप्नोति प्रलये सृष्टौ पुनर्भवति पूर्ववत्।।
भिन्नाभिन्नस्वरूपेण माया तिष्ठति पञ्चमे।
एवं ब्रुवन्ति गाणेशा वैदिका वेदमार्गतः।।
गाणेशाद्वैतमार्गस्य सिद्धान्तमपि वो ब्रुवे।
अनादौ संस्थितं ब्रह्म महिम्नि स्वस्वरूपकम्।।
स्वशक्त्या द्विविधं जातं तदेव खेलनाय च।
बिन्दुरूपा महामाया मूलप्रकृतिरीरिता।।
गुणत्रयशान्तिधरा संस्थिता निरूपाधिवत्।
सर्वकारा महामाया निराकारस्तु पुरुषः।।
आश्रित्य पुरुषं संस्था जाता सा प्रकृतिः परा।
ब्रह्मणः प्रकृतिर्जाता तथायं पुरुषोऽपि च।।
सूर्याच्च जलसूर्यस्तु तथा जातस्तथैव च।
व्योमसूर्योऽपि सञ्जातस्तद्वच्चायं बभूव च।।
प्रकृतेर्योगसंयुक्तं ब्रह्मैव सगुणं स्मृतम्।
सगुणत्वस्यागमनान्निर्गुणत्वमुपागतम्।।
निगमान्निर्गुणत्वस्य निर्गुणत्वं लयं व्रजेत्।
गुणत्वं निर्गुणत्वञ्च साक्षाद् ब्रह्मणि कल्पितम्।।
गुणनिर्गुणभावाभ्यां वर्णितन्तु महिम्निगम्।
साक्षाद् ब्रह्मेति कथितं वेदेषूपनिषत्सु च।।
जगज्जीवेश्वराद्याश्च संभूतास्सगुणात्प्रभो।
भूम्यान्तु पतितस्यैव भूमिरेवावलम्बनम्।।

मायाबन्धयुतस्यैव मायाबन्धनिवृत्तये।
मायायोगयुतं ब्रह्म सामवलम्बनं स्मृतम्।।
पञ्चमावलम्बनेन चतुर्विधजगन्मयी।
नश्येन्माया निर्गुणावलम्बनेन च पञ्चमी।।
मूलमाया विनश्येच्च ब्रह्मत्वं प्राप्नुयात्ततः।
त्रिविधं ब्रह्म प्राहुस्ते गणेशाद्वैतमार्गिणः।।
स्वानन्दं परमं तेषां सिद्धान्तो नात्र संशयः।
गणेशनाम्ना तद् ब्रह्म वदन्त्येव न चान्यथा।।
उपासने द्वयोर्भेदे नास्ति वेदप्रमाणतः।
स्वानन्दभवनं चेति स्थितिं ते पञ्चमीं वराम्।।
चिन्तामणिद्वीपमिति तुरीयं प्रवदन्त्युत।
पञ्चचित्तवृत्तिमयी महाबुद्धिरिति स्मृता।।
चित्तहर्षशोकदात्री सिद्धिरित्यभिधीयते।
सिद्धिबुद्धिमहामाये गणेशस्य पतिव्रते।।
पञ्चमत्वं गणेशस्य शुद्धाद्वैते तु सम्मतम्।
ईशत्पञ्चापि ब्रह्मत्वं गणेशस्य श्रृतौ स्मृतम्।।[1]

स्कान्दागम-

भगवान् कार्तिकेय (सुब्रह्मण्य) की उपासना प्राचीन काल से ही समग्र संसार में प्रचलित है। विशेष रूप से भारत के उत्तर में काश्मीर-मण्डल तथा दक्षिण में कुमारिका-क्षेत्र में प्रतिष्ठित तथा प्रचलित है। इनके नाम से अनेक विशिष्ट देवालय तथा तीर्थ आज भी वहाँ देखे जाते हैं। उत्तर भारत में ब्रह्मचारी कार्तिकेय के रूप में इस देवता की उपासना होती है तो दक्षिण में विशेषतया तमिल प्रदेशों में दो देवियों के पति सुब्रह्मण्य या मुरुगन के नाम से बड़ी श्रद्धा के साथ इनकी पूजा-आराधना की जाती है। कार्तिकेय, सुब्रह्मण्य, मुरुगन, षण्मुख, गुह, कुमार तथा स्कन्द आदि कई नामों से सुविख्यात इस देवता को परब्रह्म मानकर की जानेवाली उपासना-पद्धति "कौमारम्" नाम से अभिहित है।[2]

कार्तिकेय की पूजा का उल्लेख आधुनिक प्रचलित पुस्तकों में भी पाया जाता है जैसे-दुर्गासप्तशती में उनकी शक्ति 'गुहरूपिणी' 'कौमारी' शिखिवाहना का उल्लेख है। भगवद्गीता में भी श्रीकृष्ण ने 'सेनानीनामहं स्कन्दः' कहा है। इससे सुस्पष्ट होता है कि शक्ति तथा शक्तिमान् दोनों रूपों में कार्तिकेय की उपासना प्रचलित है।

---

१. विनायकरहस्ये, भाग १, ज्ञानसारः, अध्याय-६, श्लोक १००-१२२.
२. विष्णुसंहिता - २/२०.

महाभारत में स्कन्द का स्तवन पुरुषसूक्त के पदान्वयन के साथ किया गया है।[१] शिवपुत्र षडानन को समस्त सिद्धान्तागमों का ज्ञाता बताया गया है। इतना ही नहीं, काश्मीरागम के प्रसिद्ध ग्रन्थ मालिनीविजयतन्त्र के उपदेष्टा भी तारकासुर का वध करनेवाले एवं संसारसागर में निमग्न जीवों को तारकर उद्धार करनेवाले भगवान् कार्तिकेय ही हैं।[२]

श्री एफ. डब्लू क्लोथी ने अपनी पुस्तक "दी मेनी फेसेज आफ मुरुगन" में दक्षिण भारतीय देवता के इतिहास तथा अर्थ का विवेचन किया है। तमिल में 'मुरुगु' शब्द का अर्थ सौन्दर्य, ताजगी, माधुर्य, दिव्यता और आनन्द है।[३] ये सभी गुण भगवान् सुब्रह्मण्य में पाये जाने के कारण वे 'मुरूगन' नाम से प्रिय उपास्य हो गये। भगवान् मुरुगन 'शेयोन' (शिशु) भी कहलाते हैं। डॉ० क्लोथी ने सर्वप्रथम आर्य प्रभाव के पहले तमिल महाकाव्यों के आधार पर 'मुरूगन' के विकास का निर्धारण किया है। काव्य संग्रह (Cankam) 'चंकम' में 'मुरूगन' का स्थान पर्वतमालाएँ मानी गयी हैं और इनका सम्बन्ध पर्वतीयजनों से जोड़ा गया है। लेखक की मान्यता है कि इनका सम्बन्ध शिकार से था। ये एक प्रेमी तथा सुन्दर कन्याओं के हिमायती थे। ये भय तथा दु:ख को दूर करनेवाले (ananku) अनंकू माने जाते हैं। इनको सिओन (Ceyon) रक्तवर्ण का शिशु मानते हैं। इनसे सम्बन्धित पुष्प पीले तथा लालवर्ण के होते हैं। इन्हें कान्तल (Kantal), वेंकै (Venkai), कटम्पू (Katampu) तथा कमल का पुष्प अर्पित किया जाता है। हाथी तथा मोर इन्हें प्रिय हैं। इनकी पूजा में पानी, धान या नारियल का रस, लाल बाजरा, चावल, मधु, लाल, पीला तथा श्वेत पुष्प समर्पित किया जाता है। इनका स्वरूप शिकारी, योद्धा, नायक तथा प्रेमी के रूप में अंकित है।[३] उपर्युक्त काव्य में भगवान् मुरुगन द्वारा समुद्र में आम्रवृक्ष के रूप में आसुर 'सूरपद्म' तारकासुर तथा सिंहमुख के मारने का उल्लेख है।[५] इनका सम्बन्ध 'नर मुर्गे' (Ceval) से भी था- यह उल्लिखित है।[६]

स्कन्द विषयक मूल भावों का विवेचन निम्नांकित आधारों पर किया जा सकता है-

---

१. सहस्रशीर्षस्त्वमनन्तरूपः, सहस्रपात् त्वं गुह शक्तिधारी। गङ्गासुतस्त्वं स्वमतेन देव, स्वाहा महीकृत्तिकानां तथैवा।। महाभारत वनपर्व २३२/१

२. जगदर्णवमग्नानां तारकं तारतान्तकम्। कार्त्तिकेयात् समासाद्य ज्ञानामृतमिदं महत्।। मालिनीविजयतन्त्र (१.२), (२३/४३).

३. The Many Faces of Murukan, 42-43, 69.

४. Ibid, p. 26.

५. Ibid, p. 31.

६. Ibid, p. 32.

भगवान् सुब्रह्मण्य का स्वरूप गुरु, ब्रह्मचारी, देशक, तथा साहित्य-सर्जक के रूप में प्राप्त होता है। सुब्रह्मण्य ज्ञान की मूर्ति है। उन्होंने अपने पिता शिव को प्रणवमन्त्र का रहस्य समझाया जिसके कारण वे तमिल में तगप्पन स्वामी (पिता के आचार्य) कहलाते हैं। इन्हें आत्मज्ञानी ब्रह्मचारी माना जाता है जिन्होंने अपनी वासनाओं पर नियन्त्रण कर लिया है। पलनी पौराणिक कथा के अनुसार सुब्रह्मण्य पलनी अवतार हैं। ये अपने पिता द्वारा अपना फल गणपति को दे देने के कारण नाराज होकर ब्रह्मचारी हो गये।[१]

साहित्य-सर्जक के रूप में इन्होंने कवियों को प्रोत्साहित किया तथा तमिल भाषा के अधिदेवता माने गये। ऐसी मान्यता है कि मुरुगन ने अगस्त्य मुनि को वेद पढ़ाया। कहा जाता है कि यह ब्राह्मण उत्तर से दक्षिण में सभ्यता का पाठ सिखाने के लिए आये थे।[२] ऐसा कहा जाता है कि तिरुत्तनी में मुरुगन ने अगस्त्य को तमिल पढ़ाया और उन्हें शिवनानम् (शिव सिद्धान्त) का ज्ञान दिया। यह भी कहा जाता है कि इन्होंने इसी स्थल पर नन्दि देवर को शैव सिद्धान्त का दर्शन बताया।[३] कौमार व्याकरण- कार्तिकेय के द्वारा प्रचार होने का सविस्तर वर्णन गरुडपुराण में मिलता है- अथ व्याकरणं वक्ष्ये कुमारोक्तं च शौनक।[४] ऐसी मान्यता है कि तमिल वैयाकरण अक्तियर ने तमिल व्याकरण का रहस्य इनसे प्राप्त किया। शैव भक्ति का कवि जिसका नाम ज्ञानसम्बन्दर (Gnanasambandar) वह मुरुगन का अवतार था।[५]

वाराह पुराण में स्कन्द-कथा को आध्यात्मिक रूप दिया गया है। तदनुसार सभी तत्त्वों से ऊपर जो सत्ता है उसे पुरुष कहते हैं। उससे अव्यक्त की उत्पत्ति होती है। उसे तत्त्वों का मूलभूत एवं त्रिगुण कहा गया है। पुरुष एवम् अव्यक्त के संयोग से महत्तत्त्व (बुद्धितत्त्व) का आविर्भाव होता है। उसे अहंकार और महत् भी कहते हैं। पुरुष को विष्णु अथवा शिव और अव्यक्त को उमा अथवा श्री भी कहा गया है। उन्हीं के संयोग से अहंकार की उत्पत्ति होती है। वही सेनापति गुह है।[६] ध्यातव्य रहे कि स्कन्द की उत्त्पत्ति आदि मन्वन्तर से सम्बन्ध रखती है। उनकी उत्पत्ति विभिन्न

---

१. The Many Faces of Murukan pp. 86.
२. कल्लटम्, (Kallatam) I, Lines 47-49.
३. The Many Faces of Murukan, pp. 86.
४. गरुडपुराण, २०८/८१.
५. कल्लटम् I, Lines ५२-५५.
६. सर्वेषामेव तत्त्वानां यः परः पुरुषः स्मृतः। तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं तत्त्वदि त्रिविधन्तु तत्। पुरुषव्यक्तयोर्मध्ये महत्त्वं समपद्यत। स चाहङ्कार इत्युक्तो यो महान् समुदाहृतः। पुरुषो विष्णुरित्युक्तः शिवो वा नामतः स्मृतः। अव्यक्तन्तु उमा देवी श्रीर्वा पद्मनिभेक्षणा।। तत्संयोगादहङ्कारः स च सेनापतिर्गुहः। वाराहमहापुराण २५/२-२५.

कल्पों, विभिन्न रूपों से हुआ करती हैं। कृत्तिका, पावक, गिरिजा आदि उनके द्वितीय जन्म में कारण है।[१] सर्वप्रथम शरीरवर्ती अहङ्कार ही प्रयोजनवश सेनापति बना था।[२]

कुमार के शक्ति का नाम कौमारी है। जो असुर विजयिनी शक्ति आसुरिक वृत्तिपुञ्जों का दमन करती हुई देवशक्ति समूहों का परिचालन करे वही कौमारी शक्ति है। उससे अधिष्ठित चैतन्य शक्ति ही कुमार है। इसका वाहन मयूर है। मयूर साँप का भक्षक एक पक्षी है। टेढी चाल वाले को सर्प कहते हैं। साधारणतः इन्द्रिय वृत्ति समूह विषयाभिमुख विसर्पित भाव से वक्रगति से परिचालित होता है। जब कोई साधक उनके विलय के हेतु बल या सामर्थ्य का अर्जन करता है तो वह मयूरधर्मी होता है। इस तरह का मयूरधर्मी जीव ही पूर्वोक्त कौमारी शक्ति का वाहन है। आत्मा का जो अंश देवभाव समूह के आसुरी भावों का विमर्दन करता हुआ परिचालित करता है उस अंश को कुमार एवम् उस अधिष्ठान चेतन का अवलम्बन कर जो शक्ति देवभावों को परिचालित करती है वही कौमारी शक्ति है। कौमारी शक्ति का मयूरवाहन होना भी सर्वथा सुसंगत है।

दक्षिण भारत में षण्मुख के रूप में भगवान् सुब्रह्मण्य की उपासना अधिक प्रचलित है। इस देवता के षण्मुख के रूप में प्रकट होने के कई कारण बताये जाते हैं। कृत्रिम माताओं से जब पार्वती ने छः शिशुओं को अपनी गोद में लेकर गाढ आलिङ्गन किया तब इन शिशुओं का षण्मुख वाला शरीर बन गया जिसको भक्तों ने परमाराध्य मान लिया। शास्त्रों में यह भी कहा जाता है कि जब सनत्कुमार, नारद, अगस्त्य, बह्मा, इन्द्र तथा सरस्वती गन्धमादन पर्वत पर भगवान् स्कन्द के दर्शन करके उनसे षडक्षरी मन्त्र का उपदेश प्राप्त करने के लिए आये तब षडक्षरी तत्त्व को, इन षड्विभूतियों को एक साथ उपदेश करने के लिए सुब्रह्मण्य ने षण्मुख धारण किया। 'शरवण भव' इस षडक्षरी मन्त्र के अक्षरों के द्वारा क्रमशः लक्ष्मी, विद्या, मोक्ष, मृत्युञ्जय तथा नीरोगता- इन षट्तत्त्वों को भूलोक पर स्थापित करने के लिए नारदादि शिष्यों के सामने षण्मुख बनकर भगवान् प्रकट हुए। यह भी कहा जाता है कि ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान तथा वैराग्य-इन छः भगों से युक्त होने के कारण षड्भगों के प्रतीक रूप में उन्होंने षण्मुख धारण किया है। ऐसी धारणा है कि इस देवता में षड्देवताओं का या षण्मतों का समन्वय होने के कारण वे षण्मुख कहलाते हैं। भगवान् अपने छः मुखों के द्वारा क्रमशः ज्ञान प्रदान करते हैं, वर देते हैं, यज्ञ की रक्षा करते हैं साधु-सन्तों को वेद का उपदेश देते हैं, दुष्टों का नाश करते हैं तथा गृहस्थों को धर्मोपदेश देते हैं।

---

१. वाराहपुराण २५/४७.

२. योऽसौ शरीरगो देवः अहङ्कारेति कीर्तितः। प्रयोजनवशाद्देवः सैव सेनापतिर्विभौ। वाराहपुराण २५/३५.

शैवागम-

शैवागम के मुख्य रूप से चार भेद हैं-

१. पाशुपत, कालामुख व कापालिक मत- इनके संस्थापक लकुलीश या नकुलीश हैं। गुजरात एवं राजपूताना में इस सम्प्रदाय के अनुयायी मिलते हैं। इस आगम का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पाशुपत सूत्र' पर कौण्डिन्यकृत भाष्य है।[१] कापालिक्स एण्ड कालामुखस् सम्प्रदायों के लिए डॉ. डेविड एण्ड लोरेंजन का ग्रन्थ उल्लेखनीय है।[२]

२. शैव सिद्धान्त- दक्षिण का तमिल प्रदेश इस सिद्धान्त का प्रमुख प्रचार-प्रसार केन्द्र है। तमिल भाषा में शैव सिद्धान्त का प्रामाणिक ग्रन्थ तिरुमूलर द्वारा रचित 'तिरुमन्दिरम्' है। भगवान् शंकर के पञ्च मुखों से (सद्योजात, वामदेव, अघोर, ईशान और तत्पुरुष) अट्ठाईस तन्त्रों का उद्भव हुआ था। अनेक उपागमों से इनकी संख्या दो सौ आठ हो जाती है। प्रमुख ग्रन्थ तत्त्वप्रकाश भोजदेव, नादकारिका रामकण्ठ, श्रीकण्ठ का रत्नत्रयअष्टप्रकरण के नाम से विख्यात है।

३. वीरशैव मत- कर्नाटक प्रदेश में पल्लवित होने वाले इस सिद्धान्त को लिंगायत या जंगम के नाम से भी जाना जाता है। वाराणसी के जंगमवाड़ी में इस सम्प्रदाय से सम्बन्धित साधक अनुयायी रहते हैं। प्रमुख ग्रन्थ श्री शिवयोगी शिवाचार्य की 'सिद्धान्तशिखामणि' हैं। यहाँ से इस सम्प्रदाय के अनेक ग्रन्थ- मुकुटागम, किरणागम, पारमेश्वरागम प्रकाशित हैं।

४. प्रत्यभिज्ञा मत- काश्मीर में उगने वाला यह अद्वैत, दर्शन, स्पन्द, विज्ञान, तथा षडर्धशास्त्र आदि नामों से सुविख्यात है। दुर्वासा ऋषि आदि आचार्य थे। दुर्वासा ने 'त्रयम्बकादित्य' नामक मानस पुत्र उत्पन्न करके इस शास्त्र का प्रचार कराया। सोमानन्द की शिवदृष्टि, उत्पलदेव की ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका एवं अभिनवगुप्त का तन्त्रालोक, परमार्थसार, ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, क्षेमराज का प्रत्यभिज्ञाहृदय आदि प्रमुख हैं।

कश्मीर की शैव संस्कृति में कुल और क्रम-मत पर सद्यः प्रकाशित डॉ. नवजीवन रस्तोगी की कृति विशद प्रकाश डालती है।[३]

---

१. सम्पादक- आर.अनन्त कृष्णशास्त्री, त्रिवेन्द्रम सस्कृत सिरिज, त्रिवेन्द्रम, १९४०.

२.क. थामसन प्रेस, नई दिल्ली, १९७०.

ख. हिस्ट्री ऑफ शैवकल्टस् इन नार्दन इण्डिया, डॉ. वी.एस. पाठक, अविनाश प्रकाशन, इलाहाबाद, १९८० ई.

३. प्रकाशक- डी.के. प्रिण्टवर्ल्ड (प्रा.) लि., श्रीकुञ्ज एफ-५२, बालीनगर, रमेश नगर मेट्रो स्टेशन, नई दिल्ली- ०१५, २०११ ई.

उपर्युक्त चारों मतों के अन्दर सभी अवान्तर शैवागम समाहित हो गये हैं।

शाक्तागम-

'शक्तिक्रीडा जगत्सर्वम्'-सम्पूर्ण जगत् शक्ति की क्रीडा (लीला) है। शाक्त तंत्र का कामाख्य, काञ्ची तथा काश्मीर प्रमुख केन्द्र हैं। इन 'स्थलों' की पूजा में भी पर्याप्त मतभेद हैं। 'शक्तिसंगम तन्त्र' के कालीखण्ड में बताया गया है कि पञ्चमकारों का निवेश केवल कामाख्या में प्रचलित था, केरल में इसके स्थान पर दुग्ध आदि अनुकल्पों का प्रयोग था। काश्मीर में इन द्रव्यों की भावना मात्र से कार्य सम्पन्न हो जाता था।[१] काशी तीनों प्रमाणों का मध्य बिन्दु है। शाक्त तन्त्र का सम्बन्ध अथर्ववेद के 'सौभाग्य काण्ड' से जोड़ा जाता है। शाक्तागम के **दक्षिणाचार** तथा **वामाचार**- ये दो प्रमुख भेद है। महर्षि अगस्त्य का शक्तिसूत्र त्रिपुरा सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखता है। श्रीविद्या का प्रधान ग्रन्थ 'परशुरामकल्पसूत्र' है।

बौद्ध तन्त्रागम-

तन्त्र शब्द 'तनु' धातु से बना है, जिसका अर्थ है अविच्छिन्न प्रवाह, विस्तार या परम्परा। इस अर्थ में तन्त्र से अभिप्राय आधारभूत विनेय सत्त्वों (जीवों) की विज्ञान संतति है परन्तु यह आधारभूत तन्त्र-मात्र है जो शब्द द्वारा साधारणतः अभिहित होता है। तात्त्विक दृष्टि से 'तन्त्र' उस तत्त्व को कहते हैं, जो प्रज्ञा और उपाय (महाकरुणा) का समापत्ति योग है।[२]

इसी योग के द्वारा साधक जीव की सन्तति का त्राण होता है, उसी के मार्गसन्तति की अभिवृद्धि होती है और प्राप्तफल (वज्रधरत्व-बुद्धत्व) का निरवच्छिन्न प्रवाह बना रहता है और यावत् सत्त्व स्थिति, सर्वार्थ के लिए सदा प्रमुख हो जाता है। इस दृष्टि से 'तन्त्र' एक प्रबन्ध विशेष का नाम है। तन्त्र शब्द का अर्थ बहुत व्यापक है। जिस प्रज्ञा और उपाय के योग से समस्त सांसारिक एवं असांसारिक दुःखों से मुक्ति पायी जा सकती है। उस योग को हम यहाँ तन्त्र के वास्तविक अर्थ में ले रहे हैं, यहाँ कारकार्थ में 'तनु' से 'त्राण' का योग हुआ है। विशेष अर्थ में

---

१. दुग्धेन केरले पूजा काश्मीरे भावना मता।
गौडे प्रत्यक्षदानं स्यात् त्रितयं कीर्तितं मया।। -शक्तिसंगमतन्त्र, कालीखण्ड, श्लोक २०.

२. 'प्रज्ञोपायसमापत्तियोग इत्यभिधीयते'।

जिस तत्त्व के द्वारा 'भवान्त' और 'शमान्त' इन दोनों अन्तों में पतन के भय से त्राण हो जाता है उस तत्त्व को ही संक्षेप में तंत्र कहते हैं।[१]

बौद्ध तान्त्रिक दृष्टि से महायान में तन्त्र साधना के मन्त्रयान और पारमितानय नामक दो सम्प्रदाय थे। मन्त्रयान में मन्त्रों तथा धारणियों की सहायता से निर्वाण की प्राप्ति की जाती थी तथा पारमितानय में पञ्चपारमिताओं के अभ्यास से प्रज्ञापारमिता की प्राप्ति करायी जाती थी।

वज्रयान वह यान है जिसमें मन्त्रों और धारणियों के अतिरिक्त वज्र शब्द से अभिव्यक्ति होनेवाली सभी वस्तुओं को साधन के रूप में व्यवहृत किया जाता है।

गुह्यसमाजतन्त्र की दार्शनिक सामग्री आचार्य असंगकृत प्रज्ञापारमिता से ली गयी है और उसमें वर्णित आचार मञ्जूश्रीमूलकल्प के आधार पर है। शक्तिपूजा का वर्णन सर्वप्रथम गुह्यसमाजतन्त्र (तीसरी शती ई.) में मिलता है।

कालचक्रयान- वह यान जो काल या नाश के चक्र से रक्षा कर सके। कालचक्रयान के प्रमुख प्रामाणिक ग्रन्थ कालचक्रतन्त्र और उसकी विमलप्रभा टीका है। कालचक्र में शून्यता और करुणा संवलित और प्रज्ञात्मक शक्ति से सहचरित हैं। कालचक्रयान दर्शन नहीं साधना है।

यह निर्विवाद है कि धार्मिक अनुष्ठानों या साधना सम्बन्धी प्रस्थानों का भेद साधक की पात्रता के आधार पर होता है। इसी प्रकार तन्त्रनय में भी अधिकारी की पात्रता के भेद के आधार पर समग्रतन्त्रनय या विद्याधर पिटकों को चार भागों में विभाजित किया गया है। वे हैं- क्रियातन्त्र, चर्यातन्त्र, योगतन्त्र, अनुत्तरयोगतन्त्र। 'अनुत्तरतन्त्रार्थावतार' में तन्त्र के इन चारों प्रमेदों का समुचित विवरण उल्लिखित है। आचार्य 'चोङ्खापा' का कथन है कि तान्त्रिक प्रस्थानों के इन चार प्रभेदों की व्यवस्था यानभेद के आधार पर नहीं है और न इष्ट देवताओं के विशेष 'योग' के आधार

---

१. प्रबन्धं तन्त्रमाख्यातं तत् प्रबन्धं त्रिधा भवेत्।
आधारः प्रकृतैश्चैव असंहार्य्य प्रभेदतः।।३३।।
प्रकृतिश्चाकृततेर्हेरंसंहार्यंफलं तथा।
आधारस्तदुपायश्च त्रिभिस्तन्त्रार्थसंग्रहः।।३४।।
पंचकं त्रिकुलं चैव स्वभावैकशतं कुलम्।
सहोक्तिर्बोधिवज्रस्य सोत्तरं तन्त्रमिष्यते।।३५।। -गुह्यसमाजतन्त्र, पटल, १८.

पर ही है और न ही इष्ट देवताओं के अपितु वज्रयान के अधिकारी विनेय लोगों के प्रमुख चार भेद होने के कारण तान्त्रिक प्रस्थानों को चार भागों में विभक्त किया है।[१] तन्त्रों की देशना बुद्ध ने की तथा इनका प्रचलन महायानी सूत्रों के साथ हुआ। तारानाथ का कहना है कि मूलतः सूत्र और तन्त्र के शास्ता और देशकाल के सम्बन्ध में कोई भेद नहीं है।[२]

जैनागमतन्त्र-

वैदिक शास्त्रों में जैसे 'वेद', बौद्ध शास्त्रों को जैसे 'पिटक' कहा जाता है वैसे ही जैन शास्त्रों को 'श्रुत' 'सूत्र' या आगम कहा जाता है। आजकल आगम शब्द का प्रयोग अधिक होने लगा है किन्तु अतीत-काल में श्रुत शब्द का प्रयोग अधिक होता था।[३] श्रुत केवली, श्रुत स्थविर[४] शब्दों का प्रयोग आगमों में अनेक स्थलों पर हुआ है किन्तु कहीं पर भी आगम-केवली या आगम-स्थविर का प्रयोग नहीं हुआ है।

सूत्र ग्रन्थ, सिद्धान्त, प्रचलन, आज्ञा, वचन, उपदेश, प्रज्ञापन, आगम,[५] आप्तवचन, ऐतिह्य, आम्नाय और जिनवचन[६], श्रुत ये सभी आगम के ही पयार्यवाची शब्द हैं।

आगम शब्द की अनेक परिभाषाएं आचार्यों की ही हैं जिसमें वस्तुतत्त्व (पदार्थ-रहस्य) का परिपूर्ण ज्ञान हो, वह आगम है।[७] जिसमें पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो, वह आगम है,[८] जिसमें पदार्थों का परिपूर्णता के साथ मर्यादित ज्ञान हो वह आगम है,[९] जो तत्त्व आचार परम्परा से वासित होकर आता है वह

---

१. सन्मार्ग तन्त्र विशेषांक, १९७९, पृ. १०५.
२. बौद्धधर्म का इतिहास, पृ. १४५, काशीप्रसाद जायसवाल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पटना, १९७१.
३. नन्दीसूत्र, ४१.
४. स्थानांगसूत्र १५०.
५. अनुयोगद्वार ४, विशेषावश्यक भाष्य गा. ८/९७
६. तत्त्वार्थभाष्य, १-२०.
७. आ.सम्न्ताद् गम्यते वस्तुतत्त्वमनेनेत्यागमः।
८. आगम्यन्ते मर्यादयाऽवबुद्धयन्तेऽथाः अनेनेनत्यागमः।
९. आवश्यक मलयगिरि वृत्ति, नन्दी सूत्र, वृत्ति।

आगम है।[१] आप्त वचन के उत्पन्न अर्थ (पदार्थ) ज्ञान आगम कहा जाता है। उपचार से आप्तवचन भी आगम कहा जाता है।[२] आप्तवचन का कथन आगम है[३] जिसमें सही शिक्षा प्राप्त होती है, विशेष ज्ञान उपलब्ध होता है वह शास्ता आगम या श्रुतज्ञान कहलाता है।[४] इस प्रकार आगम शब्द समग्र श्रुत का परिचायक है पर जैन दृष्टि से यह विशेष ग्रन्थों के लिए व्यवहृत होता है।

जैन आगमों को तीर्थंकरप्रणीत कहा जाता है।[५] जैन अनुश्रुति के आधार पर गणधर के समान ही अनय प्रत्येक बुद्ध निरूपित आगम भी प्रमाण होते हैं।[६] गणधर केवल द्वादशभोगी की ही रचना करते हैं। अंगबाह्य आगमों की रचना स्थविर करते हैं।[७]

जैन आगमों का प्राचीनतम वर्गीकरण समवायांग में मिलता है। वहां आगम साहित्य का पूर्व और अंग के रूप में विभाजन किया जाता है। पूर्व संख्या की दृष्टि से चौदह थे और अंग बारह।[८]

जैन- सम्प्रदाय में भगवद्भाषित एवं गणधरों द्वारा ग्रथित द्वादशांगी से बारहवाँ अंग 'दृष्टिवाद' के रूप में प्रसिद्ध है इसमें ५ विभाग हैं- १. परिकर्म, २. सूत्र, ३. पूर्वानुयोग, ४. पूर्वगत तथा ५. चूर्णिका। इनमें चौथे पूर्वगत विभाग में चौदह पूर्व वर्णित हैं जिसमें दसवां पूर्व 'विद्यानुप्रवाद' है। यह 'विद्यानुप्रवाद'

---

१. सिद्धेसेनगणी कृत भाष्यानुसारिणी टीका, पृ. ८७.
२. स्याद्वादमंजरी, ३८, श्लोक टीका.
३. आप्तोपदेशः शब्द- न्यायसूत्र, १/१/७.
४. सासिज्जइ जेण तयं सत्थं तं वा विसेसियं नाण। आगम एव च सत्थं आगम सत्थं तु सुयनाणं।। विशेषवश्यक भाष्य गा. ५५९
५. नन्दी सूत्र ४०
६. (क) सुतं गणहरकथिदं, तहेव पत्तेयबुद्धकथिदं च।
सुकदेवलिणा कथिदं अभिदं अभिण्ण दसपुव्वकथिदं च।।
(ख) जयधवला, पृ. १५३.
(ग) ओधनिर्युक्ति, द्रोणार्य टीका, पृ. ३.
७. (क) विशषावश्यक भाष्य गा. ५५.
(ख) बृहत्कल्पभाष्य, १४४.
(ग) तत्त्वार्थभाष्य, १-२०.
(घ) सर्वार्थसिद्ध १-२०.
८. समवायांग, समवाय १३६.

अतिविशाल है और इसी में साधना-विधि, सिद्धि एवं साधनों का विस्तार से वर्णन किया गया है।

परमेश्वर की उपासना के लिए जो उपयोगी साधन है वे भी तन्त्र ही कहलाते हैं। इसी बात को ध्यान में रखकर कहा गया है **'यत्र चोपासनामार्गो देवतानां प्रकाशितः। तं ग्रन्थं तन्त्रमित्याहुः पुरातनमहर्षयः।'**[१]

प्रमुख रूप से तन्त्र के ज्ञान और विज्ञान दो भेद हैं तथा इनके भी प्रत्येक के दो-दो प्रभेद होते हैं। ज्ञान के उपासना का रूप है- बहिर्याग तथा अन्तर्याग। विज्ञान के मनोविज्ञान रूप मन्त्रशास्त्र तथा कर्म विज्ञानरूप और चिकित्सा शास्त्र। बहिर्याग आचारशास्त्र का अनुगमन करता है तो अन्तर्याग योगशास्त्र का। मन्त्रशास्त्र अध्यात्म-शास्त्र का पोषक है तो चिकित्साशास्त्र जीवशास्त्र का। इस प्रकार तंत्र में उभय लोक साध्य बातों का संग्रह होता है।

साधारण रूप से तन्त्र की परिधि में- १. मन्त्र, २. यन्त्र, ३. तन्त्र (क्रिया), ४. योग और ५. स्तोत्र- ये पाँच अंग ग्राह्य हैं। अन्य प्रकार से गीता, सहस्रनाम, स्तोत्र, कवच, हृदय को पंचाङ्ग कहा है।[२]

वैदिक वाङ्मय में निर्दिष्ट ज्ञान का क्रियात्मक रूप या विधानात्मक आचार ही आगमों का मुख्य विषय है। ज्ञानं भारः क्रियां विना- अर्थात् क्रिया के बिना ज्ञान भार स्वरूप है। इस प्रकार तन्त्रों का वैशिष्ट्य 'क्रिया' है, जैसे वेदों का वैशिष्ट्य 'ज्ञान' है।

---

१. संस्कृतवाङ्मय का बृहद इतिहास, तन्त्रागमखण्ड, लेख जैनतन्त्र और साहित्य परम्परा, पृष्ठ ४८७.

२. 'सन्मार्ग' का तन्त्र विशेषांक, १९७९, पृ. ११७.।

वैखानस आगम

वैखानस आगम का उद्गम-

आगमशास्त्र के अन्तर्गत एक विस्तृत क्षेत्र आता है जिनके ग्रन्थों की अपरिमित सम्पत्ति भारत के विभिन्न भागों में सुरक्षित, प्रचलित तथा परम्परा के कार्य रूप में सम्पन्न होकर अवस्थित है। प्रस्तुत अध्याय में वैखानसागम का दिग्दर्शन कराने का प्रयास है। प्रसिद्ध तान्त्रिक भास्करराय ने वैष्णवागमों में भागवत सम्प्रदाय की पृथक् सत्ता स्वीकार किया है और कहा है कि श्रीमद्भागवत इसका प्रमुख ग्रन्थ है जिसकी सम्भवतः तन्त्र भागवत के आधार पर रचना की गयी थी।[१] माध्वाचार्य ने अपने ग्रन्थ में तन्त्रभागवत को उद्धृत किया है।[२] शक्तिसंगमतन्त्र में वैष्णवों के दस विभाग बताये गये हैं- (१) वैखानस, (२) राधावल्लभ (३) गोकुलेश (४) वृन्दावनी (५) पाञ्चरात्र (६) वीरवैष्णव (७) रामानन्दी (८) हरिव्यासी (९) निम्बार्क (१०) भागवत।[३] परिमाणदृष्ट्या भार्गवतन्त्र में भी तन्त्रविवरण की विस्तृत सूची दी गयी है।[४]

गीता में भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं "महर्षीणां भृगुरहं" अर्थात् मुनियों में मैं भृगु हूँ।[५] वैखानस-आगम का जो साहित्य आज उपलब्ध है उसमें सर्वाधिक भृगु-प्रोक्त है। सर्वत्र महाभाग भृगु द्वारा कहे गए वैखानस-शास्त्र को आर्ष भगवच्छास्त्र कहा है। मुद्रित तथा अमुद्रित वैखानसागम-ग्रन्थों की अध्यायान्त

---

२. नित्याषोडशिकार्णव सेतुबन्ध, पृ. ५, प्रथम संस्करण.

३. भागवततात्पर्यनिर्णय, पृ. २-३.

४. कालीखण्ड, ८/३८-४०. पृ. ९६.

५. अक्षय्यसंख्यं तन्त्रं तत् परस्मिन् ब्रह्मणि स्थितम्। सार्धकोटिप्रमाणेन जग्राह भगवान् विधिः।।
नारदोऽपि च जग्राह कोट्यर्धं ब्रह्मणो मुनिः। कपिलोऽपि मुनिः पञ्च लक्षमात्रमुपाहरत्।।
वैनतेयोऽपि जग्राह पादलक्षणं जनार्दनात्। विंशत्सहस्रं जग्राह पूजातन्त्र हरेः फणी।।
चत्वारिंशत्सहस्राणि विखना मुनिरग्रही। लक्ष्मीः षष्टि सहस्राणि लक्षमेकं वसुन्धरा।।
शुकः पञ्च सहस्राणि सहस्रं सप्ततेर्हरः। चतुर्दश सहस्राणि भगवान् स पराशरः।।
विष्वक्सेनोऽपि जग्राह ग्रन्थं लक्ष्यद्वयं हरेः। अन्ये च बहवः कामं जगृहुर्मुनिपुङ्गवाः।।
भार्गवतन्त्रम्, २/१-६

५. गीता, अध्याय १०, श्लोक २५.

पुष्पिकाओं में भगवच्छास्त्र का ही प्रयोग है। उदाहरणार्थ–**इत्यार्षे श्रीवैखानसे भगवच्छास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां खिलाधिकारे नाम............**। इसी प्रकार के और भी उदाहरण देखे जा सकते हैं।[1]

महर्षि मरीचि के शब्दों में वैखानस की महत्ता अधोलिखित है–

वैखानसं महाशास्त्रं सर्ववेदेषूद्धृतं सर्ववेदार्थसारभूतं
अप्रतर्क्यमनिन्दितं वैदिकैरुपसेवितं विष्णोराराधनं
सर्वभूतहितार्थाय शाब्दं प्रमाणमवलम्ब्य विष्णुना विखनस उक्तम् ।
विखनसा भृग्वादीनामुक्तम् .... ।[2]

वैखानस-आगम वैखानस-सूत्रमूलक है । वैखानस वैष्णव के सारे संस्कार तथा धार्मिक कृत्य एवं गृह विधान वैखानस-सूत्रों और शास्त्रों के आधार पर विहित होते हैं । श्रीनिवासमखी ने वैखानसगृह्यसूत्र के सूत्रतात्पर्य-चिन्तामणि व्याख्या में वैखानस धर्मग्रन्थों तथा परम्पराओं के अनुसार दशविधहेतुनिरूपण दिया है जो निम्नवत् है–

१. **अखिलजगत्कारणभूतेन विखनसा प्रणीतत्वात्** अर्थात्, यह धर्म-ग्रन्थ सम्पूर्ण जगत् के स्रष्टा विखनस् के अनुसार प्रणीत है।

२. **सर्वसूत्राणामादिमत्त्वात्**, अर्थात् वैखानसों के धर्मग्रन्थ सर्वप्रथम रचित सूत्र हैं जो कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध हैं ।

३. **प्रधानादिकर्मसु श्रुतिमार्गानुसारित्वात्**, वैखानस शास्त्र कर्मों में श्रुति मार्ग का अनुसरण करते हैं अर्थात् सभी क्रिया तथा अनुष्ठानों में, यहाँ तक कि आचमन में भी श्रुतिमन्त्रों का विनियोग करते हैं ।

४. **समन्त्रकसर्वक्रियात्वात्**, सभी क्रियाएँ तथा अनुष्ठान निश्चित रूप से वैदिक मन्त्रों के द्वारा सम्पादित होते हैं ।

५. **निषेकादिसंस्कारत्वात्**, जन्म से मरण तक के सभी संस्कार वैदिक मन्त्रों द्वारा ही सम्पादित होते हैं ।

६. **अष्टादशशरीरसंस्कारात्मत्वात्**, वैखानस धर्म-ग्रन्थ मानसिक तथा शारीरिक शुद्धि के लिए अठारह संस्कारों का निर्देश करते हैं ।

७. **साङ्गक्रियाकलापत्वात्**, वैखानस कल्पसूत्र पूर्णरूपेण सभी क्रियाकलापों का वर्णन करते हैं । ये किसी अन्य सूत्र की अपेक्षा नहीं रखते ।

---

१. क. खिलाधिकार, अध्यायान्तपुष्पिका;
 ख. क्रियाधिकार अध्यायान्तपुष्पिका.

२. विमानार्चनकल्प, पटल १०१.

८. **मन्वाद्यैः स्वीकृतत्वात्**, मनु आदि स्मृतिकारों के द्वारा भी वैखानस शास्त्र (कल्पसूत्र) की मान्यता रही है।

९. **अखिलजगदेककारणभूतश्रीनारायणैकपरत्वात्**, ये वैखानस जगत् के मुख्य कारण श्रीनारायण की पूजा के प्रति समर्पित हैं।

१०. **तत्सूत्रोक्तधर्मानुष्ठानवतामेव भगवत्प्रियतमत्वोपपत्तेश्च**, नारायण ने स्वयं कहा है कि वैखानस मेरे अत्यन्त प्रिय हैं।[1]

तैत्तिरीय आरण्यक में वैखानस के लिए एक बड़ी रोचक कथा दी गयी है। वहाँ कहा है कि प्रजापति ने तपस्या की। तपस्या के पश्चात् प्रजापति ने अपने शरीर को हिलाया जिसके कारण मांस से तीन ऋषि- अरुण, केतु तथा वातरसन उत्पन्न हुए और नखों से वैखानस तथा बालों से बालखिल्य ऋषि उत्पन्न हुए-

स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा शरीरम् मधुवाते। तस्य यन्मांसम् आसीत् ततोऽरुणाः केतवो वातरसना ऋषय उदतिष्ठन्। ये नखास्ते वैखानसाः। ये बालास्ते बालखिल्याः।[2]

छान्दोग्योपनिषद के- अर्चियानप्रकरण में वैखनसाः पद आया है जिसका व्याख्यान श्रीशङ्कराचार्यजी ने वानप्रस्थी के अर्थ में किया है।

कवितार्किक चूडामणि वेदान्तदेशिक पाञ्चरात्री हैं पर इन्होंने वैखानसों का बड़ा आदर किया है। इन्होंने वैखानसों को अवर कहने वालों को बहुत फटकारा है-

एवं स्थिते केचिद् वाहलीकप्राया आगमबाह्याः श्रीमद्वैखानसप्रामाण्ये विशेरते। ......आश्वमेधिके श्रीवैष्णवधर्मशास्त्रे द्वितीयमपि समप्रमाणतयोपात्तम्। द्वयोरपि परस्परं प्रामाण्यम्। विष्णोस्तन्त्र द्विधा प्रोक्तमित्यादिषु व्यञ्जितम्।.... कथं तेषां ब्राह्मण्यमिति चेत् शान्तं पापम्। श्रवसी पिदधीमहि। तथापि वक्तव्यम्। दृश्यन्ते ह्येते वंशपरम्परया वेदमधीयाना वैखानससूक्तोक्तवैदिक-सकल-संस्कारशालिनो वर्णाश्रमधर्मकर्मण भगवदेकान्ता ब्राह्मणाः। नूनममीषां ब्राह्मण्यैककारणेन भागवतत्वेनैव विपरीतं बम्भ्रमीति ब्राह्मणगर्दभः। ....भावेऽप्येतेषां निकृष्टजातित्वे प्रमाणाभवात्। आगमप्रामाण्योक्तसात्त्वा-दिसमाख्यानिर्वाहसमत्वात्। तत्सिद्धं विशिष्टाधिकारिकं वेदाविरुद्धं वैखान-सादिस्मरणं प्रमाणमिति।[3]

---

१. श्रीवैखानसगृह्यसूत्रम्, श्रीसूत्रतात्पर्यचिन्तामण्याख्यया व्याख्यया, श्री रों. पार्थसारथिभट्टाचार्यैः, तिरुमल तिरुपति देवस्थानम्, तिरुपति, सन् १९९७, पृष्ठ २.

२. तै.आ. १/२३.

३. न्यायपरिशुद्धिशाब्दप्रकरण द्वितीय आह्निक

वैखानसों के प्रति वेदान्तदेशिक का आदर होना स्वाभाविक है। वेदान्तदेशिक बडकलै पाञ्चरात्री है। बडकलै पाञ्चरात्रियों के ये प्रमुख आचार्य हैं। बडकलै सम्प्रदाय में भगवदर्चनाविधान में श्रुतियों के लिए महत्त्वपूर्ण स्थान है, तेङ्गलै में ऐसा नहीं हैः वैखानस भी अर्चनाविधान में श्रुतियों को महत्त्व देते हैं।

पौष्करसंहिता के तन्त्रभेदनिर्णय प्रकरण में वैखानस पूजापद्धति को वैदिक माना है और द्विजाति के लिए प्रशस्त कहा है-

शुद्धं च वैदिकं चेति तान्त्रिकं च त्रिधा भवेत्।
पाञ्चरात्रेण पूजां तु शुद्धं विष्णोरिति स्मृतम्।।
वैखानसेन सूत्रेण पूजयेद् विष्णुमव्ययम्।
वैदिकं तदिति प्रोक्तं द्विजातीनां प्रशस्यते।।

यहीं वैखानसों की बड़ी प्रशंसा की गयी है। कहा गया है कि वैखानस फलेच्छारहित निष्काम भाव से भगवद्भक्ति करते हैं-

विप्रा वैखानसाख्या ये ते भक्तास्तत्त्वमुच्यते।
एकान्तिनः सुसत्त्वस्था देहान्तं नान्ययाजिनः।।
कर्तव्यमिति देवेशं संजयन्ते फलं बिना।

वैखानस आगम का अपना वैशिष्ट्य है कि यह आगम और निगम की शृङ्खला को जोड़नेवाली पहली कड़ी है तथा वैदिक वर्णाश्रमव्यवस्था के अन्तर्गत तृतीय वानप्रस्थ आश्रम से इसका अत्यन्त निकट का सम्बन्ध रहा है। प्रो० जे० गोण्डा का मानना है कि पाञ्चरात्र-मतानुयायियों की भाँति वैखानस-मतावलम्बियों ने तमिल भाषा का प्रयोग नहीं किया है। ये विशुद्ध रूप से संस्कृत भाषा का ही प्रयोग करते हैं। स्त्री तथा शूद्रों को भी यहाँ वह स्थान प्राप्त नहीं हुआ जो कि पाञ्चरात्र आगम में तमिल आलवारों के माध्यम से उनको मिला था। अत्रि, मरीचि, भृगु और काश्यप के ग्रन्थों को वे ३-४ शताब्दी की रचना मानते हैं जबकि त्रिरत्न के नाम से प्रख्यात सात्वत, पौष्कर तथा जयाख्य पाञ्चरात्रसंहिताओं का काल इसके बाद का माना जाता है।[1]

ऐसा प्रतीत होता है कि आगम की जटिल विधाओं के आरम्भ होने से पूर्व ही विष्णु की पूजा का प्रारम्भ वैदिक काल से ही हो गया था। वैदिक साहित्य में 'मुनि' तथा 'वातरशना' नामक ऋषियों का उल्लेख मिलता है। ये ऋषि प्रायः जंगलों में रहते थे। कन्द-मूल-फलादि खाकर जीवन का निर्वाह

---

१. मिडीवल रिलीजियस लिटरेचर इन संस्कृत, पृष्ठ १४२.

करते थे। उत्तरवैदिक काल में इन्हीं को वैखानस कहा गया।[1] वैखानस लोग वैदिक काल में ही इन्द्र के प्रिय लोग माने जाते थे।[2]

विद्वानों ने इसे वानप्रस्थ अवस्था माना है। बिना विवाह किया हुआ व्यक्ति भी जिसने वेदादि का अध्ययन किया हो, इस आश्रम में प्रवेश करने का अधिकारी है।[3] महर्षि सौभरि ने सुखमय जीवन व्यतीत करने के पश्चात् वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण किया था तथा वैखानस व्रत लिया था।[4]

इस स्थल पर वैखानस शब्द का प्रयोग वानप्रस्थ व्रतधारी के क्रिया-कलापों के अर्थ में है। कालिदास ने भी कण्व के आश्रम में शमप्रधान तपोधन साधुओं के आदर्श का वर्णन किया है। ज्ञात होता है कि कण्व का आश्रम भी वैखानसों के आदर्श पर ही संगठित था।[5] भवभूति ने तपोवनों में वृक्षों के नीचे रहने वाले वृद्ध गृहस्थों को जो शम-धर्म का पालन करते थे, वैखानस कहा है।[6] इसीलिए उसमें स्त्रियों के भी एक साथ रहने की सुविधा थी। वशिष्ठ, पृथु, मान्धाता और जनक के जीवन वैखानसों के आदर्श थे।[7]

वैखानस शब्द की निष्पत्ति 'खन्' धातु से भी मानते हैं जिसका अर्थ गहराई तक खोदना होता है। अर्थात् 'गूढार्थ-प्रकाशन' के लिए आत्मनिरीक्षण करने वाले महर्षि का नाम विखनस माना गया है।[8] श्रीमद्भागवतपुराण के गोपीगीत में विखनस का नाम अत्यन्त श्रद्धा के साथ लिया गया है। यहाँ विखनस शब्द का अर्थ ब्रह्मा है या इस नाम से एक मुनि को ही विखनस कहा

---

१. अब्भक्षैर्वायुभक्षैश्च शीर्णपर्णाशिनैस्तथा। फलमूलाशनैर्दान्तैर्जितदोषैर्जितेन्द्रियैः। ऋषिभिर्बालखिल्यैश्च जपहोमपरायणैः। अन्यैर्वैखानसैश्चैव समन्तादुपशोभितम्।।
-वाल्मीकिरामायण, बालकाण्ड, ५१/२६-२८.
पुष्पमूलफलैर्वापि केवलैर्वर्तयेत् सदा। कालपक्वैः स्वयं शीर्णैर्वैखानसमते स्थितः।।
-मनुस्मृति, ६/२१.
मूलैरेके फलैरेके पुष्पैरेके दृढव्रताः। वर्तयन्ति यथान्यायं वैखानसगतिं श्रिताः।।
-शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्व, २४४/१३-१४.

२. वैखानसा वा ऋषया इन्द्रस्य प्रिया आसन्, ताण्ड्यमहाब्राह्मण, १४/४/७.

३. विष्णुपुराण, ३/१०/१५.

४. विष्णुपुराण, ४/२/१३०.

५. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, १/२९ टीका श्रीनिवासाचार्य

६. उत्तररामचरितम्, १/२५.

७. समूर्तार्चनाधिकरण ६४/४. श्रीमद्भागवतपुराण ४/२३/४.

८. खनित्वा चात्मनात्मानं धर्मादिगुणसंयुतम्। ध्यानमाविश्य योगेन ह्यासीद् विखनसो मुनिः।। विशेषेण खनेद्यस्माद् भावनान् मुनिसृष्टये। नाम्ना विखनसो लोके स आसीदण्डजप्रियः।।
-समूर्तार्चनाधिकरण, भूमिका, पृष्ठ १९.

है।[१] आनन्दसंहिता के अनुसार मुनि विखनस ने जो ब्रह्मा थे, वैखानस सूत्रों की रचना की। यह वैखानससूत्र यजुर्वेद की एक शाखा के अनुसार था तथा इसने विष्णु की उपासना का मार्ग प्रशस्त किया था।[२]

सभ्यता के आदिम ग्रन्थ ऋग्वेद,[३] शुक्लयजुर्वेद,[४] सामब्राह्मण (ताण्ड्यब्राह्मण)[५] तथा तैत्तिरीयसंहिता[६] में वैखानस ऋषियों का उल्लेख प्राप्त होता है। इन स्थलों में इनके सिद्धान्तों के साथ-साथ इनके जीवन-वृत्त के विषय में भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। सायणाचार्य ने 'वेदार्थप्रकाश' में तथा 'पदार्थवृत्ति' की टीका में, भरतस्वामी ने "वैखानसाः शतसंख्याका मन्त्रदृश ऋषयः" ऐसा अर्थ किया है।[७] आधुनिक व्याख्याकार आचार्य विनोबा भावे का कहना है-"शतं वैखानस कोई एक ऋषि नहीं है। इसका अर्थ यह है कि एक मुख्य मनुष्य होगा तथा वह सूक्त बनाता होगा। शेष बैठते होंगे, चर्चा होती होगी, अर्थ होता होगा, आवश्यक पाठ होता होगा-सामूहिक सूक्त बनता होगा, सब ऋषियों की मदद से। प्रतीत होता है, प्राचीन काल में ऋषियों ने सामूहिक साधना की होगी। सौ तपस्वियों ने मिलकर सूक्त बनाया। २५-३० मन्त्रों का सूक्त है। वैसा ही वेद में तीन मन्त्रों का भी एक सूक्त है। इन तीन मन्त्रों के ऋषि हैं, "सहस्रं वसुरोचषिः"। ऋषि द्रष्टा माने जाते हैं। लेकिन तीन मन्त्रों के हजार लेखक कैसे हो सकते हैं? सोचते हुए लगता है कि कोई एक निमित्तमात्र लेखक होगा। उसे वे महत्त्व नहीं देते थे लेकिन जो दर्शन होता था वह सामूहिक ही होता था। अवश्य ही सामूहिक साधना से वह दर्शन एक मनुष्य में प्रकट होता था फिर भी वह एक का दर्शन न होकर उन सबका था जिन्होंने मिलकर तपस्या की।

"प्राचीन पुराणों में ऋषियों की तपस्या का जिक्र आता है, अमुक ऋषि ने हजार उपवास किए। उस वक्त मैंने एक विचार रखा था कि मान लीजिए, गाँधीजी ने २१ दिन उपवास किए और हजार लोगों ने उनके साथ उपवास किए तो पुरानी भाषा में कहा जाएगा कि गांधी जी ने २१,००० उपवास किए। १००० लोगों ने सामूहिक उपवास किए और जिसकी प्रेरणा से किए उसका नाम लिया जाएगा।

---

१. श्रीमद्भागवतपुराण, १०/३१/४.

२. आदिकाले तु भगवान् ब्रह्मा तु विखना मुनिः।
यजुःशाखानुसारेण चक्रे सूत्रं महत्तरम्।।
वर्णाश्रमाचारयुतं श्रौतस्मार्तसमन्वितम् ।, विमानार्चनकल्प, पृष्ठ ३-४.

३. ऋग्वेद, ८/७०/३ एवं ९/६६.

४. शुक्लयजुर्वेद, ८/३८.

५. ताण्ड्यब्राह्मण, १४/४/७, १४/८/२८.

६. तैत्तिरीयसंहिता, ७/१/४/३.

७. सामविधानब्राह्मण, १ प्रपा०, अनुवाक १-७.

"अमुक ऋषि ने १००० उपवास किए, ऐसा हम पढ़ते हैं तो हमको बड़ा अजीब लगता है किन्तु, उसका तात्पर्य यह कि जिस ऋषि की प्रेरणा से उपवास किए गये उसके नाम पर सारे उपवास माने गए। यह भाष्य मुझे उस वक्त सूझा, तब तक यही मानता था कि पुराने लोगों को बड़े-बड़े आँकड़े सुनाने की आदत है, वह हमारे उपयोग की बात नहीं। लेकिन फिर ध्यान में आया कि ये सामूहिक उपासना के चिह्न हैं। शतं वैखानस ऋषि बोल रहे हैं–"वृणीमहे सख्याय वृणीमहे युज्याय" (९.३.१०)-हे भगवन्! हमने तेरा वरण किया है ताकि हम लोगों में आपस में सख्य हों, मेल हो, योग हो।

"यह सामूहिक साधना का निर्देश लगता है। सौ ऋषियों ने मिलकर तपस्या की है, उस साधना में उनको इस मन्त्र का दर्शन हुआ। इसमें भगवान् से जो प्रार्थना की है, वह एक के लिए नहीं समूह के लिए है।

व्यक्तिगत साधना के दिन बीत गए। अब समूहरूपेण प्रभुचरणों में पहुँचना है। आपस-आपस में सख्य न हो, योग न हो तो हम प्रभु को कैसे पा सकेंगे? इसलिए 'शतं वैखानस' की यह प्रार्थना है।"[1]

ध्यातव्य है कि बौद्ध श्रमणों की भाँति वैखानसों ने केवल संन्यास आश्रमों के नियमों का ही निर्धारण नहीं किया बल्कि उन्होंने गृह्यसूत्र एवं धर्मसूत्रों का निर्माण किया जिसमें गृहस्थ तथा समाज के धर्म का विस्तृत प्रतिपादन है। गृहस्थाश्रम के पश्चात् ही ये लोग वानप्रस्थ में जाते थे जो कालान्तर में इनके नाम का उपलक्षण बन गया। यह एक प्रक्रिया थी, जहाँ तक सामूहिक प्रार्थना का प्रश्न है, वेदों में एक व्यक्ति समूह के लिए प्रार्थना करता है और ऋषि-आश्रमों में गुरु-शिष्य के साथ प्रार्थना करने की परम्परा का उल्लेख मिलता है। सामूहिक-प्रार्थना-परम्परा का कोई ठोस प्रमाण नहीं प्राप्त होता।

वैखानस एक ऋषि विशेष थे जो 'व्यपोहिनी' नामक यज्ञ संस्कार की दीक्षा लेकर उत्पन्न हुए थे।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि व्यपोहिनी संस्कार का अभिप्राय अपनी बुराईयों को प्रकट कर देना है जिससे उनका गाम्भीर्य समाप्त हो जाय। 'व्यपोह' शब्द संस्कृत कोशों में उपलब्ध होता है।[3] खन् धातु से निष्पन्न व्युत्पत्ति भी इसी अभिप्राय का द्योतन करती है क्योंकि खन् का अर्थ खनन है। इस क्रिया से मिट्टी भीतर से बाहर निकालकर फेंकी जाती है। अतः

---

१. विनोबा साहित्य, भाग १, वेद-चिन्तन, परंधाम प्रकाशन, ग्राम सेवा मण्डल, पवनार, वर्धा, १९९३, पृष्ठ १७५-७६.
२. भारतवर्षीय प्राचीन चरित्रकोश, पं० सिद्धेश्वरशास्त्री चित्राव, भारतीय चरित्रकोश मण्डल, पूना-४, वर्ष १९६४, पृष्ठ ९०८.
३. संस्कृत हिन्दी कोश, डा० वी० आप्टे, पृष्ठ - ९८५.

यह अभिप्राय प्रतीकात्मक अर्थ के रूप में माना जाना अयुक्तियुक्त नहीं है। कादम्बरी में महर्षि जाबालि ने वैखानसों की एक विशेषता 'अनाथपरिपालनं हि धर्मोऽस्मद्विधानाम्' अर्थात् अनाथ-परिपालन बतलाया है।

यशस्तिलक के प्रणेता श्रीसोमदेव सूरि ने वैखानस का लक्षण बताते हुए लिखा है कि- 'ये बाल ब्रह्मचारी होते थे तथा स्नान, ध्यान तथा मन्त्र जाप-विशेष रूप से अघमर्षण मन्त्रों का जप करते थे-

"सर्वदा शुचिरिव ब्रह्मचारी तथापि लोकव्यवहारप्रतिपालनार्थं देवोपासनायामपि समाप्लुत्य वैखानस इव जपति जलजन्तूद्वैजनजनितकल्मषप्रघर्षणामघमर्षणतन्त्रान्मन्त्रान्।[1]"

बौद्धों के मज्झिमनिकाय में 'वेखणससूत्त' उपलब्ध है। यहाँ वेखणस (वैखानस) तथा बौद्ध का ज्ञान विषयक संवाद होता है।[2] बौद्ध धर्म के प्रचार के समय हिन्दूओं के विभिन्न प्रचलित मतों में वैखानस का महत्त्व अधिक प्रतीत होता है क्योंकि सम्पूर्ण भारतीय परम्पराओं को मानने के कारण इनका बुद्ध से शास्त्रार्थ होना प्राप्त होता है। इन पंक्तियों के लेखक को परम्परागत लोकप्रसिद्धि तथा स्थलपुराण के आधार पर यह पता चला है कि चित्रकूट धाम तीर्थ के निकट एक सूर्यकूण्ड है। यहाँ एक वैखानस ऋषि पैदा हुए थे। मुनि की तपस्या से प्रसन्न होकर सूर्यदेव प्रकट हुए तथा वैखानस ऋषि को अभीष्ट वर दिया। आज भी तीर्थयात्री इस सूर्यकुण्ड में स्नानादि करके पुण्य के भागी होते हैं। कूर्मपुराण में भी यह प्रतिपादित है कि वैखानस लोग सूर्य के उपासक थे।[3]

पाञ्चरात्रागम के प्राचीन ग्रन्थ जयाख्यसंहिता में वैखानस का लक्षण निरूपित करते हुए बताया गया है कि परिग्रहवान् विप्र जो परमेश्वरपूजन में रत रहता है। ब्राह्मणों, क्षत्रियों अथवा वैश्यों से याचित या अयाचित धन प्राप्त कर कुटुम्ब का भरण-पोषण करता है, उसे वैखानस वैष्णव कहा जाता है।[4] सर्वलक्षणकार ने इनके कार्य का निर्देश करते हुए कहा गया है कि ये स्वयं उद्भूत वनौषधियों से गाँव के बाहर रहकर अग्निहोत्रादि करते हैं।[5]

---

१. यशस्तिलक, पृष्ठ ४०८.
२. मज्झिमनिकाय, हिन्दी अनुवाद, अनुवादक, राहुल सांकृत्यायन, महाबोधि प्रकाशन, सारनाथ, द्वि०सं० १९६४, पृष्ठ ३२६.
३. वैखानसानामर्कः स्याद् यतीनां च महेश्वरः कूर्मपुराण, पूर्वार्द्ध २१/४५.
४. जयाख्यसंहिता - २२/१३-१४.
५. "अकृष्टपच्यौषधीभिर्ग्रामबहिष्कृताभिरग्निहोत्रादि कुर्वन्"। सर्वलक्षणसंग्रह, भिक्षुगौरीशंकर, रामघाट, काशी, च०सं०, संवत् १९९४, पृ० १२८.

सीतोपनिषद् में वैखानस का अर्थ 'मतविशेष' हैं।[१] नारदपरिव्राजकोपनिषद् का मानना है कि वैखानस ब्रह्मचर्य आदि चार आश्रमों में अन्यतम आश्रम है।[२] आश्रमोपनिषद् का उद्घोष है कि वैखानस वानप्रस्थ का पर्यायवाची है।[३]

कृष्णयजुर्वेद की चार शाखाएँ उपलब्ध हैं–आपस्तम्ब, सत्याषाढ, बौधायन तथा औखेय। इनमें वर्णित अन्तिम शाखा 'औखेय' का सम्बन्ध वैखानसों से प्रतीत होता है, जैसा कि वैखानस श्रौतसूत्र के वेंकटेश भाष्य से स्पष्ट है।[४] डॉ० वी० वरदाचारी ने वेदों के मन्त्रों का उद्धरण देकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि विखनस ऋषि ने विष्णु की पूजा का प्रारम्भ किया था।[५] प्रथम उद्धरण ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के १५५ वें सूक्त के प्रथम मन्त्र का है जिसमें वीर तथा विष्णु को साम समर्पित करने का उल्लेख है।[६] विमानार्चनकल्प में इस बात का उल्लेख है कि सोम का एक नाम वैखानस भी था जो 'दशरात्र यज्ञ' में सातवें दिन प्रयोग में लाया जाता था। बौधायन श्रौतसूत्र का कहना है "बृहदुत्तरे वैखानसं पूर्वेऽह्नि साम भवति"।[७] बृहद्देवता में कहा गया है कि चूँकि इस विश्व को पार्थिव अर्थात् पृथ्वी पर विद्यमान अग्नि पवित्र करती है अतः वैखानस ऋषियों ने इसको पवमान कहकर स्तुति की है।[८]

बौधायन धर्मसूत्र में अत्यन्त विस्तार के साथ वैखानसों के भेद-उपभेद का चित्रण किया गया है।[९] गौतमधर्मसूत्र[१०] वशिष्ठधर्मसूत्र[११] में वानप्रस्थ यतियों के लिए वैखानस शब्द का प्रयोग किया गया है।

महर्षि यास्क ने "विखननाद् वैखानसाः" ऐसी निरुक्ति की है।[१२] इसका लाक्षणिक अर्थ यह है कि ये लोग सामाजिक बुराईयों का उत्खनन कर

---

१. सीतोपनिषद्, ३१/२९.
२. नारदपरिव्राजकोपनिषद्, ३/२/२३.
३. आश्रमोपनिषद्, ३.
४. येन वेदार्थविज्ञेन लोकानुग्रहकाम्यया। प्रणीतं सूत्रमौखेयं तस्मै विखनसे नमः।। उद्धृत, भारतीय दर्शन, पं० बलदेव उपाध्याय, पृ० ६७३.
५. आगमाज़ एण्ड साउथ इण्डिया वैष्णविज्म, प्रो० एम० रङ्गाचार्य मेमोरियल ट्रस्ट, ट्रिप्लीचेन, मद्रास, १९८२, पृष्ठ ८१.
६. प्रवः पावन्तमन्धसो धियायते। महे शूराय विष्णवे चार्चत। - ऋग्वेद, १/१५५/१.
७. क. वैखानसं पूर्व इह साम भवति, ऊहे दशरात्रे सप्तमेऽह्नि। विमानार्चनकल्प, भूमिका, पृष्ठ २.
   ख. बौधायनश्रौतसूत्र, १६/२४/८.
८. पुनाति यदिदं विश्वमेवाग्निः पार्थिवोऽथ च। वैखानसर्षिभिस्तेन पवमान इति स्तुतः। -बृहद्देवता, २/२९.
९. बौधायनधर्मसूत्र, १/११/४/१६.
१०. गौतमधर्मसूत्र, ३/३५.
११. वशिष्ठधर्मसूत्र, ९/१०.
१२. निरुक्त, ३/१७.

बुद्धिजीवियों का ध्यान उधर आकर्षित करते थे जिससे उन्हें दूर किया जा सके। पण्डितरत्न तर्कार्णव उत्तामूर वीरराघवाचार्य ने "विशेषेण खननाद् गम्भीरार्थोद्धरणाद् विशिष्टवैष्णवधर्माधारणैकमीमांसनविशेषाद् विखना इति विखनस इति चोच्यते इति ज्ञायते।" यह परिभाषा वैष्णवधर्मावधारणा की दृष्टि से वैखानसविजय में की है।[१] जैमिनीयब्राह्मण में वैखानस का उल्लेख प्राप्त है।[२] वेदान्तदेशिक ने अपने ग्रन्थ न्यायपरिशुद्धि में वैखानस आगम का प्रामाण्य-स्थापन बहुत शक्तिशाली ढंग से किया है।[३]

आदिकाव्य वाल्मीकिरामायण के किष्किन्धाकाण्ड में तीन स्थलों में वैखानस का वर्णन उपलब्ध है। इन स्थलों के अनुशीलन से वैखानस वन में निवास करने वाले तपःशील ऋषियों का नाम था।[४] महाभारत के वनपर्व[५] तथा शान्तिपर्व में वैखानसों की चर्चा हुई है। इन स्थलों में भी सामान्यतः वैखानस को ऋषि-विशेष के रूप में ही निर्दिष्ट किया गया है।[६] मत्स्यपुराण,[७] ब्रह्माण्डपुराण[८] के स्थलों में वैखानस चार आश्रमों में अन्यतम तृतीय आश्रम का बोधक है। श्रीमद्भागवतमहापुराण में वैखानस का ऋषि-विशेष के रूप में निर्देश है।[९] देवीभागवत में वैखानसों को मिताहारी और जितव्रत कहा गया है।[१०] देवीपुराण में भी वैखानस की चर्चा प्राप्त होती है।[११] सन्त तुलसीदास कहते है कि "वैखानस सोइ सोचै जोगू। तपु विहाई जेहि भावइ भोगू।।[१२] सन्त तुलसी का कहना हैं कि वह वैखानस सोचने योग्य है जो तपस्या का त्याग कर भोग की ओर उन्मुख होता है । वामनपुराण में वैखानसों का वर्णन उपलब्ध है।[१३] वाङ्मयार्णव में वैखानस को दो भेदों में विभाजित कर वानप्रस्थ और वैखानस

---

१. लक्ष्मीतन्त्र धर्म और दर्शन, डॉ० अशोककुमार कालिया, अखिल भारतीय संस्कृत परिषद्, महात्मा गांधी मार्ग, हजरतगंज, लखनऊ, १९७७, पृष्ठ १४.
२. वैखानसं च प्राकर्षम्। - जैमिनीय ब्राह्मण, ३/२१, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति, प्र०सं० १९६७, पृष्ठ २०.
३. न्यायपरिशुद्धि, पृष्ठ १६९.
४. वा०रा०कि० काण्ड, ५०, ३१, ३३.
५. महाभारत, वनपर्व, ९/१६, ११४/१५, ४५/८.
६. शान्तिपर्व, २०/६, २६/६.
७. मत्स्यपुराण, २४/५०/५.
८. ब्रह्माण्डपुराण, १/२/२७ तथा २/३२/३५.
९. श्रीमद्भागवतमहापुराण, ३/११/४३.
१०. देवीभागवतपुराण, १/१९/१८.
११. वैखानसा महाभागा द्विजा वैहायसाश्च ये। सप्तर्षयः सदाराश्च ध्रुवस्थानानि यानि च।।
- देवीपुराण, ६७/४६.
१२. रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड । दोहा संख्या १७२ के पश्चात्
१३. वामनपुराण, १४/१२०.

ऋषि माना है। वैखानसों के उपभेद–वम्र तथा साम हैं जो विष्णु के पर्यायवाची है।[1] मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूकभट्ट ने 'वैखानसो वानप्रस्थः, तद्धर्मप्रतिपादक-शास्त्रदर्शने स्थितः'[2] कहकर यह बताया है कि वैखानसों का अपना एक आदर्श सिद्धान्त था। महर्षि भृगु के प्रकीर्णाधिकार में वैखानस अत्यन्त पावनशास्त्र के रूप में निरूपित है।[3]

परम्परा के अनुसार विखनस् ने 'दैविकसूत्रम्' की रचना की थी जिसे भृगु, मरीचि, अत्रि और कश्यप ने संक्षिप्त करके 'भगवच्छास्त्रम्' नामक चतुर्लक्ष-ग्रन्थात्मक रचना का निर्माण किया। वैखानस वैष्णव सम्प्रदाय से सम्बद्ध जन आन्ध्रप्रदेश, कर्णाटक तथा तमिलनाडु प्रदेशों के शहरों तथा गाँवों में पाए जाते हैं। इस सम्प्रदाय के लोग उक्त तीनों प्रदेशो में बसे रहने के बावजूद परस्पर समान रीतिरिवाजों तथा परम्पराओं से बँधे हुए हैं। वैखानस वैष्णव श्रीवैष्णवों से भिन्न अपनी अलग पहचान रखते हैं। ये वैखानस वैष्णव आचार्य रामानुज को अथवा आलवार सन्तों को अपनी गुरु-परम्परा में नहीं स्वीकार करते। मन्दिरों में इनकी अर्चा भी नहीं करते हैं और न तमिल प्रबन्धों का पाठ ही करते हैं।

वैखानसों के अपने श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र तथा धर्मसूत्र उपलब्ध होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वैखानसों का अपना ब्राह्मण भाग भी था।[4] महाभारत के अनुसार वैखानस भगवान् विष्णु का एक नाम है।[5] वैखानस ग्रन्थ के अनुसार इनकी परिभाषा अधोलिखित है–

विहङ्गरूपो भगवान् यां वाचमसृजद्विभुः ।
तां वाचमखनद् ब्रह्मा तस्माद्विखनसो मुनिः ।
नाम्ना विखनसं प्राहुः यं च वैखानसं तथा ।।[6]

अर्थात् विहङ्गरूपी भगवान् जिस वाणी का सर्वत्र विस्तार करते हैं उस वाणी का ब्रह्मा के द्वारा खनन किया गया, उसकी लोक में विखनस मुनि (ब्रह्मा) के द्वारा स्थापना की गयी, उसे ही वैखानस कहा जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से वैखानसों का जो परिचय प्राप्त होता है, तदनुसार ब्रह्मा द्वारा उद्भावित तथा विष्णु से प्रवर्तित सृष्टि के प्रारम्भ से ही वैखानसों की

१. वाङ्मयार्णवः, पं० रामावतारशर्मा, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी संवत् २०२४, ५६८९-९०.
२. मनुस्मृतिटीका, ६/२१.
३. अग्निर्वैखानसं शास्त्रं विष्णुर्वेदाश्च शाश्वताः। गायत्री वैष्णवा विप्राः सप्तैते बहुपावनाः।।
- प्रकीर्णाधिकार, ३०/७९.
४. आनन्दसंहिता, १/७८.
५. महाभारत, शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्व, ३३८/११७.
६. समूर्तार्चनाधिकरण, परिशिष्ट, अनुबन्ध-क, अध्याय ३/५-६.

सत्ता किसी न किसी रूप में विद्यमान थी। कालक्रम से इनके स्वरूप में परिवर्तन होता रहा है। आज वैखानसों का जो स्वरूप मौजूद है वह कैसे हुआ? इस तथ्य पर विचारोपरान्त अनुमान कर सकते हैं कि वर्णाश्रम-व्यवस्था में आस्थावान् लोग तृतीय आश्रम वानप्रस्थ में वैखानस के रूप में सपत्नीक समूर्ताराधन में रत थे। यह समूर्त आराधन तप के साथ-साथ चलती रही होगी। काल की चाल के साथ आश्रम-व्यवस्था में कमजोरी एवं परिवर्तन के फलस्वरूप प्राचीन काल से चले आ रहे वैखानसों के धार्मिक क्रिया-कलापों में बदलाव आया होगा और उत्तर काल में मन्दिर-मूर्ति-आराधन तथा गृह-मूर्ति-आराधन के रूप में उस परम्परा को मोड़ा गया होगा। वही प्राचीन वैखानस-परम्परा का बदला हुआ स्वरूप हमारे समक्ष आज वैखानस सम्प्रदाय के रूप में उपलब्ध है।

वैखानस आगम-साहित्य

वैखानस साहित्य अत्यन्त समृद्ध एवं विशाल है। प्रायः चार लाख ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है।[१] वैखानसागम के साहित्य की चर्चा के प्रसंग में इस आगम के विविध ग्रन्थों से प्राप्त वैखानसागम ग्रन्थों की सूचियों की विवेचना के आधार पर विस्तृत समीक्षा कर डॉ० राघवप्रसाद चौधरी महोदय ने निष्कर्ष रूप से कुल साठ ग्रन्थों का उल्लेख किया है। इनमें पूर्ण या अपूर्ण रूप में उपलब्ध ग्रन्थों की संख्या सत्रह है। इन सत्रह ग्रन्थों में मुद्रित आठ पूर्ण हैं तथा दो अमुद्रित ग्रन्थ प्रायः पूर्ण हैं। अवशिष्ट सात अमुद्रित ग्रन्थों के केवल कुछ अंश उपलब्ध हैं।[२]

"विखनाश्च विरिञ्चिनः" वैयासिक निघण्टु के अनुसार वैखानस आगम विखनस से प्रवर्तित था। यह आगम वैखानसधर्मसूत्र का अनुसरण करता है, यह निर्विवाद सत्य है।[३] वैखानस आगम का अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि विखनस के शिष्यों ने इस आगमशास्त्र का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन किया था और अलग-अलग वैखानसागम ग्रन्थों की रचना भी की थी। विखनस के नव शिष्यों का उल्लेख मिलता है-कश्यप, अत्रि, मरीचि, वशिष्ठ, अंगिरा, भृगु, पुलस्त्य, पुलह तथा क्रतु।[४] ऋषि के नव शिष्यों में चार ने ही वैखानसशास्त्रों की रचना की थीं, जिनके नाम है-अत्रि, भृगु, कश्यप तथा मरीचि।[५] ये

---

१. विमानार्चनकल्प पटल, १०१.

२. संस्कृतवाङ्मय का वृहद् इतिहास, तन्त्रागम, एकादश खण्ड, सम्पादक, प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी, निबन्ध डॉ० राघवप्रसाद चौधरी, उत्तरप्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, १९७९, पृष्ठ ३६.

३. विमानार्चनकल्प, पटल, १०१; आनन्दसंहिता, १७/४९.

४. काश्यपोऽत्रिर्मरीचिश्च वशिष्ठोऽङ्गिरसो ह्यहम्। पुलस्त्यः पुलहश्चैव क्रतुश्च नवसंख्यकाः।। एते विखनसः शिष्या लोकानुग्रहकारिणः। - विमानार्चनकल्प, भूमिका, पृष्ठ ५.

५. विमानार्चनकल्प, पटल १०१; यज्ञाधिकार, ५१/१३.

ऋषिगण अत्यन्त प्राचीन ऋषि हैं। स्थलमाहात्म्य के आधार पर यह दृढता के साथ कहा जा सकता है कि इन (ऋषियों) के आश्रम उत्तरभारत में ही स्थित थे। अस्तु वैखानस आगम ग्रन्थों की रचना उत्तरभारत में ही हुई थी। यह विलक्षण बात है कि आज इसके अनुयायी उत्तर- भारत में नहीं हैं। संभवतः इसका कारण यह है कि वैखानस जन कृष्ण यजुर्वेद के तैत्तिरीय औखेय शाखा से सम्बद्ध हैं और इनके देवालय भी ज्यादातर दक्षिण में ही हैं, जिनका संचालन वैखानस विधान से सम्पन्न होता है।

वैखानस-आगम के ग्रन्थ गद्य तथा पद्य उभयरूप में प्राप्त हैं। इन आगम-ग्रन्थों के देखने से यह कहा जा सकता है कि जीवन से सम्बद्ध धार्मिक तथा आध्यात्मिक विषयों का वर्णन ही इसका प्रमुख प्रतिपाद्य है। महर्षि अत्रि ने तन्त्रात्मक, मरीचि ने संहितात्मक, कश्यप ने काण्डात्मक तथा भृगु ने अधिकारात्मक ग्रन्थों का प्रणयन किया है। वैखानस आगम ग्रन्थ चार नामों में देखे जा सकते है।[1] इस आगम-वाङ्मय का संक्षिप्त परिचय अधोलिखित है–

१. विमानार्चनकल्प

मुनि मरीचि द्वारा प्रोक्त यह ग्रन्थ गद्य रूप में प्राप्त है। इस ग्रन्थ का सम्पादन श्री ब०र०च० भट्टाचार्य सेतुमाधवाचार्य, देवनागरी लिपि में चेन्नपुरी मद्रास से १९२६ में किया था।

२. आनन्दसंहिता

यह संहिता भी मुनि मरीचि द्वारा ही प्रणीत है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन तेलगुलिपि में ईगापालेम (आन्ध्रप्रदेश) से सन् १९२४ में हुआ था।

३. समूर्तार्चनाधिकरण

इस ग्रन्थ के प्रणेता महर्षि अत्रि हैं। इस ग्रन्थ का प्रकाशन तिरुमल तिरुपति देवस्थानम्, तिरुपति से १९४३ ई० में हुआ। सम्पादक पं० रघुनाथ चक्रवर्ती भट्टाचार्य हैं। यह ग्रन्थ ८३ अध्यायों में विभक्त श्लोकात्मक है।

४. कश्यपज्ञानकाण्डम्

ऋषि कश्यप द्वारा प्रोक्त यह ग्रन्थ गद्यात्मक रूप में प्राप्त है। श्री आर० पार्थसारथि द्वारा सम्पादित, तिरुमल तिरुपति देवस्थानम्, तिरुपति से १९४८ में प्रकाशित है। यह ग्रन्थ १०८ अध्यायों में विभाजित है।

५. क्रियाधिकार

तिरुमल तिरुपति देवस्थानम्, तिरुपति से १९५३ ई० में प्रकाशित महर्षि भृगु की रचना है।

---

1. वैष्णवागमविमर्शः, पृष्ठ १६, पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९९७.

६. खिलाधिकार

महर्षि भृगु द्वारा विरचित है। सन् १९६३ ई० में तिरुमल तिरुपति देवस्थानम् तिरुपति द्वारा देवनागरी लिपि में प्रकाशित है।

७. यज्ञाधिकार

यह महर्षि भृगु द्वारा रचित है। इस ग्रन्थ का सम्पादन श्री डी०डी० रंगाचारी द्वारा तेलगु भाषा में हुआ। हिन्दू रत्नाकर प्रेस, मद्रास द्वारा १९३० ई० में प्रकाशित है।

८. प्रकीर्णाधिकार

यह ग्रन्थ भृगु मुनि द्वारा प्रोक्त है। प्रकाशक है शैलेन्द्रनाथ एण्ड सन्स, मैलापुरम्, मद्रास। १९२९ में तेलगु भाषा में मुद्रित है।

९. आदिसंहिता

मातृका रूप में अप्रकाशितरूपेण मुनि मरीचि की रचना है। इसकी मातृका तिरुपति में श्री आर० पार्थसारथि भट्टाचार्य के पास है।

१०. भृगुसंहिता

अप्रकाशित मातृका मद्रास गवर्नमेण्ट ओरियेण्टल मैन्युस्क्रिप्ट लाइब्रेरी, मद्रास तथा वेंकटेश्वर प्राच्य शोध संस्थान, तिरुपति में सुरक्षित यह प्रायः पूर्ण ग्रन्थ है। महर्षि भृगु रचयिता हैं।

इन मातृकाओं के अतिरिक्त और भी अपूर्ण ग्रन्थ मातृका रूप में उपलब्ध हैं–

११. अर्चाधिकार

महर्षि भृगु द्वारा प्रोक्त तिरुपति में पार्थसारथि भट्टाचार्य के पास सुरक्षित है।

१२. वासाधिकार

इसकी मातृका तिरुपति में आर० पार्थसारथि भट्टाचार्य के पास रक्षित है। यह मुनि भृगु की रचना है।

१३. निरुक्ताधिकार

यह भृगु द्वारा विरचित है। इसकी मातृका आर० पार्थसारथि भट्टाचार्य के पास तिरुपति में उपलब्ध है।

१४. मानाधिकार

मातृका आंशिक रूप में उपलब्ध भृगु की रचना है।

१५. चित्राधिकार

इसके रचनाकार भी भृगु हैं। मातृका आंशिक रूप में प्राप्त है।

१६. वर्णाधिकार

मातृकारूप उपलब्ध, भृगु की रचना, अपूर्ण है।

१७. पुरातन्त्रम्

आंशिक रूप में मातृका उपलब्ध है, रचना भृगु मुनि की है। इन ग्रन्थों का उल्लेख विमानार्चनकल्प में है।[1]

इस साहित्य के अतिरिक्त टीका-व्याख्या पद्धति के कुछ ग्रन्थ उपलब्ध हैं–

१. प्रतिष्ठाविधिदर्पणम्

इस ग्रन्थ के रचनाकार श्रीनरसिंह वाजपेय हैं। श्री आर० पार्थसारथि भट्टाचार्य द्वारा सम्पादित तेलगु लिपि में मद्रास से सन् १९४८ में प्रकाशित है।

२. वैखानसगृह्यसूत्र-तात्पर्यचिन्तामणिव्याख्या

यह श्रीनिवास मखिन् की रचना है। दो भागों में श्री आर० पार्थसारथि भट्टाचार्य द्वारा सम्पादित, तिरुमलैतिरुपति देवस्थानम्, तिरुपति द्वारा १९६७ ई० में प्रकाशित।

३. वैखानसमहिममञ्जरी

वैखानसकल्पसूत्र की व्याख्या है। श्रीनिवासमखिन् द्वारा विरचित है। इसका प्रकाशन सन् १९१३ ईस्वी में हिन्दू रत्नाकर प्रेस, मद्रास से हुआ है।

४. आनन्दसंहिताटीका

भट्टारपार्थसारथि द्वारा रचित, ईगापालेम (आन्ध्रप्रदेश) द्वारा १९२४ ई० में प्रकाशित है।

५. बादरायणसूत्रवृत्ति

यह लक्ष्मीविशिष्टाद्वैतभाष्य श्री केशवाचार्य की रचना है।

६. कश्यपाज बुक ऑफ विज्डम

यह कश्यपज्ञानकाण्ड का अंग्रेजी अनुवाद है। जिसका प्रकाशन हेग से १९६५ ई० में हुआ था। अनुवादक हालैण्डवासी डॉ० टी० गाड्रीयन हैं। प्रयास स्तुत्य है।

७. वैखानस आगम (भाग ३)

प्रो० एस०के० रामचन्द्रराव द्वारा सम्पादित कल्पतरु रिसर्च एकेडमी, बंगलौर, १९९० ई० में प्रकाशित है। कुछ टीका ग्रन्थ भी उपलब्ध होते हैं।[2]

---

१. विमानार्चनकल्प, पटल १०१.

२. वैष्णवागमविमर्शः, पृष्ठ १८.

८. वैखानस आगम कोष

एकादश खण्डों में राष्ट्रिय संस्कृतविद्यापीठ, तिरुपति से प्रकाशित हैं। इन कार्यों के सम्पादक प्रो० एन०एस० रामानुज ताताचार्य, प्रो० लक्ष्मीनरसिंहभट्ट एवं आचार्य हयवदन पुराणिक आदि हैं। इन कोशों में क्रमशः आलयनिर्माण का साङ्गोपाङ्ग स्वरूप, वास्तुस्वरूप, प्रतिमाशास्त्रीय तथा प्रतिमा-प्रतिष्ठा तथा अर्चनप्रकरण, उत्सव-स्वरूप, स्नपन-विधान तथा प्रायश्चित्त विषय का विस्तृत विवेचन किया गया है। वस्तुतः उक्त विषयों का यह एक दस्तावेज है।

९. "LE TEMPLE SELO MARICI" by Gerald Colas. Publication-de Institute Francais Indonlogy, No. 71, Pondichery 1986, page 321 "दी टेम्पल श्री मरीचि" इस ग्रन्थ के प्रणेता हैं फ्रांस के विद्वान् प्रो० जेराई कोलास्, सन् १९८६ में फ्रेञ्च इस्टीच्यूट, पाण्डिचेरी से प्रकाशित है। ग्रन्थ में वैखानस शास्त्र के अनुसार प्रासाद-निर्माण की पूरी प्रक्रिया प्रतिपादित है, साथ ही २० प्लेट (प्रासाद-कल्पना के विभिन्न स्तर के मानचित्र) भी निर्मित हैं।

१०. "VISNU, SEE IMAGES ET SES FEUX" : LES METAMORPHOSES DIEU CHEZ LES VAIKHANAS by GERALD COLAS, L'ecole Francaise d'extreme–Orient, Paris, 1996. Pages 412 "विष्णु हिज इमजेज़ एण्ड हिज फायर, मेटामोरफोसिस आफ दी गाड ऐट दी हाउस ऑफ वैखानस", बाई प्रो० जेराल्ड कोलास, फ्रेञ्च स्कूल फॉर-ईस्ट, पेरिस, से सन् १९९६ ई० में प्रकाशित हुई है। पुस्तक की भाषा फ्रेञ्च है। निःसन्देह ग्रन्थ में विद्वान् विचारक द्वारा वैखानस शास्त्र पर गम्भीर गवेषणा की गई है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैखानस वैष्णवागम का प्रकाशित तथा अप्रकाशित साहित्य उपलब्ध है। इस आगम साहित्य का बहुत बड़ा अंश अप्रकाशित ही है। जो कुछ देश या विदेश से प्रकाशित है वह पर्याप्त नहीं माना जा सकता। यह एक जीवन्त सम्प्रदाय है। इनके सारे क्रियाकलाप ग्रन्थों के आधार पर सम्पादित होते हैं। अस्तु, आज आवश्यकता इस बात की है कि वैखानस वाङ्मय का योजनाबद्ध रूप से अन्वेषण कर उसे प्रकाशित किया जाए।

इस आगम को भागवत नाम से भी जाना जाता है।[1] यह कथन कल्पसूत्र की टीका से स्पष्ट है। अन्य ग्रन्थों में भी इसे अलग से उल्लिखित किया है। बाणभट्ट ने बौद्ध महात्मा दिवाकर मित्र के प्रसंग में "भागवत तथा पाञ्चरात्रिक" दोनों का उल्लेख किया है।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों का उल्लेख अलग-अलग इसीलिए किया गया है कि विष्णु की उपासना दो प्रकार से प्रचलित थी। अवन्तिसुन्दरी में दण्डी ने भी "विखनस-विधान" का उल्लेख किया है।[3] दण्डी का काल सप्तशतक का उत्तरार्द्ध है। इससे यह स्पष्ट है कि सप्तम शतक तक वैखानस पूजा पद्धति का प्रचलन समाज में प्राप्त था।

वैखानस मूलतः एक धार्मिक प्रक्रिया है। इसने किसी स्वतन्त्र दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया है। किन्तु मध्यकालीन स्मृतिकारों ने इसे धर्म तथा दर्शन दोनों ही माना है।[4]

परवर्ती विद्वानों ने वैदिक परम्परा से मूर्तिपूजा के विधान को मानते हुए पुनर्प्रतिष्ठा का प्रयास किया है। श्रीनिवासमखी या श्रीनिवास दीक्षित नामक विद्वान् ने शारीरकसूत्र पर एक टीका लिखी है जिसे वेदान्तिक प्रस्थान कहा जा सकता है। इस टीका का नाम 'लक्ष्मीविशिष्टाद्वैतभाष्य" है। अनेक मतभेदों के होते हुए भी अपने सिद्धान्त को विशिष्टाद्वैत माना है। इन्हें सर्वतन्त्र, स्वतन्त्र तथा 'कविकुल तिलक' की उपाधि दी गयी है। इनके अन्य ग्रन्थों में 'वैखानसमहिममञ्जरी' 'पारमात्मिकोपनिषद्भाष्य' अधिक प्रसिद्ध है। श्रीनिवास नाम के एक दूसरे व्यक्ति ने (जिसे प्रायः लोग यही श्रीनिवास समझते हैं) "उत्तमब्रह्मविद्या नामक" एक दूसरे ग्रन्थ की रचना की है। ये सभी ग्रन्थ वैखानस दर्शन के प्रतिपादक हैं। किन्तु जिसमें सर्वाधिक विस्तार से वैखानस दर्शन का प्रतिपादन किया गया है, उसका नाम "मोक्षोपायप्रदीपिका" है। इसके रचयिता रघुपति भट्टाचार्य हैं, जिनका दूसरा नाम वासुदेव है। इस ग्रन्थ की रचना कब हुई? इसका ज्ञान नहीं है। इसमें विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्त जैसे

---

१. बृहत्ब्रह्मसंहिता, ११०, १९.
२. 'हर्षचरित', पृ. २३८-२३९, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई
३. "वृक्षे च विखनसविधानविहिते विधौ स्थानस्थापितेषु प्रज्वलत्सु प्रदीपेषु।"
   - अविन्तसुन्दरी, पृ. १५८.
४. "वैखनसो वानप्रस्थो तद्धर्मप्रतिपादक शास्त्रदर्शनेस्थितः।"
   - मनुस्मृति ६.२१ कुल्लूकभट्ट की टीका

'अर्थपञ्चक' 'तत्त्वत्रय' 'सिद्धसाध्योपाय' आदि का वर्णन है। किन्तु लेखक ने वैखानस के ही ग्रन्थों का आश्रय लेकर प्रतिपादन किया है।[1]

'मोक्षोपायप्रदीपिका' में १२ खण्ड हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ में "लक्ष्मीविशिष्टाद्वैतभाष्य" "उत्तमब्रह्मविद्या" तथा "वैखानसमहिममञ्जरी" का सहारा लिया गया है। व्याख्या के समय वेद तथा उपनिषदों के प्रभूत उद्धरण उपलब्ध होता है किन्तु उनके मूल का उल्लेख नहीं है। इस ग्रन्थ का एक संस्करण "वेंकट नरसिंहाचार्य" द्वारा १९४८ में "वैखानसभगवच्छास्त्र ग्रन्थमाला सिरीज" में "नूल्लूर" से छपा था जो १९०५ के संस्करण पर आधारित था। इसमें वैखानस परम्परा के आचार्यों का उल्लेख है जो महर्षि भृगु से चली है। इस ग्रन्थ के अनुसार स्वयं विष्णु ने 'वैखानस' ऋषि 'वैखानस शास्त्र' 'द्वय' तथा मूल मन्त्र का उपदेश दिया है। अपनी इस कथन की पुष्टि में ब्रह्माण्डपुराण का उद्धरण पेश किया है। बृद्धहारितसंहिता में तीन प्रकार की पूजाओं का उल्लेख है- "श्रौत, स्मार्त तथा आगमिक।" आगमिक पूजा मूल मन्त्रों के आधार पर होती है। वैखानस लोगों का दृष्टिकोण वैदिक पूजा की ओर है।[2] मोक्षोपायप्रदीपिका को लेखक वैखानस तथा पाञ्चरात्र की कड़ी जैसा लगता है। दूसरे खण्ड का नाम 'अर्थपञ्चक' है। इसमें पाँच बातों पर विचार किया गया है- (१) 'प्राप्य' अर्थात् ब्रह्म, (२) 'प्राप्ति' अर्थात् जीव, (३) 'प्राप्त्युपाय', (४) 'फल' एवं (५) 'प्राप्तिविरोधी'। 'प्राप्त' ब्रह्म के 'सकल' तथा 'निष्कल' दोनों स्वरूपों का वर्णन है। ब्रह्म के दोनों पक्ष अविभाज्य हैं, अतः अद्वैत है। जीव अर्थात् 'प्रत्यगात्मा' तीन श्रेणियों में विभक्त है- (१) नित्य अर्थात् सनक, अनन्त आदि (२) मुक्त (३) बद्ध। प्रथम प्रकार के जीव सदा मुक्त रहते हैं। दूसरे प्रकार के जीव बन्धन में रहते हैं किन्तु भगवद्भक्ति से मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं। तीसरे प्रकार के जीव 'अनाद्यविद्या' से ग्रसित हैं और प्रपत्तिपूर्वक भगवद् आराधना से मुक्ति इनकी हो सकती है।[3]

इसके अनन्तर तत्त्वत्रय का निरूपण है। "द्वौ एतौ पक्षी अचरं चरन्तौ" यह उद्धरण देकर परमात्मा तथा प्रत्यगात्मा को दो पक्षी माना गया है। अचर का सम्बन्ध प्रकृति से है जो स्थिर है। प्रकृति के दो गुण हैं। प्रथम भौतिक जिसके आठ भाग हैं। पाँच तत्त्व, मन, बुद्धि तथा अहंकार और दूसरा आध्यात्मिक

१. 'आगमकोष, भाग ३, वैखानस आगम (आगम इन्साइक्लोपीडिया), प्रो. एस.के. रामचन्द्र राव, कल्पतरु रिसर्च अकादमी, बंगलौर, १९९०, पृ. १०४.

२. "श्रौतस्मार्तागमैर्विष्णोस्त्रिविधं पूजनं स्मृतम्" - बृद्धहारीतसंहिता, ११, २६.

३. आगमकोश, भाग ३, वैखानस, आगम, प्रो. एस.के. रामचन्द्र राव, कल्पतरु रिसर्च अकादमी, बंगलौर, १९९०.

अर्थात् जीव। इसमें चेतनता होती है। भौतिक प्रकृति में सत्व, रज तथा तम नामक तीन गुण होते हैं जिन्हें हम काल, तत्त्व तथा शुद्ध सत्त्व कह सकते हैं। शुद्ध सत्व ज्ञान है।[1]

इस पुस्तक में ईश्वर को प्रकृति तथा पुरुष का सहायक बताया गया है। इसमें 'इशित्व' है इसीलिए ईश्वर पूर्ण है तथा पर है। वह उपादान तथा निमित्त दोनों कारण है। इसीलिए इसे नारायण कहते हैं। ईश्वर लक्ष्मी तथा पुरुष से युक्त रहता है।[2] तत्त्व तीन प्रकार का है। लक्ष्मीविशिष्ट ईश्वर तत्त्व, प्रकृति तथा पुरुष। प्रथम तत्त्व विष्णु या नारायण कहा जाता है जो प्रथम तत्त्व को समर्पित करते हैं उन्हें 'नारायणपरायनो निर्द्वन्दो मुनिः' कहा जाता है। इस 'नारायण' की जो वैखानस उपासना करता है उसे जन्म-सिद्ध वैष्णव माना जाता है। इस कथन का उल्लेख श्रीनिवासमखी ने अपने ग्रन्थ "वैखानसमहिमञ्जरी" में किया है।

'नारायण-परायण' का तात्पर्य है कि नारायण नित्य प्राप्त है, अर्थात् सिद्धोपाय जो व्यक्ति मुक्ति चाहता है उसे इसके प्रति 'प्रपन्न' होना चाहिए। 'सिद्धोपाय' दो हैं- प्रथम "सिद्ध" तथा दूसरा साध्य। इसके अन्य उपांग भी हैं यथा- ज्ञान, उपासना, प्रपत्ति, आत्मसमर्पण और कर्मादि। इसमें अन्य ग्रन्थों की भाँति जपहोमादि का भी वर्णन है। स्पष्ट उल्लेख है कि सगुण ब्रह्म में बुद्धि का प्रवेश कराकर, निर्गुण ब्रह्म का आश्रय लेकर मोक्ष प्राप्त करना चाहिए।[3] अभिप्राय यह है कि निर्गुण का ध्यान अशक्य है। अस्तु प्रतिमादि के वाह्य अर्चा द्वारा उसे प्राप्त किया जा सकता है।[4] नृसिंहवाजपेययज्ञिन ने अपने वैखानस सूत्र के भाष्य में इसी बात का उल्लेख किया है।[5]

---

१. आगमकोष, भाग ३, वैखानस, आगम, प्रो. एस.के. रामचन्द्र राव, कल्पतरु रिसर्च अकादमी, बंगलौर, १९९०.
२. तत्रैव
३. "सगुणे ब्रह्मणि बुद्धिं निवेश्य पश्चान्निर्गुणं ब्रह्माश्रित्य मोक्षे नित्यं यत्नं कुर्यात्।" - तत्रैव
४. "सदा ध्यातुमशक्यत्वान्प्रतिमादिष्वावाह्यार्चयेत्।" - तत्रैव
५. इदानीं अस्मिन् जन्मन्येव मोक्षोपायमाह। 'सगुणे ब्रह्मणि बुद्धिं निवेश्य' इति। योगी सगुणे पूर्वोक्तलक्षणे साकारे ब्राह्मणि बुद्धिं मनः प्रथमं निवेश्य तद्रूपं तद्गतमानसः सन् एवंविधं परं ब्रह्मेति ज्ञात्वा पश्चात् तदनु निर्गुणं पूर्वोक्त लक्षणान्वितं निराकारमोंकारगम्यं अव्यक्तं ब्रह्माश्रित्य मनः संप्रापयित्वा तद्रूपं ध्यात्वा नित्यं आमोक्षान्तं एव मोक्षे यत्नं उद्योगं कुर्यात्। तस्य योगिन इह जन्मन्येव मोक्षो भवेत्।
- आगमकोष भाग ३, वैखानस आगम, कल्पतरु अकादमी, बंगलौर, १९९०.

पूजा दो प्रकार की मानी गयी है- वैदिक तथा तान्त्रिक। वैदिक की विशेषता यह है कि वैदिक आराधक जन्मान्तरीय संस्कारों से मुक्त होने के कारण वैखानस का अधिकारी है जबकि सामान्य व्यक्ति मानव गुरु से दीक्षा लेकर तान्त्रिक विधि से वैखानस का अधिकारी होता है। इस प्रकार के अधिकारी को उस सीमा तक ज्ञान होता है, जहाँ तक उसके गुरु का निर्देश प्राप्त होता है। वैखानसों के यहाँ संस्कार आदि की अवहेलना कतई स्वीकार नहीं है।

मुण्डकोपनिषद् में स्पष्ट उल्लेख है कि **"क्रियावान् एष ब्रह्मविद्यां वरिष्ठः"** क्रिया की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि **"क्रिया जपामूर्ताराधनसमूर्ताराधन-ध्यानक्रिया।"** वैखानस में अद्वैत का अभिप्राय केवल विष्णु से नहीं है बल्कि 'लक्ष्मीविशिष्ट' विष्णु से है अतः लक्ष्मी को अलग तत्त्व स्वीकार नहीं किया गया।[१]

नारायण की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि **'नरशब्देन जीवानां समूहः प्रोच्यते बुधैः। तेषां अयनभूतावान् नारायणयिहोच्यते।।'** दूसरी व्याख्या 'न रिष्यति न नश्यति इति नरः' अर्थात् जो अविनाशी होते हुए अखिल ब्रह्माण्ड का आधार है वही 'नर' है। 'प्रणव' ही नारायण है। नारायणप्रवणत्वात् 'प्रवण' शब्द ही 'प्रणव' हो जाता है, यथा 'शब्द पश्यक' (दर्शक परमतत्त्व को देखने वाला द्रष्टा) ही वर्ण विपर्यय से कश्यप ऋषि बन गया है।

'प्रणव के तीन अक्षर 'अ' 'उ' तथा 'म' क्रमशः विष्णु, लक्ष्मी या प्रकृति तथा जीव के प्रतीकभूत माने गये हैं। 'प्रणव' स्थित लक्ष्मी या प्रकृति का प्रतीक भूत 'उ' नारायण तथा जीव के मध्य में अवस्थित माना गया है। नारायण उससे पर होने के कारण 'परमतत्त्व' के रूप में प्रतिष्ठित है। इस प्रकार इनका तत्त्व 'तत् का भाव' है।[२]

तिरुपति स्थित भगवान् वेङ्कटेश (बालाजी) की विग्रहाराधना आज भी वैखानस-विधान के अनुसार सम्पादित होती है।

---

१. 'श्रीश्रीशयोस्तु सम्बन्धः चन्द्रचन्द्रिकयोरिव।
तस्मात्तया श्रिया सार्धं पूजयेत्पुरुषोत्तमम्।।'
आगमकोष, भाग ३, वैखानस आगम, कल्पतरु रिसर्च अकादमी, १९९०.

२. तत्रैव.

पाञ्चरात्र आगम

नाम-व्युत्पत्ति एवं आगम-परिचय

'पञ्चरात्र' दो शब्दों में मेल से बना है – 'पञ्च' तथा 'रात्र'। 'पञ्च' शब्द का अर्थ स्पष्ट है पाँच संख्या,[1] रात्र शब्द प्रचलित रात्रि शब्द का अन्य रूप माना जाता है। 'रा' धातु से निष्पन्न 'त्रिप्' प्रत्यययुक्त शब्द से रात्रि शब्द बनता है[2] जिसका अर्थ दिन न होना या प्रकाशाभाव माना जाता है। रात्रि शब्द का लाक्षणिक अर्थ आनन्द की प्राप्ति भी मानी जाती है अर्थात् वह अवस्था जिसमें आनन्द प्राप्त हो।[3] इस प्रकार पाञ्चरात्र शब्द का अभिप्राय हुआ पाँच रात्रियों का समय। परवर्ती विचारकों ने इसका अभिप्राय यह निकाला कि पाञ्चरात्र वह विद्या है जो पाँच रात्रियों में पूर्ण रूप से प्राप्त की गयी।

पाञ्चरात्र या पञ्चरात्र दोनों ही समानार्थक शब्द माने गये हैं जिनकी व्युत्पत्ति 'पञ्चरात्रमधिकृत्य कृतम्' की गयी है। पञ्चरात्र समास को तीन तरह से व्याख्यायित किया जाता है – (१) पञ्चानां रात्रीणां समाहारः, (२) पञ्चविधं रात्रम्, (३) पञ्च विद्यन्ते रात्रयो यस्मिन् तत्। तीनों ही प्रकार की व्याख्याओं में 'रात्रि' (रात्र) शब्द को लेकर ही उलझन है। पाञ्चरात्र शब्द की व्याख्या के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं पर ध्यान अपेक्षित है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में 'पाञ्चरात्र' सर्वप्रथम शतपथब्राह्मण में दिखलायी पड़ता है। वहाँ पर प्रयुक्त पाञ्चरात्र शब्द का अर्थ परोक्ष रूप से पुरुष तथा नारायण की एकता को निर्देशित करते हुए पाँच रात्रियों में समाप्त होने वाले यज्ञ का विधान बताया गया है।[4]

महाभारत के नारायणीयपर्व में प्रयुक्त शब्द भी नारायण का सम्बन्ध पञ्चयज्ञों तथा पञ्चरात्रों में स्थापित करता है।[5] पञ्च आहुतियों! तुम्हें प्रणाम है,

---

१. 'संख्यापूर्वरात्रे बहुलम्' लिंगानुशासनम्, १३१.
२. 'राशादिभ्यां त्रिप्' उणादिसूत्र, ५०७.
३. नामलिंगानुशासनम्, १.४.४ टीका भानुजी दीक्षित।
४. स एतं पुरुषमेधं पञ्चरात्रं यज्ञक्रतुमपश्यत्-शतपथब्राह्मण, १३/६.
५. पञ्चयज्ञं पञ्चकालकर्तृपक्षे पञ्चरात्रिकम्, महाभारत, नारायणीयपर्व, १२/३३८/४.

हे पञ्चरात्र! पञ्चकाल कृत्य करने वालों के तुम्हीं स्वामी हो। सामान्य रूप से इसमें पञ्चरात्रिक या पाञ्चरात्र शब्द की व्याख्या की गयी हैं। 'पञ्चरात्रिक' शब्द नारायण के विशेषण के रूप में प्रयुक्त है। इसका सम्बन्ध शतपथब्राह्मण के सन्दर्भ में विहित सा लगता है। इस सन्दर्भ में नारायण का सम्बन्ध पञ्चकाल अर्थात् पाँच रात्रियों में होनेवाले कृत्यों से है।

महाभारत के मोक्षधर्मपर्व में पञ्चरात्र की एक परिभाषा दी गयी है–

एकमेकं सांख्ययोगं वेदारण्यकमेव च ।
परस्पराङ्गान्येतानि पञ्चरात्रं च कथ्यते ।।[१]

प्रस्तुत श्लोक में पाँच प्रचलित मतों को परस्पर अवयव के रूप में माना गया है। 'एकम्' का अर्थ एकान्तिक धर्म तथा 'च' का अर्थ अतः मानने पर पञ्चरात्र शब्द का अभिप्राय इन पाँच प्रक्रियाओं से सम्बन्धित हो जाता है। अतः 'रात्र' शब्द का अर्थ यहाँ ज्ञान की एक प्रक्रिया है। ऐतिहासिक क्रम में इस शब्द का लाक्षणिक-दार्शनिक अर्थ देने का यह प्रथम प्रयास है। इन्हें हम पञ्चरात्र शब्द के क्रमिक विकास का रूप दे सकते हैं।

पाञ्चरात्र के पारम्परिक ग्रन्थों में सर्वप्रथम पौष्करसंहिता का उल्लेख किया जा सकता है। इसमें दी गयी परिभाषा मोक्षधर्मपर्व से भिन्न है। इसमें दी गयी पाञ्चरात्र की परिभाषा से यह स्पष्ट होता है कि इस ज्ञान का स्रोत पुराण, वेद, सांख्य तथा योग है।[२] इसी में यह भी बताया गया है कि यज्ञ का ज्ञान धूमिल पड़ गया। इसके धूमिल पड़ने का कारण शास्त्रों की महत्ता का अधिकाधिक रूप में प्रतिपादन था। प्रस्तुत परिभाषा में उपर्युक्त पाँच शास्त्रों से तुलना करके इसकी महत्ता का प्रतिपादन किया गया है।

पाद्मसंहिता में तीन श्लोकों में यह प्रतिपादित किया गया है कि पाञ्चरात्र के अभ्युदय से ऊपर निर्दिष्ट पाँचों शास्त्र मलिन पड़ जाते हैं। इनकी अवस्था दिन उगने पर नक्षत्रों के छिप जाने जैसी हो जाती है। तीसरे श्लोक में उनकी तुलना उस रात्रि से की गयी है जो सूर्योदय होते ही लजीली नायिका की भाँति छिप जाती है।[३] अनिरुद्ध तथा मार्कण्डेयसंहिता में इन्हीं बातों का प्रतिपादन किया गया है।[४]

---

१. मोक्षधर्मपर्व, १२/३३६/७६.
२. पुराणं वेदवेदान्तं तथान्यत्सांख्ययोगजम् ।। पञ्चप्रकारं विज्ञेयं यत्र रात्र्यायतेऽब्जज । फलोत्कर्षवशेनैव पञ्चरात्रमिति स्मृतम् ।। पौष्करसंहिता, ३८/३०७-०८.
३. पञ्चेतराणि शास्त्राणि रात्रीयन्ते महान्त्यपि । तत्सन्निधौ समाख्याऽसौ तेन लोके प्रवर्तते।। चन्द्रतारागणं यद्वत् शोभते नैव वासरे । तथेतराणि शोभन्ते पञ्च नैवास्य सन्निधौ ।। पञ्चत्वमथवा यद्वद्दीप्यमाने दिवाकरे । ऋच्छन्ति रात्रयस्तद्वद् इतराणि तदन्तिके ।।
पाद्मसंहिता, १/१/७२-७४.
४. (क) अनिरुद्धसंहिता, १/३६/८; (ख) मार्कण्डेयसंहिता, २/६.

अहिर्बुध्न्यसंहिता में मोक्षप्रदायक परमात्मा के पाँच स्वरूपों का उल्लेख करते हुए पाञ्चरात्र को मोक्षदायक पद्धति बताया गया है। परमात्मा के ये पाँच स्वरूप क्रमशः पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी तथा अर्चा हैं।[१] यद्यपि स्पष्ट रूप से इस बात का उल्लेख नहीं है; किन्तु अनुमान के लिए पर्याप्त आधार है कि विष्णु की इन पाँच अभिव्यक्तियों का पाँच रात्रियों से सम्बन्ध है।

शाण्डिल्यसंहिता में पाञ्चरात्र का दार्शनिक विवेचन किया गया है। सांख्य, योग, शैव, वेद और आरण्यकों को रात्रि कहा गया है। यहाँ रात्रि का अभिप्राय है वह काल तथा ज्ञान, जिसमें मनुष्य को आनन्द प्राप्त होता है। संहिता में इस बात पर बल दिया गया है कि उस परमानन्द की प्राप्ति के लिए केवल एक ही शास्त्र का ज्ञान अपेक्षित है और वह है पाञ्चरात्र। इन शास्त्रों की तुलना रात्रि से करते हुए संहिताकार जोर देकर कहता है कि पाञ्चरात्र सम्प्रदाय का भक्त इन पाँचों रात्रियों में पाये जाने वाले पृथक्-पृथक् आनन्दों को एक ही साथ प्राप्त कर लेता है।[२]

ईश्वरसंहिता में 'रात्र' शब्द का अभिप्राय एक रात में दिये जाने वाले उपदेश से लिया गया है। इस संहिता में ब्रह्मा ने अपना पूर्वार्जित पञ्चायुधों का प्रतीकभूत ज्ञान पाँच ऋषियों को दिया, इनके नाम है – शाण्डिल्य, औपगायन, मौञ्जायन, कौशिक तथा भारद्वाज। इन ऋषियों ने ब्रह्मा से रात-दिन इस विषय पर चर्चायें कीं इसीलिए इस शास्त्र को पाञ्चरात्र कहते हैं।[३] भारद्वाजसंहिता में 'रात्र' शब्द का अर्थ रात्रदिवसीय शास्त्रचर्चा है। इसमें पाँच दिव्य पुरुषों का उल्लेख है जिन्होंने पाँच रात्रियों में इस शास्त्र का उपदेश दिया। इनके नाम है – ब्रह्मा, शिव, इन्द्र, नाग तथा ऋषि।[४] विहगेन्द्रसंहिता में भी लगभग इसी तरह की परिभाषा दी गयी है।[५]

---

१. तत्परं व्यूहविभवस्वभावादिनिरूपणम्। पञ्चरात्राह्वयं तन्त्रं मोक्षैकफलदायकम्।।
अहिर्बुध्न्यसंहिता, ११/६३/४.

२. सांख्यं योगस्तथा शैवं वेदारण्ये च पञ्चकम्। प्रोच्यन्ते रात्रयः कान्ते आत्मानन्दसमर्पणात्।।
पञ्चानामीप्सितो योऽर्थः स यत्र समवाप्यते । परमानन्दमेतेन प्राप्नोति परमात्मनः।।
शाण्डिल्यसंहिता, १/४/७५-७६.

३. पञ्चायुधांशस्ते पञ्च शाण्डिल्यश्चौपगायनः। मौञ्ज्यायनः कौशिकश्च भारद्वाजश्च योगिनः।।
पञ्चापि पृथगेकैकं दिवारात्रं जगत्प्रभुः । अध्यापयामास यतस्तदेतन्मुनिपुङ्गवाः।।
शास्त्रं सर्वजनैर्लोके पञ्चरात्रमितीर्यते- ईश्वरसंहिता, २१/५१९-२३.

४. प्रथमं ब्रह्मरात्रं तु द्वितीयं शिवरात्रकम् । तृतीयमिन्द्ररात्रं तु चतुर्थं नागरात्रकम् ।
पञ्चममृषिरात्रं तु पञ्चरात्रमिति स्मृतम् । भारद्वाजसंहिता, २/१२-१३.

५. विहगेन्द्रसंहिता, १/१४-१५.

परमसंहिता में पाँच महाभूतों के पाँच गुणों को प्राणियों की रात्रि माना है। उस रात्रि से मुक्ति-साधक शास्त्र को पाञ्चरात्रशास्त्र कहा गया है। इस संहिता से भूतमात्र को गर्व, अहंकार तथा अव्यक्त पुरुष की रात्रि स्वीकारा गया है।[१] विष्णुसंहिता,[२] विष्णुतन्त्र,[३] कपिञ्जलसंहिता[४] तथा हयशीर्षसंहिता[५] में भी रात्रि में स्थूल पञ्चमहाभूतों से उत्पन्न होने वाले आनन्द को यहाँ रात्रि माना गया है। ये अविद्या होने के कारण नित्य या परमप्राप्य नहीं हैं अतः इस अविद्याजनित (राग) या सुख की विनिवृत्ति ही पाञ्चरात्रशास्त्र का परमप्राप्य है। परमात्मप्रकाश रूप आश्रय को प्राप्त करके अविद्याजनित सुखादि अन्धकार का नाश हो जाता है और जीव परमपुरुषार्थ को प्राप्त कर लेता है।

श्रीप्रश्नसंहिता में अज्ञान को रात्रि कहा है। 'पञ्च' अज्ञान का नाशक है। अस्तु अज्ञाननाशक होने के कारण इस शास्त्र को पाञ्चरात्रशास्त्र कहा गया है।[६]

विश्वामित्र तथा शाण्डिल्य संहिताओं में सर्वप्रथम 'रात्र' शब्द की यास्क पद्धति के अनुसार धात्वर्थानुसारी व्याख्या की गयी है। 'रा' धातु का अर्थ ग्रहण करना माना गया है। विभिन्न विषयों को ग्रहण करने वाली पाँच ज्ञानेन्द्रियों से ही इसका अभिप्राय लिया गया है। जीव इन्हीं विषयों में आसक्त होकर बन्धन में बँधता है और इन्हीं से विनिवृत्त होकर जीव परमपद की प्राप्ति करता है। 'त्रा' शब्द का अभिप्राय इसी विनिवृत्तिपरक त्राण से है।[७]

---

१. महाभूतगुणाः पञ्च रात्रयो देहिनः स्मृतः । तद्योगाद्विनिवृत्तेर्वा पञ्चरात्रमिति स्मृतम् ।।
भूतमात्राणि गर्वश्च बुद्धिरव्यक्तमेव च । रात्रयः पुरुषश्चोक्तं पञ्चरात्रमिदं ततः ।।
परमसंहिता, १/३९-४१.

२. रात्रयो गोचराः पञ्च शब्दादिविषयात्मिकाः । महाभूतात्मका वाऽत्र पञ्चरात्रमिदं ततः ।।
अवाप्य तु परं तेजो यत्रैताः पञ्चरात्रयः । नश्यन्ति पञ्चरात्रं तत्सर्वाज्ञानविनाशनम् ।।
विष्णुसंहिता, १/४९-५१.

३. वियद् वायुश्च वह्निश्च आपश्चैव धरा तथा । रात्रयो देहिनां प्रोक्ता अविद्यासम्भवास्तथा ।।
तद् भोगाद्विनिवृत्तिं तु कारयेयुर्यतस्ततः । पञ्चरात्रमिति प्रोक्तम् एतच्छास्त्रमतस्तथा ।।
विष्णुतन्त्र, अ. १, श्लो. ७८-७९.

४. पृथिव्यादीनि भूतानि गुणाः पञ्च महामते । रात्रयो जन्तवः प्रोक्ताः सर्वशास्त्रेषु निश्चिताः।।
तद् भोगाद् विनिवृत्तिस्तु पाञ्चरात्रमिति स्मृतम्।। कपिञ्जलसंहिता,अ. १,श्लो. ३१-३२.

५. आकाशवायुतेजांसि पानीयं वसुधा तथा । एता वै रात्रयः ख्याता ह्यचैतन्यास्तथोत्कटाः।।
हयशीर्षसंहिता, आदिकाण्ड, पटल ३/२.

६. रात्रिरज्ञानमित्युक्तं पञ्चेत्यज्ञाननाशकम् । तच्छास्त्रं पञ्चरात्रं स्याद् अन्वर्थस्यानुरोधतः।।
श्रीप्रश्नसंहिता, २/४०.

७. (क) 'रा' इत्ययमपि प्रोक्तो धातुरादायवाचकः । विषयेन्द्रियभूतानामादातारश्च पञ्च राः।।
विश्वामित्रसंहिता, २३/४.

(ख) सांख्यं योगश्च वैराग्यं तपो भक्तिश्च केशवे।
पञ्चार्थदानतः त्राणाद् विद्या सा पाञ्चरात्रिकी।। शाण्डिल्यसंहिता, १/४/७८.

नारदपाञ्चरात्र एवं ज्ञानामृतसारसंहिता के अनुसार रात्र पद ज्ञान का वाचक है। ये पञ्चविध ज्ञान हैं – परमतत्त्व, मुक्ति, भुक्ति, योग तथा विषय (संसार) जिनके ज्ञान का आपादक यह शास्त्र है।[1]

उत्सवसंग्रह में पुराण, न्याय, मीमांसा, सांख्ययोग का एक समूह तथा आगम, भारतशास्त्र, शिल्प, वैद्यक तथा ज्योतिष दूसरा समूह है। इन दोनों समूहों को पृथक्-पृथक् पाञ्चरात्र माना गया है।[2]

श्री वेदान्तदेशिक ने विभिन्न आगमादि ग्रन्थों के आधार पर निष्कर्ष रूप में पञ्चरात्र पद का स्वरूप बताते हुए कहा है कि श्री विष्णु की अनन्य भाव से भक्ति का उपदेशक शास्त्र पाञ्चरात्र है।[3]

कुछ आधुनिक विद्वानों ने भी पञ्चरात्र के ऊपर विचार किया है जिनके कथन निम्नवत् हैं–

डॉ. एफ.ओ. श्रेडर ने पाञ्चरात्र का मूल शतपथ ब्राह्मण में पाँच रात्रियों में होने वाला यज्ञ-सत्र माना है। वहाँ पुरुष नारायण ने पाञ्चरात्र की परिकल्पना द्वारा सभी प्राणियों पर अपना आधिपत्य माना है तथा प्राणिमात्र के रूप में परिणत होने की व्यवस्था की है। श्रेडर ने यह भी प्रतिपादित किया है कि पञ्चरात्र के मन्त्रों की व्याख्या भी इन्हीं नारायण से प्रसूत है। इसके दार्शनिक विवेचन के साथ परमात्मा के पाँच स्वरूपों (विग्रहों) का उल्लेख है – पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चा।[4]

प्रोफेसर अशोककुमार कालिया भी शतपथब्राह्मण में वर्णित यज्ञ-सत्र को ही पाञ्चरात्र का मूल मानते है।[5]

पं. श्री राजबली पाण्डेय का कहना है कि सम्भवतः व्यूह-सिद्धान्त के अनुसार वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और ब्रह्मा – इन पाँच तत्त्वों के आधार पर पाञ्चरात्र नाम है।[6]

---

१. (क) 'रात्रि'श्च ज्ञानवचनं ज्ञानं पञ्चविधं स्मृतम् । तेनेदं पञ्चरात्रं च प्रवदन्ति मनीषिणः।।
नारदपाञ्चरात्र, १/४४.

(ख) 'रात्रं' च ज्ञानवचनं ज्ञानं पञ्चविधं स्मृतम्। तेनेदं भगवच्छास्त्रं पञ्चरात्रमिति स्मृतम्।।
ज्ञानामृतसारसंहिता, प्र.रा. १/४/४४.

२. पुराणं न्यायमीमांसे तथान्यत् सांख्ययोगतः। पञ्चप्रकारविज्ञेयः पञ्चरात्रमिति स्मृतम्।।
आगमं भारतं शिल्पं वैद्यं ज्योतिषमेव च । पञ्चशास्त्राणि संयोगात् पञ्चरात्रमिति स्मृतम्।।
उत्सवसंग्रह, ३, पृ. १५१.

३. प्रतिबुद्धविषयभगवदनन्यभजनोपदेशप्रवृत्तं तु शास्त्रं पाञ्चरात्रम् ।
न्यायपरिशुद्धि, श.अ. २ आ.

४. इण्ट्रोडक्शन ऑफ पाञ्चरात्र, पृ. १९१.

५. संस्कृतवाङ्मय का इतिहास, तन्त्रागम, एकादश खण्ड, उ.प्र. संस्कृत अकादमी, लखनऊ, पृ. ८७.

६. 'पाञ्चरात्र और वेदान्त', कल्याण, १९३६, वेदान्त विशेषांक, पृ. ३३४.

डॉ. के.सी. वरदाचारी ने 'रात्रि' शब्द का व्यापक अर्थ किया है। उनके हिसाब से पक्ष, अयन तथा रात्रि आदि का विभाजन स्थूल दृष्टिकोण से किया जा सकता है। उन्होंने कहा है कि भगवान् श्रीकृष्ण का जन्म ही पाँच रात्रियों से सम्बन्ध रखता है – (१) सोमवंश, (२) दक्षिणायन, (३) कृष्णपक्ष, (४) मध्यरात्रि तथा (५) रोहिणी नक्षत्र। परोक्ष रूप से प्रथम एवं अन्तिम का सम्बन्ध भी रात्रि से है। श्रीकृष्ण को वासुदेव कहा जाता है जो पाञ्चरात्र-परम्परा के सर्वश्रेष्ठ देवता हैं।

श्री वरदाचारी ने प्रश्नोपनिषद् के आधार पर पाँच रात्रियों की परिकल्पना की है। इसमें पाँच प्राण जो चेतन हैं तथा पाँच रात्रि जो अचेतन है उनको आदित्य तथा चन्द्रमस् कहा गया है।

पिप्पलादि ने प्रजापति को बताया है कि जागतिक प्रपञ्च में संवत्सर, मास, दिवस आदि है। इनमें से प्रत्येक को दो भागों में प्राण तथा रयि के रूप में बाँटा जा सकता है। पाँच प्राण हैं तथा पाँच ही रयि हैं। प्राण वह है जो मुक्ति दिलाता है, 'रयि' वह है जो आत्मा को आबद्ध रखता है।[१] विद्वान् विचारक ने राम के जन्म को शुक्ल पक्ष में होने के कारण प्रकाश, कर्तव्य, स्पष्टता तथा आसानी से अधिगत होने वाले कार्यों का स्वामी माना है। इसके विपरीत कृष्ण सदा दैवी सम्पत्तियों से युक्त 'पर' तथा अनधिगत रूप में विद्यमान देखे जाते हैं। कृष्ण के तिरोधान के बाद कलि का प्रवेश हुआ था जिसे परीक्षित् ने सीमित स्थानों में बाँध रखा था।

भगवान् श्रीकृष्ण सभी प्रकार के अन्धकारों के स्वामी है। उन्होंने अर्जुन को अपना व्यापक तथा आधिभौतिक रूप दिखाया है। वह (कृष्ण) तपस् (रयि) से ऊपर है। इस प्रकार विद्वान् विचारक ने पाँच रयि का कृष्णजन्म की पाँच रात्रियों से सम्बन्ध जोड़कर उसी से पाञ्चरात्र का उद्‌गम माना है।[२]

प्रोफेसर वान बुटिनेन ने अपने को संहितापूर्व असाम्प्रदायिक ग्रन्थों तथा परम्पराओं के ऊपर आधारित किया है। उनका मानना है कि पञ्चकाल, पञ्चयज्ञ, पञ्चरात्रिक तथा रात्रिपञ्चक आदि वे नियम हैं जिन्हें यायावर सन्त पाँच विभिन्न रात्रियों में रुक-रुक कर सम्पन्न करते थे। इसका उल्लेख मोक्षधर्मपर्व, बृहत्कथा तथा याज्ञवल्क्यस्मृति में है। ऐसे लोगों को पाञ्चरात्रिक कहा जाता था। कालान्तर में इनके सिद्धान्तानुयायियों को पाञ्चरात्र कहा जाने लगा।[३]

---

१. प्रश्नोपनिषद्, प्रथम प्रश्न.
२. आइडिया ऑफ गाड, पृ. १०१-०९.
३. 'दी नेम ऑफ पाञ्चरात्र' हिस्ट्री ऑफ रेलिजन, १/२ (१९६२), पृ. २९१-९.

डॉ. वी. वरदाचारी ने प्रोफेसर बुटिनेन की परिभाषा का परीक्षण कर युक्तियुक्त खण्डन किया है।[1]

डॉ. पी.पी. आप्टे का कथन है कि बुटिनेन महोदय की व्याख्या से भले ही कोई सहमत न हो; किन्तु इनके संहिता-पूर्व उद्धरणों का उल्लेख अथवा संकलन तथा इनकी शाब्दिक व्युत्पत्ति सराहनीय है। इस सम्बन्ध में यदि और सामग्री मिल जाय तो उक्त कथन को पर्याप्त बल मिलेगा।[2]

एच. डेनियल स्मिथ ने किसी नये सिद्धान्त का प्रतिपादन न कर एक जगह संहिता-साहित्य में प्राप्त उद्धरण के आधार पर तथा दक्षिण भारत में प्रचलित मौखिक परम्परा को आधार मानकर इसका उद्भव यायावर सन्तों से ही माना है। उन्होंने संहिता को परिभाषा की दृष्टि से दो भागों में विभक्त कर दिया है जिन्हें क्रमशः 'रात्र' तथा 'पञ्च' कहा है। रात्र का प्रसिद्धात्मक अर्थ ज्ञान तथा निषेधात्मक अर्थ अज्ञान बताया है।[3]

डॉ. वी. राघवन् का मत है कि कुछ विशिष्ट ऋषियों को रात्रि-चर्चा के आधार पर जो धर्मोपदेश किये गये, जिनका संकलन महासनत्कुमारसंहिता में रात्र शब्द से किया गया, वही पाञ्चरात्र शब्द का समुचित अर्थ है। इनमें पाँच ऋषियों का उल्लेख है, जिनका नाम क्रमशः शिव, ब्रह्मा, इन्द्र, ऋषि तथा बृहस्पति है। अत्यन्त आदर के साथ यही नाम एक सम्प्रदाय विशेष के रूप में प्राप्त हो गया।[4]

पं. ए.एस. आयंगार ने अनिरुद्धसंहिता तथा ईश्वरसंहिता में वर्णित कथाओं को पाञ्चरात्र का आधार माना है। महाभारत युद्ध के अनन्तर द्वापर तथा कलि की सन्धि में तोताद्रि तथा गन्धमादनादि पर्वतों पर अट्ठासी हजार लोगों का समूह एकत्रित हुआ जिनमें आठ हजार ऋषि थे।[5] वासुदेव, मौञ्जायन, संकर्षण तथा कौशिक ने इस अवसर पर कलियुग में मोक्षधर्म के निर्धारण का कार्य किया जिसके अनुसार क्रमशः वैदिक यज्ञयागादि का तथा उनमें होने

१. 'आगमाज् एण्ड साउथ इण्डिया वैष्णवीज्म्', वी. वरदाचारी, पृ. १२७-३१. प्रकाशित प्रो. एम. रंगाचार्य मेमोरियल ट्रस्ट, ट्रिपलीचेन, मद्रास-५, १९८२.
२. 'पाञ्चरात्र नेम एण्ड ओरिजिन' बाई पी.पी. आप्टे, सी.ए.एस.एस. स्टडीज.सं-२,पृ.८३-१११,पूना,१९८२
३. 'ए टाइपलाजिकल सर्वे ऑफ दी नेम ऑफ पाञ्चरात्र' बाई एच्. डेनियल स्मिथ, जर्नल ऑफ ओरियण्टल रिसर्च, मद्रास, १९६४-६६, पृ. १०२-११७.
४. 'दी नेम ऑफ पाञ्चरात्र', डॉ. वी. राघवन्, जर्नल ऑफ दी अमेरिकन ओरिएण्टल सोसायटी, ८५-१ (१९६५), पृ. ७६.
५. ईश्वरसंहिता, १/३३-४०.

वाली बलियों का परित्याग कर सात्त्वत विधि से विष्णु की पूजा की मूर्ति का विधान किया। पाँच रात्रियों तक चलने वाले इस सत्र को कालान्तर में 'पाञ्चरात्र' कहा गया।[१]

इस निखिल विवेचन के निर्गलन से ऐसा प्रतीत होता है कि पाञ्चरात्र शब्द में प्रयुक्त रात्र शब्द सामान्यतः कालवाची है। यही अर्थ आगम के अनुकूल तथा समीचीन लगता है। पाञ्चरात्र शब्द से ऐसा सम्प्रदाय तथा उसका आचार अभिप्रेत है जिसमें वैष्णवों के आचार-सम्पादन हेतु चौबीस घण्टे अथवा एक (अहोरात्र) को पाँच भागों में विभक्त करके प्रत्येक काल के कार्यों का विधान विहित हो। पञ्चकाल के अन्तर्गत सूर्योदय से शुरू होकर रात्रि के उत्तर भाग पर्यन्त चलने वाले आचार यथा – अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय तथा योगकाल का कर्म अभीष्ट है जिनका उल्लेख भी पाञ्चरात्र ग्रन्थों में उपलब्ध है।[२] अत एव यही अर्थ व्यावहारिक तथा युक्तियुक्त है।

पाञ्चरात्र आगम की वेदमूलकता

पाञ्चरात्र का उदय भारत-भूमि पर कब हुआ? यह प्रश्न विचारणीय है। इस सम्प्रदाय के प्रमुख देवता वासुदेव हैं। तैत्तिरीय आरण्यक में विष्णुगायत्री दी गयी है जिसमें विष्णु की एकता नारायण तथा वासुदेव से की गयी है।[३] पाद्मसंहिता में पाञ्चरात्र सम्प्रदाय के अनेक पर्यायों जैसे– सात्त्वत, भागवत, ऐकान्तिक आदि का उल्लेख मिलता है।[४]

महाभारत के शान्तिपर्व के नारायणीय खण्ड में सात्वत सम्प्रदाय का मूल प्राप्त होता है। यह सात्वत ही भागवत तथा ऐकान्तिक है।

> सात्त्वतं विधिमास्थाय प्राक् सूर्यमुखनिःसृतम्।
> पूजयामास देवेशं तच्छेषेण पितामहान्।।[५]

श्रीमद्भगवद्गीता २/५० के हनुमद्भाष्य में समत्वबुद्धि का अर्थ भगवदर्पण ही किया गया है। कश्मीर के शैवदर्शन के पण्डित इस ऐकान्तिकभक्ति

---

१. 'हिस्ट्री ऑफ टेम्पुल वर्शिप' बाई पं. एस. आयंगार, टी.टी. देवस्थानम् - जर्नल, मई एण्ड जून, १९६७, पृ. १-१७.

२. जयाख्यसंहिता, २२/६८-७४. पाद्मसंहिता, १३/३-४. नारदीयसंहिता, ३०/२-४. सनत्कुमारसंहिता, ऋषिरात्र, १/३-१५.

३. 'नारायणं विद्महे वासुदेवाय धीमहि। तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्'। तैत्तिरीय आरण्यक, दशम प्रपाठक।

४. सूरिः सुहृद् भागवतः सात्त्वतः पञ्चकालवित्। एकान्तिकस्तन्मयश्च पञ्चरात्रिक इत्यपि।। पाद्मसंहिता, ४/२/८८.

५. जी.ए.ग्रियर्सन, इण्डियन एण्टीक्वेरी, वा. ३७, पृ. २५३.

अथवा आत्मसमर्पण विधि से बहुत प्रभावित थे। यही कारण है कि वसुगुप्त से लेकर अभिनवगुप्त तक सभी ने श्रीमद्भगवद्गीता पर व्याख्यायें लिखीं। श्रीमद्आनन्दवर्द्धनाचार्य ने तो अपनी गीताव्याख्या में गीता के त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता (११/१८) श्लोक में शाश्वतधर्मगोप्ता के स्थान पर सात्वतधर्मगोप्ता पाठ ही कर दिया है।

सात्वत का अर्थ होता है भगवदाश्रित भक्त जिन्हें महाभागवत भी कहते हैं। विष्णुसहस्रनाम के भाष्य में श्रीपराशरभट्ट ने लिखा है-

सातयति सुखयति आश्रितानिति सात् परमात्मा।
स एषामस्तीति वा सात्वताः सात्वन्तो वा महाभागवताः।[1]

इसी प्रकार की व्याख्या राजानक ज्ञानकण्ठ ने भी अपनी गीतावृत्ति में की है- सत् इति ब्रह्मनाम तद् विद्यते यस्य स सत्वान् परमेश्वरः सत्वान् देवता येषां ते सात्वताः ब्रह्मविदः।[2]

इस प्रकार के अनन्य भगवद्भक्त सात्वतों का श्रीमद्भागवत में बार-बार उल्लेख आता है।[3] भागवत में वासुदेव को सात्वतधर्म कहा गया है।[4] महाभारत में भी आदिपर्व २१८/१२, २२१/३१, द्रोणपर्व ९७/२६ उद्योगपर्व ७०/७ तथा भीष्मपर्व ६६ में क्रमशः वृष्णीवंशी तथा वासुदेव, कृतवर्मा, सात्यकि, जनार्दन तथा भीष्म को सात्वत कहा गया है। विष्णुपुराण में सात्वत की उपरिवर्णित परिभाषा के अतिरिक्त एक वंशपरम्परा अर्थ में सात्वत शब्द का प्रयोग किया गया है। विष्णुपुराण के तृतीय खण्ड के बारहवें अध्याय के अन्त में कहा है कि- वृष्णियों के वंश में एक अंश नाम का महापुरुष हुआ। इसके बेटे का नाम सत्वत् था। इसी सत्वत् की वंशपरम्परा के लोग सात्वत हैं।

किन्तु भागवत के गोपीगीत में जो सात्वत् शब्द है वह विष्णुपुराण पराशरभट्ट तथा राजानक रामकण्ठ के सात्वत शब्द से भिन्न है। इन तीनों में सात्वत शब्द तद्धितीय मत्वर्थक प्रत्यय के द्वारा अकारान्त सात्वत है और भागवत वाला सात्वत् शब्द हलन्त है। गोपियाँ कहती हैं-

न खलु गोपिकानन्दनो भवान्
अखिल-देहिनामन्तरात्मदृक्।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये
सख उदेयिवान् सात्वतां कुले।।

---

१. विष्णुसहस्रनाम भाष्य- पराशरभट्ट श्री वेष्टेश्वर प्रेस सं., पृ. ४६५.

२. गीता, ११/१८.

३. श्रीमद्भागवत, १/१४/२५, ३/१/२९, ९/९/४९.

४. श्रीमद्भागवत, १०/५८/५२, ११/२७/५.

इस सात्वत-धर्म प्रतिपादक शास्त्र को भी तादर्थ्येन सात्वत कहा जाता है। जैसे भागवत में कहा है।

तृतीयमृषिसर्गं च देवर्षित्वमुपेत्य सः।
तन्त्रं सात्वतमाचष्टे नैष्कर्म्यं कर्मणां यतः।।

और इसकी व्याख्या में कहा गया है कि सात्वत तन्त्र ही पाञ्चरात्र आगम है-

सर्वकर्मनिवर्तकं पाञ्चरात्रागमं नाम तन्त्रं कृतवान् इति।

श्रीमद्भगवद्गीता इसी सात्वत धर्म की दार्शनिक व्याख्या है किन्तु गीता सात्वत-धर्म के नैष्कर्म्य तथा सर्वात्मना भगवदर्पण के समर्थन के साथ अपने समत्वदर्शन का भी प्रतिपादन करती है।

यह सात्वत धर्म ही भागवत धर्म है। भागवत के लिए नारदपाञ्चरात्र 'भागवत ग्रन्थ' को ही भागवत मानता है। भागवत का लक्षण निर्दिष्ट किया गया है-

ग्रन्थाष्टादशसाहस्रं द्वादशस्कन्धसम्मितम्।
शुकप्रोक्तं भागवतं श्रुत्वा निर्वाणतां व्रजेत्।।
पुरा भगवता प्रोक्तं कृष्णेन ब्रह्मणे मुने।
पुराणसारं शुद्धं तत्तेन भागवतं विदुः।।[१]

श्रीमद्भागवत में सूतजी ने शौनक जी से भागवत का लक्षण करते हुए कहा है कि भागवत ग्रंथ ही सात्वतसंहिता है। श्रीमद्भागवत ७/१/९-११ ने इस प्रकार सात्वत और भागवत एक माना है। इसी प्रकार पाद्म तन्त्र के ४/२/७७ में भी सात्वत, भागवत तथा पाञ्चरात्र को एक माना गया है।

एकान्ततः अनन्यभावेन भगवान् के प्रति आत्मसमर्पण करने के कारण ये एकान्तिन् कहे जाते हैं। इसी एकान्तिन् के लिए भगवान् ने गीता में कहा है-

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।[२]

महाभारत में एकान्तिन् का अर्थ करते हुए कहा गया है कि सात्वतों से धारण किया जाने वाला बड़ा कठिन एकान्त धर्म है। एकान्त धर्म का आचरण करने वाले पुरुष बड़े दुर्लभ होते हैं। ये एकान्त भक्ति वाले बड़े सात्विक होते हैं और नारायण परायण होते हैं-

---

१. नारदपाञ्चरात्र, २/७/२८-२९.
२. गीता, ९/२२.

दुर्विज्ञेयो दुष्करश्च सात्वतैर्धार्यते सदा।
धर्मज्ञानेन चैतेन सुप्रयुक्तेन कर्मणा।[1]

एष एकान्तधर्मस्ते कीर्तितो नृपसत्तम।
एकान्तनो हि पुरुषा दुर्लभा बहवो नृप।
नारायणपरो मोक्षस्ततो वै सात्विकः स्मृतः।।
एकान्तभक्तिः सततं नारायणपरायणः।।[2]

पाञ्चरात्र शास्त्रों का मानना है कि भागवत धर्म वेद से ही सम्बद्ध है। पाञ्चरात्र का सम्बन्ध वेद की एकायन शाखा से है।[3] पारमेश्वरसंहिता में लिखा है कि द्वापर के अन्त तथा कलियुग के आदि में शाण्डिल्य ऋषि ने कठोर तपस्या करके साक्षात् संकर्षण से एकायन वेद प्राप्त किया। यहाँ सात्त्वत विधि का विधान था और उसी को महर्षि ने जैमिनि, भृगु, उपगायन और मौञ्जायन आदि ऋषियों को पढ़ाया। इसी प्रकार यह वेद भूतल में प्रचारित हुआ।[4]

छान्दोग्य उपनिषद् में 'एकायन' विद्या का वर्णन है पर विवेच्य विषयों का वर्णन नहीं है।[5] यहाँ यह ध्यातव्य है कि छान्दोग्य उपनिषद् में एकायन विद्या का उल्लेख परमभागवत नारद जी के साथ है तथा महाभारत में भी पाञ्चरात्र के उपासक नारद जी ही हैं। इस आधार पर उपनिषत्काल में एकायन शाखा का होना सत्य सा लगता है। 'एकायन' का तात्पर्य है कि मोक्ष, प्राप्ति का एकमात्र 'अयन' उपाय।[6] 'एकायन' का अर्थ शङ्कराचार्य नीतिशास्त्र से लेते हैं; किन्तु रामानुजाचार्य ने 'एकायन शाखा' की ही स्वीकृति की है। ज्यादातर सम्भव है कि "नान्यः पन्था विद्यते अयनाय" एकायन मार्ग का ही द्योतक है। नागेश नामक एक विद्वान् का मानना है कि शुक्लयजुर्वेदीय काण्व शाखा का ही दूसरा नाम एकायन है।[7] इस कथन का प्रमाण जयाख्यसंहिता से भी होता है। संहिता का कहना है कि प्रपत्तिशास्त्र में पारंगत औपगायन और कौशिक

---

१. म.भा. आश्वमे.प., ३५९/५५, ५६.

२. वही, ६१, ६२, ७०, ७१.

३. (क) एष एकायनो वेदः प्रख्यातः सर्वतो भुवि। -ईश्वरसंहिता, १/४३.
(ख) वेदमेकायनं नाम वेदानां शिरसि स्थितम् । तदर्थकं पाञ्चरात्रं मोक्षदं तत् क्रियावताम्।।
श्रीप्रश्नसंहिता. २/३८.

४. द्वापरस्य युगस्यान्ते आदौ कलियुगस्य च। साक्षात् संकर्षणात् भक्तात् प्राप्त एष महत्तरः।।
एष एकायनो वेदः प्रख्यातः सात्त्वतो विधिः ।। पारमेश्वरसंहिता प्र.अ..

५. 'ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं ......वाकोवाक्यमेकायनम्'।-छान्दोग्य उपनिषद्, ७/११२.

६. मोक्षायनाय वै पन्था एतदन्यो न विद्यते । तस्मादेकायनं नाम प्रविदन्ति मनीषिणः ।।
ईश्वरसंहिता, १/१८.

७. 'काण्वशाखामहिमासंग्रह' मद्रास गवर्नमेण्ट ओरियण्टल लाइब्रेरी, ट्रीनैल कैटलाग,III,I, बी, पृ. ३२९९.

ऋषि काण्व शाखा के अध्येता थे।[1] पाञ्चरात्रशास्त्र के प्रवर्तक तीन अन्य ऋषियों का भी उल्लेख है जिनके नाम थे–शाण्डिल्य, भारद्वाज तथा मौञ्जायन जो काण्वी शाखा के आश्रयकर्ता थे।[2]

मार्कण्डेयसंहिता तथा विष्वक्सेनसंहिता में यह प्रतिपादित है कि पाञ्चरात्रशास्त्र श्रुतिमूलक है तथा यह शास्त्र कल्पसूत्र के सदृश प्रामाणिक है।[3] विष्णुसंहिता के अनुसार पाञ्चरात्र को तन्त्र कहते हुए श्रुतिमूलक तथा आप्तमूलक स्वीकारा गया है। यह तन्त्र पुराण तथा मन्वादि-वाक्यवत् प्रमाणभूत कहा गया है।[4] विष्णुतन्त्रसंहिता का कहना है कि सभी पाञ्चरात्र श्रुतिमूलक हैं।[5] नारदीयसंहिता में भी इसे वैदिक-परम्परा के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है।[6] डॉ. एस.आर. भट्ट ने अपने विद्वतापूर्ण निबन्ध "स्मृतिकाल में वैदिक एवं पाञ्चरात्र विचारधारा का सम्बन्ध" में स्मृतियों एवं पुराणों से पर्याप्त उद्धरण देकर यह दिखाने का प्रयास किया है कि पाञ्चरात्र वैदिक एवं वेदेतर दोनों के मध्य रहते हुए अपनी वैदिकता बनाये रखने के लिए उसे पर्याप्त संघर्ष करना पड़ा।[7] इस पर इतना कहा जा सकता है कि पाञ्चरात्र मत ने वैदिक एवं वेद से भिन्न के बीच बनी खाई पर सेतु का नाम किया।

संवित्प्रकाश के प्रणेता श्रीवामनदत्त ने "एकायने प्रसूतस्य कश्मीरेषु द्विजात्मनः" स्वयं को कहा है।[8] यामुनाचार्य ने "यथा च एकायनशाखाया अपौरुषेयत्वं तथा काश्मीरागमप्रमाण्य एवं प्रपञ्चितामिति"[9] कहकर एकायन वेद को प्रमाणित किया है। जयन्तभट्ट ने आगमाडम्बर में पाञ्चरात्र की सत्ता का उल्लेख किया है।[10] इसके अलावा पाञ्चरात्र श्रुति की सत्ता का उल्लेख काश्मीर के उत्पलाचार्य ने अपने ग्रन्थ स्पन्दप्रदीपिका में किया है।[11] पाञ्चरात्र श्रुति के अलावा पाञ्चरात्र उपनिषद् का भी उन्होंने उल्लेख किया है। उत्पलाचार्य के

---

१. 'काण्वीं शाखामधीयानावौपगायनकौशिकौ। प्रपत्तिशास्त्रनिष्णातौ स्वनिष्ठानिष्ठितावुभौ।। जयाख्यसंहिता, १/१०९.
२. शाण्डिल्यश्च भरद्वाजो मुनिर्मौञ्जायनस्तथा। इमे च पञ्चगोत्रस्था मुख्याः काण्वीमुपाश्रिताः।। श्रीपाञ्चरात्रतन्त्रीये सर्वेऽस्मिन् मम कर्मणि। जयाख्यसंहिता, १/१७६.
३. (क) 'श्रुतिमूलमिदं शास्त्रं प्रमाणं कल्पसूत्रवत्'। मार्कण्डेयसंहिता, पृ. ६, अ. १, श्लो. ३८.
(ख) विष्वक्सेनसंहिता, ८/६/७.
४. वेदमूलतया तन्त्रमाप्तमूलतयापि च। पुराणवत् प्रमाणं स्यात् तथा मन्वादिवाक्यवत् ।। विष्णुसंहिता, पटल-२/११.
५. 'श्रुतिमूलानि तान्येव पाञ्चरात्राणि पङ्कज', विष्णुतन्त्रसंहिता, १/३६.
६. नारदीयसंहिता, २९/३०-४०.
७. काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका, सम्वत् २०२१, अंक ३, पृ. ४०३-४१४.
८. संवित्प्रकाश, १/१३६.
९. आगमप्रामाण्य, पृ. १७०.
१०. पाञ्चरात्रश्रुतावपि–यद्वत् सोपानेन प्रासादमारुहेत्, प्लवेन वा नदीं तरेत्, तद्वत् शास्त्रेणैव हि भगवान् शास्ताऽवगन्तव्यः-स्पन्दप्रदीपिका, पृ. २. विजयानगरम् संस्कृत सीरीज. पाञ्चरात्रोपनिषदि च-ज्ञाता च ज्ञेयं च वक्ता च वाच्यं च भोक्ता च भोज्यं च, तत्रैव, पृ. ४०.
११. आगमाडम्बर द्वारा जयन्त भट्ट, ४/६२.

समय तक पाञ्चरात्र श्रुति, पाञ्चरात्र उपनिषद्, पाञ्चरात्रसंहिता अवश्यमेव थे। आचार्य उत्पल का समय दशम शताब्दी स्वीकृत है। अस्तु, पाञ्चरात्र श्रुति बहुत सम्भव है एकायन नाम से ही प्रचलित रही हो।

जैसा कि आचार्य उत्पल ने पाञ्चरात्र श्रुति के अनन्तर पाञ्चरात्र उपनिषद् का उल्लेख किया है, उस प्रसंग में श्रीप्रश्नसंहिता की विदुषी सम्पादिका श्रीमतीसीता-पद्मनाभन् ने सन्देह प्रकट किया है[1] फिर भी बहुत-सी पाञ्चरात्र संहिताओं की अध्यायान्त पुष्पिकाओं के अवलोकन से उत्पल का विभाजन उचित प्रतीत होता है। विश्वामित्रसंहिता के कुछ अध्यायों की पुष्पिकाओं में 'महोपनिषदि' शब्द का प्रयोग है।[2] इसी तरह पाद्म एवं पौष्कर संहिताओं में उल्लेख है।[3] पाञ्चरात्र के साथ संहिता शब्द का प्रयोग तो अत्यन्त ही प्रचलित है।

पाञ्चरात्र आगम की प्राचीनता

पाञ्चरात्र निर्विवाद रूप से एक प्राचीन आगमिक-परम्परा है। इसकी प्राचीनता के प्रसंग में कुछ विवरण अधोलिखित हैं – महाभारत के भीष्मपर्व में मोक्षधर्म में सात्त्वतविधि (पाञ्चरात्र) की प्रशस्ति परिलक्षित है।[4] इस प्रमाण से प्रमाणित है कि पाञ्चरात्र-प्रक्रिया भीष्मपर्व की रचना से प्राचीन है; किन्तु महाभारत का रचनाकाल ही सर्वथा निर्विवादित नहीं है। आधुनिक विचारकों की दृष्टि में महाभारत कालक्रम से विकसित (विरचित), अस्तु दीर्घावधि में विरचित ग्रन्थ माना जाता है।[5] अतः भीष्मपर्व का यह अंश जिसमें पाञ्चरात्र-प्रक्रिया आलोचकों द्वारा निर्धारित महाभारत रचनाकाल से निश्चित ही प्राक्कालिक है। कुछ विद्वान् श्रीमद्भगवद्गीता में चतुर्व्यूह-वर्णन का अभाव और नारायणीय अध्याय में[6] उसका वर्णन देखकर यह विचार रखते हैं कि नारायणीयपर्व की रचना गीता की रचना के पश्चात् हुई है। यदि नारायणीयपर्व की रचना पहले होती तो गीता में चतुर्व्यूह का निर्देश अवश्य होता।[7] अतः नारायणीयपर्व के अन्तर्गत वासुदेवादि चतुर्व्यूह की स्थिति गीता की अपेक्षा अर्वाचीन है। परिणामतः चतुर्व्यूह के आराधनादि विधानपरक पाञ्चरात्रशास्त्र का समय उससे प्राचीन नहीं हो सकता– यह कहना कोई तर्कसंगत नहीं लगता। वस्तुतः गीता के

---

१. श्रीप्रश्नसंहिता, इंगलिश इण्ट्रोडक्शन, पृ. १६, के.सं.वि., तिरुपति संस्करण, १९६९.
२. "इति पाञ्चरात्रे महोपनिषदि विश्वामित्रसंहितायां प्रथमोऽध्यायः" विश्वामित्रसंहिता, पृ.८.
३. (क) इति श्रीपाञ्चरात्रे महोपनिषदि पाद्मसंहितायां ज्ञानपादे शास्त्रावतारको नाम प्रथमोऽध्यायः', पाद्मसंहिता, ज्ञा.पा., अध्याय १.
(ख) इति श्रीपाञ्चरात्रे महोषनिषदि पौष्करसंहितायां शिष्यपरीक्षालक्षणो नाम प्रथमोऽध्यायः', पौ.सं., पृ. ३.
४. महाभारत, भीष्मपर्व, ६६/४०.
५. संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डॉ. रामजी उपाध्याय, पृ. ४१९, रामनारायणलाल बेनीमाधव, कटरा रोड, इलाहाबाद, विक्रमाब्द २०१८.
६. महाभारत, शान्तिपर्व (मोक्षधर्मपर्व), अ. ३८, श्लोक २१-४६.
७. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ. ३८-४१.

प्रतिपाद्य कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग विषयों के वर्णन क्रम में गीताकार ने चतुर्व्यूह-वर्णन की आवश्यकता नहीं समझी हो। अतः गीता में उसका वर्णन नहीं है। इससे गीता की अपेक्षा नारायणीयपर्व का परकालीनत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता।[१] जहाँ तक महाभारत की रचना का प्रश्न है, उस प्रसंग में श्री सी.वी. वैद्य महोदय का मानना है कि क्रमशः लम्बी अवधि में विकसित होने के बाद भी महाभारत का वर्तमान स्वरूप ई० सन् की तृतीय शताब्दी में पूर्ण हो गया था। सर जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन का कहना है कि वर्तमान महाभारत की रचना ई. सन् द्वितीय तथा चतुर्थ शताब्दी के बीच पूर्ण हो गयी थी। विण्टरनित्ज महोदय का मत है कि महाभारत की रचना ई. पूर्व द्वितीय शतक से ई. सन् के चतुर्थ शतक तक की लम्बी अवधि में पूर्ण हो गयी थी।[२] इन सारे प्रमाणों से पाञ्चरात्र का अस्तित्वकाल ई. सन् की चतुर्थ शताब्दी से पूर्व निश्चित रूप से प्रमाणित है। डॉ. एस.के. आयंगार का कहना है कि महाभारत के नारायणीयपर्व की रचना बुद्धजन्म के पहले षष्ठ ईसा-पूर्व से भी प्राचीनकाल में हुई।[३]

पाञ्चरात्र की प्राचीनता के प्रसंग में तमिल-साहित्य उल्लेखनीय है। 'शिलप्पादिकारम्' एवं 'परिपदल' में गरुडध्वज, संकर्षण, वासुदेव और अनिरुद्ध की प्रतिमाओं का विवरण मिलता है।[४] 'परिपदल' का काल ई. सन् द्वितीय शताब्दी स्वीकृत है। इस ग्रन्थ के अनुसार मदुरई के निकट तिरुमञ्जौले में श्रीकृष्ण एवं बलदेव की प्रतिमाएँ थीं। 'तिरुक्कुरुल' नामक ग्रन्थ, जो ई. सन् के द्वितीय शतक में लिखित है, त्रिविक्रम अवतार और कमलनयन श्री विष्णु का वर्णन प्राप्त होता है।[५]

पाणिनीय सूत्र – "वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्"[६] की व्याख्या में कैयटभाष्य में 'वासुदेव'-शब्द को 'नित्य परमात्मा'-अर्थ में लिया है; काशिकावृत्ति में भी 'देवताविशेष'-अर्थ ही लिया गया है, 'वसुदेव-पुत्र' (क्षत्रिय) अर्थ का यहाँ निषेध भी स्पष्ट सूचित है।[७] उपर्युक्त प्रमाणों से यह प्रमाणित हो जाता है कि पाणिनि के काल, ई.पू. सप्तम शताब्दी से पूर्व 'वासुदेव' परमात्मा के रूप में जाने जाते थे। उस समय उनका समाज में प्रबल प्रचार था।[८]

---

१. जयाख्यसंहिता, प्रस्तावना, पृ. ४२-४३.
२. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, भाग-१, पृ. ४६५ और ४७५, (कलकत्ता विश्वविद्यालय)
३. प्रोसिडिग्स ऑफ दी सेकेण्ड ओरियण्टल कान्फ्रेन्स, कलकत्ता, १९२३, पृ. ३५३.
४. आलवारकल् कालनिलै (तमिल)-लेखक राघव अय्यंगार तथा वैखानस धर्मसूत्र की भूमिका, लेखक श्री रंगाचारी, पृ. १३.
५. वैखानस-धर्मसूत्र की भूमिका, लेखक श्री रंगाचारी, पृ. १३.
६. अष्टाध्यायी, ४/०३/९८.
७. 'नित्यः परमात्मा देवताविशेष इह वासुदेवो गृह्यत इति विशेषः। कैयटभाष्य अष्टाध्यायी, ४/३/९८.
'संज्ञैषा देवता-विशेषस्य, न क्षत्रियाख्या' काशिका, वही सूत्र, पृ. २४३, काशी संस्करण.
८. संस्कृत व्याकरण का उद्भव और विकास', सत्यकाम वर्मा, पृ. १००, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली.

प्राचीन शिलालेखों से भी पाञ्चरात्र काल का निर्धारण सम्भव है। राजपूताना के घोसुण्डी नगर में प्राप्त शिलालेख के संकर्षण एवं वासुदेव के मन्दिर के चतुर्दिक् प्राकार-निर्माण वर्णन उपलब्ध है। इस शिलालेख का काल २०० ई.पू. है। नानाघाट गांव की गुहा में प्राप्त एक शिलालेख में 'वासुदेव' और 'संकर्षण' का उल्लेख मंगलश्लोक में है। इस शिलालेख का काल ईसवी सन् के पूर्व शताब्दी स्वीकृत है। वेशनगर गांव में प्राप्त शिलालेख में वासुदेव की तृप्ति के लिए भागवत हेलियोदोरा द्वारा गरुडध्वज-स्तम्भ प्रतिष्ठापित करने का उल्लेख है। इस शिलालेख से वासुदेव-पूजा का प्रचार तथा उनके अनुयायियों को भागवत कहा जाना सिद्ध है।[1]

उपर्युक्त शिलालेखों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ई.पू. तृतीय शतक से पूर्व पाञ्चरात्रशास्त्र पूर्ण रूप से प्रचलन में था।

चन्द्रगुप्त मौर्य ई. पूर्व चतुर्थ शतक के शासनकाल में यूनानी यात्री मेगस्थनीज ने शौरसेनीय किसी क्षत्रिय को वासुदेव का आराधक कहा है।[2] यह वासुदेवाराधन सात्त्वतविधिमूलक है। ऐसा लगता है कि प्राचीनकाल में सात्वतविधि से ही वासुदेव की आराधना की जाती थी अर्थात् सात्वत एवं भागवत दोनों पर्यायवाचक शब्द थे। सात्वतविधि का उल्लेख भीष्मपर्व में प्राप्त होता है।[3] इससे यह प्रमाणित हो जाता है कि वासुदेव की आराधना जिस विधि से होती है वह भागवत विधि है।

पाञ्चरात्र का नामान्तर सात्त्वत मत है जो ऐतिहासिक दृष्टि से विचारणीय है। विष्णुसहस्रनाम के एक भाष्यकार ने सात्त्वत शब्द से भागवत मतानुयायियों का सामान्य अर्थ किया है।[4] कूर्मपुराण में सात्त्वत नामक विष्णुभक्त का उल्लेख है। वह नारद के कथनानुसार वासुदेवार्चन में रत बताया गया है।[5] डॉ. वी. वरदाचारी का मत है कि सात्त्वत लोग वैश्य वर्ण के थे। श्री कृष्णजन्म के कारण इनका सामाजिक महत्त्व बढ़ा।[6] डॉ. एस.के. आयंगार का अभिमत है कि सात्त्वत लोग यादववंशी क्षत्रिय थे जिनमें श्रीकृष्णचन्द्र का जन्म हुआ था।[7]

---

१. 'वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड अदर माइनर रेलिजन्स इन इण्डिया', आर.जी. भण्डारकर।
२. तत्रैव, पृ. १.
३. ब्राह्मणैः क्षत्रियैः वैश्यैः शूद्रैश्च कृतलक्षणैः । सेव्यतेऽभ्यर्च्यते चैव नित्ययुक्तैः स्वकर्मभिः।।
द्वापरस्य युगस्यान्त आदौ कलियुगस्य च । सात्त्वतं विधिमास्थाय गीतः संकर्षणेन यः।।
भीष्मपर्व, अ. ६६/३९-४०.
४. जयाख्यसंहिता, अंग्रेजी भूमिका, पृ. १०.
५. अथांशुः सात्त्वतो नाम विष्णुभक्तः प्रतापवान् । महात्मा दाननिरतो धनुर्वेदविदां वरः ।।
स नारदस्य वचनाद् वासुदेवार्चने रतः, कूर्मपुराण.
६. आगमाज् एण्ड साउथ इण्डिया वैष्णविज्म, पृ. १५९.
७. डॉ. एस.आय्यंगार 'सात्वताज' प्रोसिडिंग ऑफ दी सेकेण्ड ओरियण्टल कान्फ्रेंस, कलकत्ता, १९२३, पृ. ३५३.

इन्होंने सात्त्वत शब्द की उपलब्धि ऐतरेयब्राह्मण[१] तथा शतपथब्राह्मण[२] में होना स्वीकार किया है। ऐतरेयब्राह्मण का काल ई.पू. दशम शतक के आसपास है। इस प्रकार पाञ्चरात्र का ई.पू. होना इस प्रमाण से सिद्ध है।

भागवतों की दृष्टि से ऐकान्तिक धर्म सर्वश्रेष्ठ धर्म है और यह स्वयं नारायण या भगवान् को भी प्रिय है।[३] श्रीवेंकट सुधी ने अपने सिद्धान्तरत्नावली नामक ग्रन्थ में, शास्त्र-प्रमाण देकर यह सिद्ध किया है कि नारायण सर्वश्रेष्ठ देव हैं, और शिव, ब्रह्मा आदि देव उसके अधीन है।[४] महाभारत में वर्णित है कि नर-नारायण स्वयम् अपरिणामी ब्रह्म की, जो सारी सत्ता की आत्मा है; उपासना करते हैं। तभी उन्हें सबसे महान् कहा गया।[५]

इस प्रकार हम देखते हैं कि सात्त्वत, भागवत, ऐकान्तिक – सभी पाञ्चरात्र से ही सम्बद्ध हैं। पाञ्चरात्र-सिद्धान्त जैसा कि डॉ. दासगुप्ता लिखते है कि यह अत्यन्त प्राचीन है जिसका सम्बन्ध ऋग्वेद के पुरुषसूक्त से है। वह एक दृष्टि से समस्त वैष्णव सम्प्रदायों की नींव है।[६] इतना ही नहीं, बहुत सम्भव है कि भारतवर्ष में कभी पाञ्चरात्र का ही बोलबाला था। प्रमाणरूप में पेश है– कवीन्द्राचार्य सूची, जो (गायकवाड ओरियण्टल सीरीज) से प्रकाशित है, पृ. २३ पर उन्होंने शिवपाञ्चरात्र, देवीपाञ्चरात्र, गणेशपाञ्चरात्र, ब्रह्मपाञ्चरात्र का उल्लेख किया हैं।[७] इससे सिद्ध है कि सभी मतानुयायी पाञ्चरात्र से सम्बद्ध थे और शिव को तो अपनी पूजा पाञ्चरात्र पद्धति से ही अभीष्ट थी।[८]

पाञ्चरात्र आगम का साहित्य

पाञ्चरात्र आगम का साहित्य अत्यन्त समृद्ध है। जाहिर है जो समृद्ध होगा उसमें भेद भी सम्भव है। डॉ० श्रेडर के अनुसार पाञ्चरात्र संहिताओं की संख्या २१० है।[९] पं० वी० कृष्णामाचार्य ने लक्ष्मीतन्त्र के उपोद्घात में पाञ्चरात्र ग्रन्थों की संख्या २१९ बताई है।[१०] ईश्वरसंहिता और पारमेश्वरसंहिता के

---

८. ऐतरेयब्राह्मण, ११/२५/६, ८/१४/६.
९. शतपथब्राह्मण, १३/५/४/२१.
१. 'नूनमेकान्तिधर्मोऽयं श्रेष्ठो नारायणप्रियः'। महाभारत, १२/३४८/४.
२. भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग-३, डॉ. एस.एन. दासगुप्त, हिन्दी अनुवाद, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, १९७४, पृ. १२.
३. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३३४.
४. भारतीय दर्शन का इतिहास, हिन्दी अनुवाद, पृ. १२.
५. तन्त्राज स्टडीज आन देयर रेलिजिन एण्ड लिटरेचर, चिन्ताहरण चक्रवर्ती, पृ. ५७.
६. पाञ्चरात्रविधानेन मूलमन्त्रेण चैव हि।
पूजयेन्मां यथाशक्ति नृत्यगीतादिभिर्नरः ।।
शिवरात्रिव्रतकथा, शिवरहस्य उद्धृत, पृ. ५८.
७. इण्ट्रोडक्शन टू पाञ्चरात्र, पृ० ३-४.
८. लक्ष्मीतन्त्र, उपोद्घात, पृ० १०-१३.

अनुसार इस आगम के चार भेद हैं– आगमसिद्धान्त, मन्त्रसिद्धान्त, तन्त्रसिद्धान्त और तन्त्रान्तरसिद्धान्त।[1] पाद्मसंहिता में ऋगादि चार वेदों के सदृश पाञ्चरात्र-शास्त्र को सिद्धान्त भेद से चतुर्विध होना मान्य है। ऋगादि एक-एक वेद जिस तरह शाखा-भेद से अनेक है उसी प्रकार वक्ताओं के भेद के आधार पर प्रत्येक सिद्धान्त भी अलग-अलग हैं।[2] अत्यन्त संक्षेप में चारों सिद्धान्तों का लक्षण स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि चतुर्मूर्ति-प्रधान शास्त्र को आगम सिद्धान्त, एकमूर्ति-प्रधान शास्त्र को मन्त्र-सिद्धान्त कहते है। आगम-सिद्धान्त सुप्रसिद्ध है। नवमूर्ति प्रधान-शास्त्र को तन्त्रसिद्धान्त कहा गया है। तन्त्रान्तर सिद्धान्त उसे कहा जाता है जहाँ अर्चनाविधि में चतुर्मुख या त्रिमुख देव का वर्णन निर्दिष्ट हो।[3] पाद्मसंहिता को मन्त्र-सिद्धान्त के अन्तर्गत माना गया है।[4]

पौष्करसंहिता ने संक्षेप में पाञ्चरात्र के तीन भेद – कनीय, मध्य तथा उत्तम किया है।[5] इसकी विस्तृत व्याख्या के प्रसंग में परिणाम के आधार पर पाञ्चरात्रसाहित्य के निम्नलिखित पाद, मूल, उद्धार, उत्तर, बृहदुत्तर, कल्प, संहिता, कल्पस्कन्ध तथा तन्त्र– नौ भेद बताये हैं। ये नौ पूर्वोक्त तीन के ही भेद हैं।[6]

पाञ्चरात्र की प्राचीन संहितायें उत्तर भारत में लिखी गयी हैं। पाञ्चरात्र साहित्य के बहुत से ग्रन्थ आज भी प्रकाशित नहीं हैं। डॉ. श्रेडर ने २१५ साहित्य ग्रन्थों के नामोल्लेख किये हैं। डॉ. एच. डेनियल स्मिथ ने पाञ्चरात्र के प्रकाशित ग्रन्थों की विवरणिका तैयार की है जिसमें पाञ्चरात्र के अनेक संहिताओं के नाम उल्लिखित हैं।[7] मद्रास से अभी हाल में एक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है- 'पेनारोमा आफ पाञ्चरात्र लिटरेचर'। इसमें अब तक उपलब्ध १०४ पाञ्चरात्र संहिताओं का विस्तृत विवरण प्रकाशित किया गया है और लगभग तीन सौ संहिताओं के नाम एकत्रित किये गये हैं।[8] हयशीर्ष पाञ्चरात्र में चौंतीस पाञ्चरात्र संहिताओं का उल्लेख है।[9] अग्निपुराण में भी इन्हीं नामों का उल्लेख है।[10]

---

१. चतुर्धा भेदभिन्नोऽयं पाञ्चरात्राख्य आगमः। पूर्वमागमसिद्धान्तं द्वितीयं मन्त्रसंज्ञितम्। तृतीयं तन्त्रमित्युक्तमन्यत्तन्त्रान्तरं भवेत्।। (ई.स., २१/२६०-६१, पारमेश्वरसंहिता, १९/२६०-६१)
२. पाद्मसंहिता, ज्ञानपाद, १/७६-७८.
३. तत्रैव, १/८०-८३.
४. तत्रैव, १/८६.
५. 'संक्षिप्तं त्रिप्रकारं च कनीयो मध्यमोत्तमम्' पौष्करसंहिता, ३९/१२.
६. 'नव प्रकारमित्येतद् भेदमुक्तत्रयस्य च'। पौष्करसंहिता, ३९/१२
७. ए डिस्क्रेप्टिव बिल्लोग्राफी आफ दी प्रिण्टेड टेक्स्ट्स आफ दी पाञ्चरात्रागम- गायकवाड आरियण्टल सीरीज, बड़ौदा, वाल्यूम १, २, १९७५, १९८०.
८. आगम और तन्त्रशास्त्र, डॉ. व्रजवल्लभ द्विवेदी, पृ. ३०.
९. हयशीर्षसंहिता, आदिकाण्ड, द्वितीय पटल
१०. अग्निपुराण, अध्याय ३९.

डॉ. श्रेडर के अनुसार कुछ संहिताएँ अति प्राचीन तथा उपजीव्य हैं। ये प्रमुख रूप से सात्वत, पौष्कर और जयाख्य तीन हैं। ये त्रिरत्न के नाम से विश्रुत हैं। ये तीनों इस साहित्य के सर्वाधिक प्रमाणित ग्रन्थ के रूप में मान्य हैं।[१] ईश्वरसंहिता को भी तीनों की प्रधानता अभीष्ट है।[२] इन्हीं तीनों के आधार पर क्रमशः सात्वत के अनुसार ईश्वरसंहिता का, पौष्कर के आधार पर पारमेश्वरसंहिता और जयाख्यसंहिता के आधार पर पाद्मसंहिता का उपबृंहण हुआ है।[३] इन्हीं संहिताओं के विषयों का अनेक स्थलों में अक्षरशः साम्य के आधार पर उपरोक्त कथन की पुष्टि पर विशेष बल मिलता है।

पाञ्चरात्रागम साहित्य प्रमुख रूप से 'संहिता' शब्द से बहुशः प्रतिष्ठित है। सम्भव है, ये संहिताभिधान वेद के संहिताभाग की तरह हो। संहिताओं की भाषा अनुष्टुप छन्द में पद्यमय है पर कुछ संहिता में यदा-कदा गद्य भी दिखायी पड़ते हैं।[४] प्रायः अपाणिनीय प्रयोग देखे जाते हैं। कतिपय संहिताएँ परिमाण एवं विषय प्रतिपादन की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। पाद्मसंहिता अत्यन्त व्यवस्थित रूप एवं विषय प्रतिपादन की दृष्टि से चार पादों में विभक्त है जो हैं- ज्ञानपाद, योगपाद, क्रियापाद और चर्यापाद। ज्ञानपाद के अन्तर्गत ग्रन्थावतार, सृष्टि प्रक्रिया, पाञ्चरात्रिक तत्व तथा इसी तरह के अन्य ज्ञान अर्थात् दर्शन सम्बन्धी विषयों का विवेचन बारह अध्यायों में है। दूसरा पाद योगपाद है। इसमें सामान्य रूप से पातञ्जल योगदर्शन वर्णित विषय ही निरूपित है। कुछ स्थलों पर सामान्य भेद भी है। यथा- ध्यान के अवसर पर ध्येय का रूप वासुदेव है।[५] जो पातञ्जल योग से भिन्न है। क्रियापाद में आलय कल्पन योग्य भूमि संग्रह, आलय निर्माण, भेद तथा प्रकारादि, प्रतिमा भेद, लक्षण, निर्माण-प्रक्रिया का सत्यक् निरूपण है। चतुर्थपाद चर्यापाद है; इसमें वैष्णवों की दीक्षा, आचार, भगवदाराधन तथा प्रायश्चित्तादि विषय विशद रूप से विवेचित हैं।

ईश्वरसंहिता में एक स्थल पर पाञ्चरात्रशास्त्र को दिव्य तथा वक्ताओं के आधार पर मुनिभाषित शास्त्र-सात्विक, राजस्, तामस तथा पौरुष- ये चार भेद लक्षण के सहित विवेचित हैं। सात्विक शास्त्र उसे कहा गया है जिसे पुण्डरीकाक्ष के द्वारा यथास्थित अर्थजाल को जानकर उस अर्थ का प्रणयन हुआ हो।

---

१. इन्ट्रोडक्शन टु पाञ्चरात्र एण्ड अहिर्बुध्न्यसंहिता, पृ. २१.
२. ईश्वरसंहिता, १/६४.
३. जयाख्यसंहिता, पटल १, प्रक्षिप्तांश, ६ बी - ८ ए.
४. विष्वक्सेनसंहिता, पृ. २९३-३००.
५. पाद्मसंहिता, ५/१-४.

सात्विक शास्त्र के अर्थ को समझकर उसका सहारा लेकर स्वबुद्ध्युन्मेष से अर्थजात का बोधक, विज्ञान-तत्वयुक्त ग्रन्थ विस्तार से युक्त, सर्वेश्वर से लेकर संक्षेप प्रसार से अपने विकल्प विज्रम्भणों के द्वारा ब्रह्मादि से प्रणीत पुनः ब्रह्मादि से संक्षेप में ऋषियों द्वारा सुनकर स्वविकल्प से उनके द्वारा ही प्रणीत शास्त्र को राजस शास्त्र के नाम से अभिहित किया गया है।

तामस शास्त्र की संज्ञा उसे दी गयी है जो स्वविकल्प से कल्पित हो। पौरुष शास्त्र को केवल मनुष्यों द्वारा निर्मित शास्त्र माना गया है।

पाञ्चरात्रागम का विषय प्रतिपादन क्रम वैज्ञानिक और औचित्यपूर्ण है। प्रश्नोत्तर प्रणाली से इस आगमिक विषय का मनोवैज्ञानिक ढंग से औचित्यपूर्ण क्रमिक विकास को ध्यान में रखते हुए निरूपित किया गया है। बहुशः संहिताओं का प्रस्तावनाध्याय से ग्रन्थावतार-वर्णन क्रम से प्रारम्भ होता है। इस क्रम में उन संहिताओं के प्रवर्तन का इतिहास तथा प्रवर्तकों का क्रम भी वर्णित है।

समाज में प्रचलित वैष्णव आचार-व्यवहार में इन संहिताओं का प्राबल्य परिलक्षित होता है। वैष्णव सम्प्रदाय से सम्बद्ध ग्रन्थों में इन संहिताओं का उद्धरण प्रमाण रूप में प्रस्तुत है। श्री यमुनाचार्य ने अपने ग्रन्थ में संहिताओं के उद्धरण प्रस्तुत किये हैं।[1] श्री रामानुजाचार्य, श्रीमद्वेदान्तदेशिक ने भी अपने ग्रन्थ 'सच्चरित्ररक्षा' तथा 'पाञ्चरात्ररक्षा' में विविध संहिताओं के उद्धरण दिये हैं।[2]

डॉ. श्रेडर ने पाञ्चरात्रागम में वर्णित विषयों को दस रूप में स्वीकार किया है जो ये हैं- १. दर्शन, २. मन्त्रशास्त्र, ३. यन्त्रशास्त्र, ४. मायायोग, ५. योग, ६. आलय निर्माण, ७. प्रतिष्ठा विधि, ८. आह्निक कर्म, ९. वर्णाश्रम व्यवस्था एवं १०. उत्सवविधि वर्णन।[3]

डॉ. स्मिथ ने वैष्णव आइकोनोग्राफी में जो पाञ्चरात्रागम के मूर्तिकला से सम्बद्ध है, प्रायः प्रमुख पाञ्चरात्र संहिताओं से विषय संकलित किये हैं। इन संहिताओं के नाम हैं- (१) अगस्त्यसंहिता (२) अनिरुद्धसंहिता (३) अहिर्बुध्न्य संहिता (४) अ- ईश्वरसंहिता, ब- ईश्वरसंहिता (५) कापिञ्जलसंहिता (६) काश्यपसंहिता (७) गरुडसंहिता (८) जयाख्यसंहिता (९) नारदीयसंहिता (१०) परमसंहिता (११) पाराशरसंहिता (१२) पाद्मसंहिता (१३) पारमेश्वरसंहिता (१४) पुरुषोत्तमसंहिता (१५) पौष्करसंहिता (१६) बृहद्ब्रह्मसंहिता (१७) भार्गवतन्त्र

---

१. आगमप्रामाण्यम्, पृ. १६०, १६६, १७० आदि
२. पाञ्चरात्ररक्षा, अधिकार ३, पृ. ७८-७९.
३. इन्ट्रोडक्शन आफ पाञ्चरात्र, पृ. २६.

(१८) अ-मार्कण्डेयसंहिता, ब- मार्कण्डेयसंहिता (१९) लक्ष्मीतन्त्र (२०) वायुसंहिता (२१) वशिष्ठसंहिता (२२) विश्वामित्रसंहिता (२३) विष्णुतत्त्वसंहिता (२४ विष्णु-तन्त्रसंहिता (२५) विष्णुतिलकसंहिता (२६) विष्णुसंहिता (२७) विष्वक्सेनसंहिता (२८) विहगेन्द्रसंहिता (२९) शाण्डिल्यसंहिता (३०) शेषसंहिता (३१) श्रीप्रश्न-संहिता (३२) सनत्कुमारसंहिता (३३) सात्वतसंहिता तथा (३४) हयशीर्षसंहिता।

प्रमुख संहिताओं के परिचय-

पौष्करसंहिता- डॉ. वी वरदाचारी के अनुसार पौष्करसंहिता सात्वत संहिता से पहले की है क्योंकि सात्वतसंहिता का उल्लेख इस संहिता में है। पौष्करसंहिता में लगभग छः हजार कारिकाएँ हैं तथा तैंतालिस अध्याय हैं। पुस्तक अपूर्ण है। मध्य के कुछ अध्याय नष्ट हो गये हैं। इसमें भगवान् शब्द ब्रह्मा के लिए प्रयुक्त है जिन्हें पौष्कर कहा जाता है। इसमें परमेश्वर तथा सात्वत दोनों ही शब्दों का उल्लेख है किन्तु विद्वान् लेखक के अनुसार सात्वित शब्द वाला अंश बाद में जोड़ा गया है।

यह ग्रन्थ उत्तरी भारत में रचा गया प्रतीत होता है क्योंकि इसमें गंगा, यमुना, सरस्वती, प्रवाह आदि नदियों का नामोल्लेख है। यमुना दक्षिण पूर्व में बहती है, सरस्वती दक्षिण तथा वितस्ता पूर्व की ओर प्रवाहित होती है जहाँ इस संहिता का निर्माण हुआ होगा वह सम्भवतः उत्तरी पश्चिमी पंजाब या हिमालय का कोई स्थान रहा होगा।[1]

इसमें निर्दिष्ट है कि जिन भक्तों की भगवान् में आस्था है उन्हें प्रसन्न करने के लिए तथा कुछ स्थानों को पवित्र स्थान घोषित करने के लिए वासुदेव तथा अन्य देवता अपने को अवतरित होकर अपने को पाषाण में समाविष्ट कर देते हैं और वहीं रहते हैं। उन्हीं पाषाणों से प्रतिमाओं का निर्माण होता है तथा उनकी प्रतिष्ठा होती है।[2]

श्रीरंगम् का मन्दिर सबसे महत्वपूर्ण माना जाता है क्योंकि विभीषण ने पाञ्चरात्र पद्धति से इसकी प्रतिष्ठा की थी। द्वार, खिड़कियाँ, प्राकार आदि सभी के अधिष्ठाता देवता माने गये हैं। इस मन्दिर का निर्माण ७५० से ८५० ई. में हुआ था। इसका निर्माण पारमेश्वरसंहिता में विहित नियमों के अनुसार किया गया है। इससे यह स्पष्ट है कि पारमेश्वरसंहिता ७०० ई. से पूर्व

---

१. आगमाज् एण्ड साउथ इण्डिया वैष्णविज्म, पृ. २४९.

२. "तुष्टये त्वस्तिकादीनां तु तीर्थादीनां हि सिद्धये।
क्षेत्रेशा वासुदेवास्ते स्थिताश्चोपलकुक्षिषु।। - पौष्करसंहिता- ३६/२४.

प्रचलित हो चली थी और पौष्करसंहिता उससे भी पूर्व की है। अन्य मन्दिरों जैसे सत्यव्रत (कांची), विकट (तिरुमलै) तथा सिंहाचल।[1]

भगवान् इस संहिता के अनुसार मन्त्रदेहधारी हैं।[2] लक्ष्मी आदि परमात्मा की शक्तियाँ हैं।[3] कोई भी व्यक्ति चाहे वह वेदाध्यायी हो न हो क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सभी मूर्ति प्रतिष्ठा में भाग ले सकते हैं। शुद्ध ज्ञान रखनेवाली स्त्री भी इसमें भाग लेने की अधिकारिणी है।[4] इस संहिता में क्रिया तथा चर्या का वर्णन है। मण्डलार्चन तथा उससे प्राप्त फल का सुन्दर निरूपण प्राप्त होता है।[5] इस संहिता के दो संस्करण प्रकाशित हैं।[6] श्री नरसिंह यज्वा ने इस संहिता के ऊपर अपना भाष्य भी लिखा है।

सात्वतसंहिता- सात्वत संहिता में बीस परिच्छेद तथा पैंतीस सौ श्लोक हैं। इसमें पौष्कर, वाराह तथा प्राजापत्य संहिताओं का उल्लेख हैं।[7] इसमें नारद द्वारा उस उपदेश का वर्णन है जिसे संकर्षण ने वासुदेव से प्राप्त किया था। इसमें विशाखयूप[8] तथा विभव[9] की पूजा का विशेष रूप से उल्लेख है जिससे इस संहिता का नाम सात्वत संहिता चरितार्थ होता है। इसमें चतुर्व्यूह का वर्णन है तथा उनके स्वरूप की पूजा का उल्लेख है। चातुरात्म्य चार प्रकार के बताये गये हैं। प्रधान देव वासुदेव हैं जिन्हें आदिमूर्ति कहा गया है। यह नाम वैखानस आगम में विष्णु के लिए प्रयुक्त है जिनसे सत्य, पुरुष, अच्युत तथा अनिरुद्ध नामक चार देवों का प्रादुर्भाव हुआ है।

प्रथम प्रकार का चातुरात्म्य वह है जो सभी क्रियाओं का मूल है और जिसके कारण विश्व का स्वभाव चैतन्य है।[10] दूसरे प्रकार का चातुरात्म्य अनन्त प्रकाश वाला सूर्य-सदृश है जिसमें चार देवों के विभिन्न रंग प्रतिबिम्बित होते हैं। इसकी पूजा से कैवल्य की प्राप्ति तथा बन्धन के कारणों की निवृत्ति

---

१. आगमाज् एण्ड साउथ इण्डिया वैष्णविज्म, पृ. २५०.
२. पौष्करसंहिता, २१/५१.
३. तत्रैव, १०/२१, २२/७.
४. "नारी वा सद्विवेकिनी", पौष्करसंहिता, १/३६.
५. पौष्करसंहिता, ५/१-१८.
६. क. पौष्करसंहिता, सम्पादक- एच.एच. यतिराज सम्पत् कुमार, बंगलौर, १९३४ ई.
ख. पौष्करसंहिता, सम्पादक- डॉ. पी.पी. आप्टे, राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति, १९९१, २००६ ई. अंग्रेजी अनुवाद।
७. सात्वतसंहिता, ९/१३३.
८. तत्रैव, ४.
९. तत्रैव., ५/८१ ए.
१०. तत्रैव., ५/८१-८२ ए.

होती है।[१] तीसरे प्रकार का चतुरात्म्य अमृत स्रोत की भाँति आकर्षक, सृष्टि के रक्षक, उत्पादक तथा विनाशक सभी सामग्रियों से युक्त है। सभी देव अपना आकार ग्रहण करते हैं, प्रकट होते हैं और अन्तर्धान हो जाते हैं।[२] चातुरात्म्य के आदेश से ब्रह्माण्ड स्थित है।[३] भगवान् विभिन्न युगों में विभिन्न रूप ग्रहण करते हैं। इनका रूप अग्नि सोमीय होता है जो अक्षरों का रूप है।[५] पाञ्चरात्र को रहस्याम्नाय कहा गया है।[६] इसमें दुःखी, स्त्री तथा सभी वर्णों के लोगों को दीक्षित होने का अधिकार है। जिस स्त्री का पति जीवित हो उसे पति से आदेश लेना आवश्यक है।[७] प्रतिष्ठाविधिनामक अन्तिम परिच्छेद में देवालय में मूर्त्तियों की प्रतिष्ठाविधि का सम्यग् विवेचन किया गया है।

अहिर्बुध्न्यसंहिता- अहिर्बुध्न्यसंहिता में अड़तालिस सौ कारिकायें तथा साठ अध्याय हैं। अहिर्बुध्न्य एकादश रुद्रों में से एक माने जाते हैं। इन्होंने नारद को उपदेश किया तथा नारद ने दुर्वासा को पाञ्चरात्र का ज्ञान दिया। नारद द्वारा प्राप्त इसी ज्ञान को प्रस्तुत ग्रन्थ में भारद्वाज को दे रहे हैं। इसका प्रमुख सिद्धान्त सुदर्शन की महिमा का विश्लेषण है। कहा जाता है कि, इसमें दो सौ चालीस अध्याय थे जिन्हें बाद में साठ अध्यायों में संक्षिप्त किया गया।[८]

संहिता का प्रारम्भ सुदर्शन के रूप में भगवान् विष्णु तथा उनकी शक्ति की प्रार्थना से होता है। परकृति तथा पुराकल्प के आधार पर इसमें अनेक तान्त्रिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन है।[९] दश गाथाओं में सुदर्शन की महिमा का वर्णन है जहाँ यह बताया गया है कि विष्णु ने ब्रह्मा के लिए वेदों का पुनरुद्धार किया था। इक्कीस प्रकार के उपवेदों, साठ विषय, दो प्रकार के योग, चार प्रकार के कर्मसंहिता, पाशुपत दर्शन के आठ भाग तथा पाञ्चरात्र के दस विषयों का प्रतिपादन इस संहिता में किया गया है। इसमें पाञ्चरात्र को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है।[१०]

---

१. सात्वतसंहिता, ५/८२ बी.-८४.
२. तत्रैव, ५/८४-८५.
३. तत्रैव, ५/८६-८७ ए.
४. तत्रैव, ५/८७ बी-८९.
५. तत्रैव, १२/९०.
६. तत्रैव, १/१६ ए.
७. तत्रैव, ८/१३६.
८. अहिर्बुध्न्यसंहिता, १, ७०-७३.
९. तत्रैव, १, ६९ बी.
१०. तत्रैव, ११-१३.

चौथे से सातवें अध्याय तक सृष्टि के क्रम का वर्णन है। ब्रह्म को अनन्त आनन्दों से युक्त, आदि अन्तरहित माना गया है। इनका स्वरूप ही नारायण का स्वरूप है। ये सर्वव्यापक, नित्योदित से युक्त हैं, चार व्यूह का विशेष विवरण दिया गया है। इसी प्रकार जीव अनादि है, आनन्दयुक्त है, भगवन्माया है। यह सर्वव्यापक भी माना गया है। यह अनन्त शक्तियों का अंश है। जो जीव भगवान् द्वारा शक्तिपात किये गये हैं, वे ही मुक्त हो सकते हैं।[1]

इस संहिता के दो भाग हैं जिनमें रहस्यवादी उपासना के सिद्धान्तों तथा पद्धतियों का विस्तृत वर्णन है। प्रथम अध्याय से चतुर्दश अध्याय तक दार्शनिक तत्त्वों का निरूपण है। इनमें योग, मन्त्र, उत्सव तथा न्यास का विवेचन किया गया है। मन्त्रों द्वारा भगवान् की प्रार्थना का निरूपण है। यौगिक प्रक्रियाओं में नाडी, प्राणायाम आदि का विस्तृत उल्लेख किया गया है। बत्तीस अध्यायों तक इस तरह के विवरण हैं। पुनः इक्यावन से उनसठ अध्याय तक विष्णु मन्त्रों के स्थूल, सूक्ष्म तथा परम अर्थ का प्रतिपादन किया गया है। तारा या तारक मन्त्र का विशद् विवेचन है। अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, संकर्षण, वासुदेव, शक्ति तथा विष्णु की एकरूपता का प्रतिपादन है। षडाक्षर, अष्टाक्षर तथा द्वादशाक्षर विष्णु मन्त्रों का इसी प्रकार स्थूल-सूक्ष्म आदि रूप में निरूपण किया गया है। 'नाम' शब्द का यहाँ अभिप्राय सर्वतोभावेन समर्पण है। पुरुषसूक्त, श्रीसूक्त, वाराह मन्त्र तथा नरसिंह मन्त्रों का भी विशद् विवेचन किया गया है।

डॉ. श्रेडर के दिये गये तथ्यों के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि इस संहिता का मूल स्थान कश्मीर था क्योंकि यन्त्र बनाने वाला भोजपत्र हिमालय में ही उगता है।[2] इसके अतिरिक्त संहिता में कश्मीर के राजा (७५० ई.) मुक्तापीड का उल्लेख अड़तालीसवें अध्याय में है। इससे भी इस तथ्य की पुष्टि होती है। उत्पलदेव ने अपने स्पन्दप्रदीपिका में इस संहिता का उल्लेख किया है। उत्पलदेव का काल दशवीं शताब्दी के आस-पास है अतः इस संहिता का काल इससे पूर्व होना चाहिए जिसे आठवीं शताब्दी माना जा सकता है।[3]

परमसंहिता- परमसंहिता में इक्कीस अध्याय तथा लगभग एक हजार कारिकाएँ हैं। ब्रह्मा द्वारा प्रश्न पूछे जाने पर परम अर्थात् ईश्वर ने जो उत्तर दिये उन्हीं उत्तरों को मार्कण्डेय ने देवल से कहा है। यही इस संहिता का प्रारंभ है। इसमें मूर्तिप्रतिष्ठा तथा उसकी पूजा का विशेष उल्लेख किया गया है। मन्दिर निर्माण की प्रक्रिया का उल्लेख नहीं है। सृष्टि आदि का वर्णन अत्यन्त संक्षिप्त है।

---

१. अहिर्बुध्न्यसंहिता, १४/२८ बी. ३०.
२. इन्ट्रोडक्शन आफ पाञ्चरात्र, पृ. १६-१७.
अहिर्बुध्न्यसंहिता, २६/७५.
३. इन्ट्रोडक्शन आफ पाञ्चरात्र, पृ. १८.

भगवान् की पूजा के तीन प्रकार बताये गये हैं। मन्त्र द्वारा पूजा को कर्मयज्ञ, मन्त्रजप तथा स्तोत्रों द्वारा उच्चारण को वाक्यज्ञ तथा मानसिक पूजा को मनोयज्ञ कहा गया है।[1] वाराह, नरसिंह, श्री तथा सुदर्शन मन्त्रों को अधिक प्रतिष्ठा दीगयी है।[2] इस संहिता का रचना-काल ९०० ई. माना जाता है क्योंकि दशम शताब्दी के यामुनाचार्य ने अपने आगमप्रामाण्यम् में इसका उल्लेख किया है।[3]

श्री लक्ष्मीनृसिंह भट्ट द्वारा सम्पादित **श्रीपञ्चरात्रपारम्यम्** के प्रणेता श्री उत्तामूरवीरराघवाचार्य हैं। ग्रन्थ का प्रकाशन १९९१ ई. में राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति से हुआ है। ग्रन्थ की भाषा गद्यमय संस्कृत है। प्रायः पाञ्चरात्र सम्प्रदायान्तर्गत सभी विषयों का समावेश सप्रमाण सारगर्भित शब्दों में प्रस्तुत करने का स्तुत्य प्रयास किया गया है।

आचार्य व्रजवल्लभ द्विवेदी द्वारा सम्पादित नारदपञ्चरात्रम् **संकर्षणसंहिता** वर्ष २००४ ई. में स्वामिनारायण अक्षरपीठ, अहमदाबाद से प्रकाशित है। पाञ्चरात्र परम्परा के उपदेश की पञ्च-रात्रात्मक मान्यता को पुष्ट करती हुई इस संहिता का प्रधान वैशिष्ट्य यह है कि यह पाँच रात्रों में विभक्त है। ज्ञानरात्र, मन्त्ररात्र, आचाररात्र, अर्चनारात्र तथा प्रायश्चित्तरात्रों में विभाजित कुल ३८ अध्यायों में विभक्त है। पाञ्चरात्र परम्परागत सिद्धान्तों तथा प्रयोगों का एक प्रामाणिक विवचेन ग्रन्थ में किया गया है।

प्रोफेसर अशोककुमारकालिया महोदय ने अपने ग्रन्थ में पाञ्चरात्रागम-साहित्य विषयान्तर्गत ईश्वरसंहिता, श्रीपारमेश्वरसंहिता, पाद्मसंहिता, सनत्कुमार-संहिता, भारद्वाजसंहिता, नारदीयसंहिता, भार्गवतन्त्रम्, लक्ष्मीतन्त्रम्, विष्णुसंहिता तथा श्रीप्रश्नसंहिता का संक्षिप्त परिचयात्मक सारगर्भित विवरण प्रस्तुत किया है।[4] विद्वान् लेखक द्वारा ही **श्रीपुरुषोत्तमसंहिता** का देवनागरी संस्करण भी प्रकाशित किया गया है।

पाञ्चरात्र तथा वैखानस का अन्तर-

इन भागवत, वैखानस तथा पाञ्चरात्री के लिए महाभारत, पुराणों में स्मृतियों में तथा आचार्यों के ग्रन्थों में अनेक प्रकार के वचन प्राप्त होते हैं। कुछ तो इन्हें बहुत उत्तम मानते हैं और कुछ इन्हें बहुत ही अवर मानते हैं। महाभारत, भागवत, नारदीय, गरुड, पद्म तथा विष्णुपुराण भागवत पाञ्चरात्री आदि को श्रेष्ठ कहते हैं। स्मृतियों में वसिष्ठ, हारीत, व्यास, पाराशर आदि स्मृतियाँ इनको प्रशस्त कहती हैं। कूर्म, स्कन्द, साम्ब आदि कुछ पुराण तथा मनु, याज्ञवल्क्य

१. परमसंहिता, ३/२५ ए - २७ ए.
२. तत्रैव, १६/२.
३. आगमप्रामाण्यम्, पृ. १५.
४. पाञ्चरात्र-परिशीलन, पृ. १३३-२१९.

आदि कुछ स्मृतियाँ इनकी आलोचना करती हैं। कूर्मपुराण में एक श्लोक है-

वासुदेवाभिधानेन केनचिद् विप्रलिप्सुना।
प्रणीतं प्रस्तुतं तन्त्रमिति निश्चिनुमो वयम्।।[1]

इसी प्रकार का वचन अत्रि स्मृति में भी मिलता है-

वेदैर्विहीनाश्च पठन्ति शास्त्रम्,
शास्त्रेण हीनाश्च पुराणपाठकाः।
पुराणहीनाः कृषिणो भवन्ति,
भ्रष्टास्ततो भागवता भवन्ति।।

इसके विपरीत वराह पुराण ने कहा है कि वेदमन्त्र के अलाभ में पाञ्चरात्र वचनों से पूजन करें। वेद तथा पाञ्चरात्र को समान मान्यता दी है-

अलाभे वेदमन्त्राणां पाञ्चरात्रोदितेन वा।[2]

आगे यह भी कहा है कि पाञ्चरात्री के स्पर्श से चाण्डाल भी पवित्र हो जाता है।[3] वराहमिहिर ने भी बृहत्संहिता ६०/१९ में ऐसा ही समर्थन किया है।

वैखानस तथा पाञ्चरात्रियों के लिए प्रारम्भ से ही कुछ ऐसा विवाद चल रहा है। यामुनाचार्य जी ने आगमप्रामाण्य में वेदान्त देशिक ने पाञ्चरात्ररक्षा में वाधुलवरदाचार्य ने पाञ्चरात्र कण्टकोद्धार में भट्टोजी दीक्षित ने तन्त्राधिकार-निर्णय में तथा अप्पयदीक्षित ने इन पर बड़ा विचार किया है। किसी ने इन दोनों को अवैदिक माना है, किसी ने वैखानस को श्रौत कहा और पाञ्चरात्र को अश्रौत कहा। किसी ने सभी तन्त्रों एवं आगमों में से इन्हीं तन्त्रों एवं आगमों को सर्वश्रेष्ठ कहा तथा सात्वत, भागवत एवं ऐकान्तिक धर्म को ही सर्वश्रेष्ठ माना है।

पाञ्चरात्र सम्प्रदाय का मूल प्रायः वैखानस आगम से बाद का है।[4] महाभारत में वर्णित पाञ्चरात्र साहित्य के उल्लेख के अवसर पर चित्रशिखण्डी नाम के सात ऋषियों के वर्णन में सर्वप्रथम मरीचि का नाम मिलता है। इसी महर्षि मरीचि के द्वारा वैखानस आगम का प्रवर्तन हुआ। अस्तु, पाञ्चरात्र और वैखानस दोनों ही आगमों में नारायण को परम देवता स्वीकारा गया। वैखानस अर्चा को वैदिक पूजन तथा पाञ्चरात्र को शुद्ध पूजन कहते है।[5] इनके इतर भी

---

१. कूर्मपु., २/१६/१५.
२. व.पु., ६६/११.
३. व.पु., २११/६८.
४. 'वैखानससम्प्रदायस्य प्राचीनत्वम्'-शोध निबन्ध, डॉ० राघवप्रसाद चौधरी, विश्वसंस्कृतम्, होशियारपुरम्, मई, १९६७ ई० ।
५. शुद्धञ्च वैदिकञ्चेति तान्त्रिकञ्च त्रिधा भवेत्। पाञ्चरात्रेण पूजा तु शुद्धविष्णोरिति स्मृतम्।। वैखानसः स्वसूत्रेण पूजयेद् विष्णुमव्ययम्। वैदिकं तदिति प्रोक्तं द्विजातीनां प्रशस्यते।।
-पौष्करसंहिता

वैखानस और पाञ्चरात्र में मतभेद हैं। वैखानस लोग पाँच मूर्तियों-श्रीविष्णु, पुरुष, सत्य, अच्युत तथा अनिरुद्ध की अर्चा करते हैं। पाञ्चरात्र मत में चार मूर्तियाँ स्वीकृत हैं-वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध। यह प्रतिपादन युधिष्ठिर के द्वारा प्रश्न करने पर भगवान् वासुदेव ने स्वयं किया था।[१]

वैष्णव-आगमिक परम्परा के अनुसार आगम तीन प्रकार के हैं– (१) निगम, (२) तान्त्रिक तथा (३) मिश्र। वैखानसागम निगम तथा भागवत-मिश्र है।[२] वैखानस-शाखा को निगम तथा पाञ्चरात्र को आगम की संज्ञा दी गयी है।[३] वैखानस-आगम को वैदिक तथा पाञ्चरात्र को तान्त्रिक होना कहा है।[४] वैखानस की वैदिकता तथा पाञ्चरात्रागम की तान्त्रिकता वस्तुतः इन दोनों आगम-साहित्य के आलोडन से भी स्पष्ट ही ज्ञात होती है। सामान्य रूप से वैखानस-आगम-संहिता-ग्रन्थों में उन तान्त्रिक विषयों का वर्णन नहीं देखाई देता जो पाञ्चरात्रागम के प्रायः प्रत्येक संहिता-ग्रन्थ में वर्णित हैं।

पाञ्चरात्र-आगम में वैदिक मन्त्रों के प्रयोग के साथ-साथ बहुत सारे 'हुम्', 'फट्' आदि युक्त तान्त्रिक मन्त्रों के प्रयोग विहित हैं। मुद्रा-कल्पन-प्रकार, उसका विविध अवसरों पर प्रयोग, दीक्षा का विस्तृत वर्णन, मण्डल-कल्पन तथा अर्चन-प्रकिया, मारण, मोहन, उच्चाटनादि शुद्ध रूप से तान्त्रिक विषयों का विवेचन प्रायः सभी पाञ्चरात्र-संहिताओं में उपलब्ध है। इस प्रतिपादन क्रम के विपरीत वैखानसागम-संहिता-ग्रन्थों में मुख्य रूप से केवल वैदिक मन्त्रों का प्रयोग निर्दिष्ट है। वैखानस-आगम की किसी भी संहिता में पाञ्चरात्रागम की तरह मुद्रा, तान्त्रिक मन्त्र-दीक्षा तथा मारण-मोहन-उच्चाटनादि का निर्देश नहीं प्राप्त होता। पाञ्चरात्रागम का तान्त्रिक तथा वैखानसागम का वैदिक आगम होना कई वैखानसागम-संहिता ग्रन्थों में स्पष्ट निर्दिष्ट है।[५]

---

१. युधिष्ठिर उवाच-कथं त्वमर्चनीयोऽसि मूर्तयः कीदृशाश्च ते ।
वैखानसाः कथं ब्रूयुः कथं वा पाञ्चरात्रिकाः ।।
श्रीभगवानुवाच- 'शृणु पाण्डव तत्सर्वमर्चनाक्रममात्मनः ।
स्थितं मां मन्त्रतस्तस्मिन्नर्चयेत् सुसमाहितः ।।
विष्णुञ्च पुरुषं सत्यमच्युतञ्च युधिष्ठिरः। अनिरुद्धं मां प्राहुर्वैखानसविदो जनाः।।
अन्ये त्वेवं विजानन्ति मां राजन् पाञ्चरात्रिकाः। वासुदेवञ्च राजेन्द्र संकर्षणमथापि च।।
प्रद्युम्नञ्चानिरुद्धञ्च चतुर्मूर्तिं प्रचक्षते । -महाभारत, आश्वमेधिक पर्व, अध्याय ९२.

२. निगमस्तान्त्रिको मिश्रस्त्रिविधः प्रोक्त आगमः ।
निगमो विखनः प्रोक्तः मिश्रो भागवतः स्मृतः ।।-आनन्दसंहिता ८/२३.

३. वैखानसं हि निगमः पाञ्चरात्रं तथागमः ।-आनन्दसंहिता ९/५.

४. वैखानसं पाञ्चरात्रं वैदिकं तान्त्रिकं क्रमात् ।-आनन्दसंहिता १३/१

५. विष्णोस्तन्त्रं द्विधा प्रोक्तं सौम्यमाग्नेयमित्यपि । सौम्यं वैखानसं प्रोक्तमाग्नेयं पाञ्चरात्रकम् ।।
सौम्याग्नेये तथा प्रोक्ते शास्त्रे वैदिकतान्त्रिके।-खिलाधिकार ४१/१-२.

पाञ्चरात्रीय तत्त्वदर्शन

ब्रह्म-

दर्शन के तीन अंश होते हैं- तत्त्वमीमांसा, प्रमाणमीमांसा और आचारमीमांसा। जब भी किसी सम्प्रदाय के दार्शनिक पक्ष पर विचार किया जाता है, इन्हीं तीन बिन्दुओं को ध्याम में रखा जाता है। पाञ्चरात्रागम भी एक दार्शनिक प्रस्थान है। इसमें तत्त्वमीमांसा सम्बन्धी पहलुओं पर विचार करते समय यह ध्यातव्य है कि इस सम्प्रदाय का परमतत्त्व वेदोपनिषद् प्रतिपाद्य 'ब्रह्म' ही है। उपनिषदों में ब्रह्म को सत्, चित्, आनन्द कहा गया है। ये तीनों उसके गुण नहीं स्वरूप हैं क्योंकि वह अद्वितीय है। वह नित्य, विभु तथा ज्ञानस्वरूप है। वह आनन्द ही है। जयाख्यसंहिता में उसे सभी प्रकार के निषिद्ध गुणों रहित तथा आनन्द स्वरूप ही माना गया है।[1] इस परमतत्त्व को पाञ्चरात्र आगम में वासुदेव कहा गया है। बृहद्ब्रह्मसंहिता में उल्लिखित है कि सबकी अवधि (परमाश्रय) शेषी, सद्गुणों के आलय और सभी कारणों के कारण सच्चिदानन्दरूप भगवान् हैं।[2] इस कथन में 'सर्वविधि' से सत् का 'शेषी' से चित् का और 'सद्गुणालय' से आनन्द का ज्ञापन होता है। सच्चिदानन्द की व्यक्ति 'सर्वकारणकारण' रूपा होती है।

ब्रह्म शब्द 'बृंह' धातु से निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है व्यापक होना, बढ़ना आदि। यह पदार्थों का वास्तविक स्वरूप है।[3] ब्रह्म एक, निदुःख, निःसीम, सुखानुभवलक्षण, अनाद्यन्त, अनामय, परब्रह्म, नारायण, सर्वभूतों में आवास किया हुआ, सबमें व्याप्त होकर स्थित, निरवद्य, अन्तरंग समुद्र के समान अविक्षिप्त, प्राकृत गुण स्पर्शरहित किन्तु अप्राकृत गुणों का आस्पद, भवसागर से सर्वथा पार, निष्कलंक, निरंजन, आकार-देश-काल के आयोग से अविच्छिन्न, नित्योदित व्याप्ति, हेय तथा उपादेयोज्फित, किसी भी इयता से अपरिच्छेद्य।[4]

---

१. 'आनन्दलक्षणं ब्रह्म सर्वहेयविवर्जितम्'- जयाख्यसंहिता, ४, ६०. पाद्मसंहिता, १, ५, २९-४०.

२. 'सर्वलोकावधिः शेषी....।। एष सर्वावधिः शेषी भगवान् सद्गुणालयः। सच्चिदानन्दरूपोऽसौ सर्वकारणकारणः।' - बृ.ब्र.सं. २/७/१४७-१४८.

३. अ. 'बृहत्वाद् बृंहणत्वाच्च ब्रह्मेति श्रुतिगोचरे।' अहि.सं. २, ३७ ए.
ब. 'सर्वत्र बृहत्वगुणयोगेन हि ब्रह्मशब्दः। बृहत्वं स्वरूपेण गुणैश्च यत्रानवधिकातिशयं सोऽस्य मुख्योऽर्थः।' श्रीभाष्य, १, १,१.

४. अहिर्बुध्न्यसंहिता, २, २२-२६.

पाद्मसंहिता में ब्रह्म को आनन्दमय, आदि, अपरिवर्तनशील, स्वयंप्रकाश, निर्दोष, सूक्ष्म, ईश, निष्कलंक, अनन्त, अक्षर शान्त, अदृश्य, संसार को विकसित करने वाला, चिदानन्द, सर्वव्यापक, परम, त्रिकालाबाधित, भगवान् वासुदेव, सब भूतों का उद्गम, परमात्मा, सनातन, निस्तरंग, निर्बाध, निर्गुण और सगुण है।[1]

नारदीयसंहिता में सृष्टि के पूर्व सनातन वासुदेव का वर्णन है। संहिता में कहा गया है कि निरालोक, अतिगह्वर, निर्मयादि, निराभास, निष्प्रपञ्च, निरालय इस महान् जगत् में जब इन्द्र तथा सूर्य की किरणें नष्ट हो गयी थीं, उस समय यह प्रपञ्च ग्रह तथा नक्षत्र से रहित था। पक्षियों के सन्तानें न थी, न देव थे, न राष्ट्र, न ब्रह्मा न अन्य जन्तु ही। उस समय एक सनातन भगवान् वासुदेव ही थे। उस निराभास, तत्त्वातीत, परशिव ज्ञानशक्ति से सम्पन्न परमात्मा को पुरुषोत्तम मानना चाहिए। यह पुरुषोत्तम वासुदेव सर्वपिक्षया उत्तर पुरुष अर्थात् ब्रह्मस्वरूप हैं।[2] इस ब्रह्म स्वरूप की तुलना औपनिषदिक ब्रह्मस्वरूप 'आत्मैवेदमग्र आसीत्' से साम्य रखती है।[3]

ज्ञानामृतसार नारद पाञ्चरात्र में भगवान् अभ्यन्तर ज्योतिःस्वरूप, अतुल, श्यामसुन्दर, परब्रह्म, परमात्मा परमेश्वर हैं। वे निरीह, अतिनिर्लिप्त, निर्गुण, प्रकृतिपर, सर्वेश, सर्वरूप, सर्वकारण-कारण, सत्य, नित्य, पुरुष, पुराण, पर अव्यय, मंगल्य, मंगलालय, स्वेच्छामय, परधाम और सनातन हैं। भगवान् भक्तप्रिय, भक्तेश, भक्तानुग्रह, विग्रह, श्रीद, श्रीश, श्रीनिवास हैं। वे ही राधिकेश्वर श्री कृष्ण हैं जो परमानन्द नन्दन हैं।[4] भगवान् श्रीकृष्ण त्रिगुणात्पर, परात्पर तथा परमात्मा हैं।[5] भगवान् परिपूर्णतम, ब्रह्म, परमात्मा, ईश्वर, निर्लिप्त, साक्षीभूत और सनातन हैं।[6] सात्त्वततंत्र के अनुसार भी परमतत्त्व श्रीकृष्ण हैं, ब्रह्म पुरुष आदि उन्हीं के नाम हैं।[7]

लक्ष्मीतन्त्र के अनुसार परमात्मा एक निर्दुःख आनन्दमय है। लोग उसको पथ अथवा अन्त कहते हैं। अहंकार का जिसे बोध हो, उसे आत्मा और

१. अ. पाद्मसंहिता ज्ञा.पा. ५, २८-४०.
   ब. विष्णुतिलकसंहिता, २.७४-८२.
२. नारदीयसंहिता, १, २५-२९.
३. बृहदारण्यकोपनिषद्, १, ४, १.
४. ज्ञानामृतसार, नारदपाञ्चरात्र, १,१, ३-९.
५. तत्रैव, १,२/६५, १,१२,३०-३१, २,५,१५.
६. तत्रैव, १,३,८०
७. सात्वततन्त्र, ३, ३९-४७.

जिसकी प्रकृति अनन्त है उसे परमात्मा कहते हैं। वह सम्पूर्ण चराचर को आच्छादित किये हैं। उसी को वासुदेव कहते हैं, वह परम क्षेत्रज्ञ हैं। वह विष्णु, नारायण, विश्व और विश्वरूप भी कहलाता है। उसकी अहंता से यह सारा संसार ढका हुआ है। वह सर्वत्र, शान्त, निर्विकार, अनन्त और देशकालाबाधित है। उसे महाविभूति भी कहते हैं क्योंकि उसका अनन्त विस्तार है। वह परमधाम स्वयं प्रकाश है। वह ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति और तेजोमय है। वह चिद्धन है। वह ब्रह्म अद्वितीय और शक्तिमान् है।[१]

अहिर्बुध्न्यसंहिता में अनादि एवं अनन्त पर ब्रह्म को अक्षर तथा अव्यय कहा गया है। वह अनामयरूप सर्वेद्य तथा मन से अगोचर है। ब्रह्म सर्वशक्ति है। वह षाड्गुणयुक्त है।[२] षड्गुण्य का अर्थ निरवच्छिन्न ज्ञान, निरवच्छिन्न शक्ति, निरवच्छिन्न ऐश्वर्य, निरवच्छिन्न बल, निरवच्छिन्न वीर्य एवं निरवच्छिन्न तेज कहा गया है जो अजड स्वात्म संबोधि नित्य तथा सर्वावगाही हो उसे ज्ञान कहते हैं। गुण-चिन्तकों के अनुसार इसी तरह का ज्ञान ब्रह्म का प्रथम गुण है। यही ज्ञान, ब्रह्म का स्वरूप, साथ-साथ उसका गुण भी। शक्तिगुण जगत् निर्मातृ प्रकृति-शक्ति है। ब्रह्म स्वातन्त्र्य परिबृंहित कर्तृत्त्व ही उसका ऐश्वर्य-गुण है, अर्थात् ब्रह्म सर्वथा स्वतन्त्र कर्तृत्त्वयुक्त है। सतत प्रपञ्च की सृष्टि करते हुए भी ब्रह्म को श्रम नहीं होता और उसकी यह श्रम हानि उसका बल-गुण हैं। उपादान के अभाव में भी विकार-विरह-रूप जो ब्रह्म का अच्युतत्त्व है, वही वीर्य गुण है। ब्रह्म को सहकारी की अनपेक्षा ही उसका तेजोगुण है। अहिर्बुध्न्य के अनुसार शक्त्यादि पाँच गुण प्रथम ज्ञानगुण के ही प्रकार हैं जैसा कि, ऊपर निर्दिष्ट ज्ञान ही परबह्म का स्वरूप भी है। इस तरह परब्रह्म का षाड्गुण्य स्वशक्ति परिबृंहित ही है। ज्ञानस्वरूप वह परब्रह्म 'बहुस्याम' इस संकल्प अर्थात् इच्छा से सुदर्शन को ग्रहण करता है।[३] ब्रह्म निर्गुण है तथापि उसको षाड्गुण्य कहा गया है क्योंकि निर्गुण का अर्थ प्राकृत गुणों के स्पर्श से रहित।[४] उपनिषद् में भी ब्रह्म स्वरूप को 'एकोऽहं बहुस्याम प्रजायेय' और उसी से तेज, आप, अन्न आदि की सृष्टि परिलक्षित है।[५]

---

१. लक्ष्मीतन्त्र, २.१.१०.
२. अहिर्बुध्न्यसंहिता, २, ६-७.
३. तत्रैव, ५६-६२.
४. 'अप्राकृतं गुणस्पर्शं निर्गुणं परिगीयते', तत्रैव, २/५५.
५. छान्दोग्योपनिषद्, ५/२, ३-५.

इस निखिल विवेचन का निर्गलन यह है कि, पाञ्चरात्र आगमों का परमतत्त्व सच्चिदानन्द सर्वगुण सम्पन्न और निर्विकार है। इसके अनुसार विश्व की आश्रयभूत सत्ता एक ब्रह्म ही है। वह सृष्टि का निमित्त तथा उपादान दोनों कारण हैं। ब्रह्म का यह स्वरूप परवर्ती विशिष्टाद्वैत से न मिलकर अद्वैतवाद से ही मिलता है। आधुनिक वैष्णव सम्प्रदायों से पाञ्चरात्रों की यह विशेषता है। कारण यह है कि, पाञ्चरात्रागम उस भागवतदर्शन अवलम्बित है जो महाभारत और भगवद्गीता में उपलब्ध होता है जिसका सिद्धान्त अद्वैतपरक है। आगे चलकर श्री रामानुज द्वारा प्रवर्तित विशिष्टाद्वैत का वैष्णव सम्प्रदायों पर प्रभाव पड़ा और उनका सगुण ब्रह्म सृष्टिक्रम में आकर विशिष्ट हो गया।

लक्ष्मीतन्त्र में कहा गया है कि भगवान् वह सनातन परमात्मा है जो मेघहीन आकाश, निष्पन्द महोदधि के समान है तथा जो 'स्वच्छ-स्वच्छन्दन चैतन्य सदानन्द महोदधि है। वह आकार-देश-कालादि परिच्छेद से विवर्जित है।[१] यह महोदधि ज्ञान-भक्ति-बल-ऐश्वर्य-वीर्य और तेज का है।[२] नारदपाञ्चरात्र में भी भगवान् को स्थान-स्थान पर षाड्गुण्य दिखाया गया है।[३] लक्ष्मीतंत्र का कथन है कि निर्मेघ आकाश और निष्पन्द उदधि- जैसे लक्ष्मी के ज्ञान रूपी धन से शुद्धा सृष्टि का प्रवर्तन होता है। ज्ञान निर्व्यापार सदानन्द, शुद्ध, सर्वात्मक और पर है। प्रथम ज्ञान का ही नाम संकर्षण है।[४]

'शक्ति' गुण ब्रह्म का जगत्प्रकृति भाव है।[५] अहिर्बुध्न्यसंहिता में कहा गया है कि परा 'श्री' भगवान् की पूर्ण षाड्गुण-विग्रहा, सहस्रा, परमाशक्ति है, जो भगवान् की सहगा तथा स्वरूप प्राप्ता है।[६] सहस्रा का अर्थ है षड्गुणों के मध्य विराजने वाली शक्ति।[७] वस्तुतः श्री तो वासुदेवाभिन्न भगवती हैं जिनमें छहों गुण साथ-साथ पूर्णतया रहते हैं, और 'शक्ति' उनका एक अंश हैं। शक्ति गुण का प्राधान्य अनिरुद्ध में है।

---

१. लक्ष्मीतन्त्र, ७, २-३.

२. तत्रैव, ७, ५.

३. नारदपाञ्चरात्र, १,३,४२-४६, ७९-८२.

४. लक्ष्मीतन्त्र, ४, ७-८.

५. अहिर्बुध्न्यसंहिता, २, ५७.

६. सहस्रा सहगा यस्य सहभावमुपेयुषी।
श्रीनमि परमा शक्तिः पूर्णषाड्गुण्यविग्रहा।।
- तत्रैव, ५९, ८.

७. "षण्णां गुणानां मध्ये या शक्तिः सा हस्र उच्यते।"
- तत्रैव, ५९, १२५.

ब्रह्म का स्वातन्त्र्य-समृद्धकर्तृत्व ऐश्वर्य है।[१] लक्ष्मीतन्त्र में इसका उल्लेख इस प्रकार है कि, विश्व के निर्माण में किसी अन्य हेतु की अनपेक्षा-रूप जो स्वातन्त्र्य है, वही ऐश्वर्य है। यही पुरुषोत्तम प्रद्युम्न है।[२]

जगत् की सतत रूप से सृष्टि करने में श्रम न होना भगवान् का बल गुण है।[३] ज्ञान और बल का उन्मेष 'संकर्षण' कहलाता है। यह 'तिलकालक' के समान स्वतः सकल विश्व का भरण करता है। इसी का नाम वेदान्त में बल कहा गया है।[४] संकर्षण से ही निर्घात शब्द के समान शास्त्र प्रकाशित होता है।[५]

ब्रह्म ही जगत् का उपादान भी है। उपादान कारण होने पर भी विकार से रहित रहना भगवान् का वीर्य गुण है।[६] शक्ति और तेज का समुन्मेष प्रद्युम्न है।[७] सहकारी की अनपेक्षा न होना तेज है।[८] शक्ति और तेज का समुन्मेष प्रद्युम्न है।[९]

सच्चिदानन्द ही भगवतत्त्व है। इसका स्पष्टीकरण यह है कि सत् में ऐश्वर्य और धर्म का, चित् में ज्ञान और वैराग्य का, आनन्त में यश और श्री का निवास है।

पाञ्चरात्रागम में पूर्ण दर्शन तथा भागवत धर्म का अन्तर स्वीकार किया गया है। एक शुद्ध ब्रह्म है, तो दूसरा माया से आछन्न। एक आध्यात्मिक पर सत्ता है तो दूसरी तार्किक पर सत्ता। एक तात्त्वित दृष्टि से सत्य है तो दूसरा ध्यान योग की दृष्टि से। इस प्रकार निर्गुण तथा सगुण के परिकल्पना की पष्ठभूमि तैयार होती है।[१०] परमात्मा की पूर्णता सर्वत्र उसमें षाड्यगुण्य पूर्णता के कारण मानी जाती है।

विभिन्न शब्दों के स्थूलार्थ लोक-प्रचलित रहते हैं। सूक्ष्मार्थ और परार्थ शास्त्रों में स्पष्ट किये जाते हैं। पाञ्चरात्रागम में भी भगवान् 'वासुदेव' 'नारायण' 'विष्णु' आदि जैसे शब्दों के विशेष अर्थ बताये गये हैं। यहाँ पर इनका सूक्ष्मार्थ स्पष्ट किया जा रहा है।

१. अहिर्बुध्न्यसंहिता, २, ५८.
२. लक्ष्मीतन्त्र, ४, ९.
३. अहि.सं., २, ५९.
४. लक्ष्मीतन्त्र, ४, १४.
५. तत्रैव, ४, १५.
६. "विकारविरहो वीर्यम्" तत्रैव, ४, १६.
७. लक्ष्मीतन्त्र, ४, १५.
८. "तेजस्त्वन्यानवेक्षत्यमनिरुद्धत्वमप्युत्"- तत्रैव, ४, १७.
९. "शक्ति तेजः समुन्मेषो ह्यनुरुद्धः स ईरितः।" - तत्रैव, ४, १६.
१०. 'दी फिलासाफी आफ पाञ्चरात्र', डॉ. एस.आर. भट्ट, १९८०, पृ. २१.

अहिर्बुध्न्य संहिता के अनुसार 'भगवान्' शब्द अपने वर्ण समुदाय में 'पूज्य' अर्थ देता है।[१] प्रत्येक वर्णों के अर्थ भी इस संहिता में वर्णित है। 'मकार' त्रिकर्मवाचक है। कर्म तीन हैं- धारण-पोषण-पूरण (भरण और संभरण)। 'गकार' के पाँच अर्थ हैं- समस्त शब्दों द्वारा गीयमान, अपवर्ग आदि से प्राप्तव्य, स्वतः अवबुध्य, सम्पूर्ण संसारमें सर्वव्यापक और निखिलार्थों का नेता। मतुप् (वान्) प्रत्यय का अर्थ है- संसार को स्वत्व से वरण या अवतारित करने वाला, ईशतापूर्वक वर्तन करने वाला और निखिल कामनाओं का वर्धन करने वाला।[२]

बृहद्ब्रह्मसंहिता भगवान् के लक्षणों में उनके गुणों की विशेषताओं को अधिक स्पष्ट रूप से बताती है। भगवान् हेय-प्राकृतिक रूप- 'विशेष' से वर्जित, परन्तु हेयांश-वर्जित-विशेष से युक्त, चित्-अचित्-शब्द-वाच्य, विशेषणतया स्थित, सदनन्त गुणों के आलय और अन्य व्यापवर्तक अनेक विशेषणों से विभूषित है। उस विशेष्य परमात्मा में सब अवस्थाओं का आश्रय-रूप विशेष कभी भी निवर्तित नहीं होता।[२] संहिताकार ने भगवान् को निर्विशेष होते हुए सविशेष हैं- इस पक्ष पर विस्तारपूर्वक विचार किया है।[३]

ज्ञानामृतसार नारदपाञ्चरात्र में 'वासुदेव' के एक सौ आठ नामों का वर्णन है।[४] लक्ष्मीतंत्र के अनुसार सृष्टि करने की इच्छा करती हुई लक्ष्मी आदि रूप वासुदेव है जो तरंगहीन समुद्र और मेघरहित आकाश के समान है। जब षड्गुण समान रूप से उन्मेष करते हैं तब उस उन्मेष को वासुदेव कहा जाता है।[५] सर्वभूतों में वास करने के कारण भगवान् का नाम वासुदेव है।[६]

---

१. 'भगवानिति पूज्यार्थः शब्दोऽयं समुदायतः।'
- अहिर्बुध्न्यसंहिता- ५२, ५९ बी.

२. धारयत्यखिलं विश्वं पोषयत्यपि तत् सदा।
भरते पूरयत्येतत् संभरत्यपि चात्मना।।
त्रयी कर्मात्मकं लक्ष्ममिति मार्थे निरूप्यते।
गीयते निखिलैः शब्दैर्गम्यते चापवर्गिभिः।।
स्वतोऽवबुध्यते सर्वं व्याप्नोति निखिलं जगत्।
नेता च निखिलार्थस्य गकारार्थस्मृतो मुने।।
स्वत्वेन वृणुते विश्वं वर्तते चेशतात्मना।
वर्धयत्यखिलं कामं वतोऽर्थोयं समीरितः।। - अहि.सं. ५२, ६०-६३.

३. बृहद्ब्रह्मसंहिता- ४, ८, ६६-७०.

४. तत्रैव, ४, ८, ९४-१११.

५. लक्ष्मीतन्त्र, ४, १२-१३.

६. "समस्तभूतवासित्वाद् वासुदेवः प्रकीर्तितः", - अहि.सं. २, २८.

बृहद्ब्रह्मसंहिता में बताया गया है कि ब्रह्म इस शरीर में बसता और स्थित रहता है। अस्तु, वह वासुदेव है।[१] परमसंहिता में कहा गया है कि सभी प्राणियों के देहों में बसने से 'वासव' है उनमें जो सनातन देव है वही वासुदेव है।[२]

सात्त्वत-तन्त्र के अनुसार नर से उत्पन्न तत्त्वों का संग्रह 'नार' है। 'नार' में जिसका अयन है वही नारायण हैं।[३] नारदपाञ्चरात्र में नारायण शब्द के दो व्युत्पत्तियों का उल्लेख है। नार जल को कहते हैं और जिसका नार में अयन है, वही नारायण है। नार-नर-समूह का नाम है और अयन का अर्थ साक्षिभूत है। नरसमूह का अन्तर्यामी ब्रह्म नारायण है।[४] परमसंहिता में निःश्रेयस और अभ्युदय दोनों नारायण हैं। उनमें सक्षम होने से ही वे देव नारायण हैं।[५] अहिर्बुध्न्यसंहिता का कहना है कि जो अनिष्ट नहीं करता, वह 'नर' है। नर पुरुषोत्तम का नाम है। नर का सम्बन्धी 'नार' है। चेतनाचेतनात्मक नार जिसके ईशितव्य, धार्य, पोष्य, नियाम्य, सृज्य, प्रवेश्य और हार्य है, वही नारायण है।[६]

परमसंहिता में सत्त्ववृत्ति से संसार का रक्षण करना और परम अपवर्ग रूप प्राप्त कराना विष्णु का वैशिष्ट्य बताया गया है।[७] जगत् व्याप्त करने से भी विष्णु है।[८] प्रलय काल में वे निर्व्यापार, विज्ञानघन' रूप परम-पुरुष परमव्योम में रहते हैं।[९] विष्णु-भक्ति-परायण एकान्ती प्रसन्नतापूर्वक परम श्रद्धा के साथ वासुदेव की उपासना करते हैं।[१०] सात्त्वततन्त्र भी विष्णु को 'सत्वगुणाधीश' कहता है।[११]

अहिर्बुध्न्यसंहिता में विष्णु को तीन धातुओं से वि, षच् और ष्णुका बताया है। इनके अर्थ हैं- प्रजनन, समवाय और प्रस्रवण। अतः विष्णु का सूक्ष्मार्थ हैं- जो विश्व को उत्पन्न करता है, उसमें वास करता है तथा सज्जनोंके

१. बृहद्ब्रह्मसंहिता, ४, ६, ४२.
२. परमसंहिता, २, १७-१८.
३. सात्वततन्त्र, १-३४.
४. नारदपाञ्चरात्र, ५, ८, १९-२०.
५. परमसंहिता, २, १६-१७.
६. अहिर्बुध्न्यसंहिता, ५२, ४९-५०.
७. परमसंहिता, २, १४-१५.
८. तत्रैव, १८.
९. परमसंहिता, २, १०७.
१०. तत्रैव, ३१,३०.
११. सात्वततन्त्र, १-४१.

लिए सदा चतुर्विध पुरुषार्थ स्रवित करता है। इसका अक्षरलभ्य पदार्थ है- जिसने सेवार्थ को अमृतमय किया है, जिसने ज्योतिष-त्रय को प्रदीप्त किया है और जो अभय प्रदान करता है वही विष्णु है।[१] नारदपाञ्चरात्र में विष्णु का नाम तीन कारणों से लिया गया है- विभवनत्व से, व्यापकत्व से और भावनत्व से।[२] बृहद्ब्रह्मसंहिता में उल्लिखित है कि सकलतनुवाली अण्वीजीवकला में प्रवेश करके उसका प्रवर्तन करने से 'विष्णु' कहे जाते हैं।[३] ब्रह्मपद कैवल्य 'विष्णु का परमपद' ही है।[४] उसमें जाकर लौटना नहीं पड़ता।[५] वह अद्वितीय भगवत्पद दिव्य, अमृत, शुद्ध, सत्त्वमय और अवर्णनीय है।[६]

शक्ति का स्वरूप-

पाञ्चरात्र आगम संहिताओं में 'शक्ति' तत्त्व की सविशेष प्रतिष्ठा हुई। अधिकांश आगमों में नारायण या वासुदेव आश्रय रूप बने रहते हैं, उनकी क्रिया 'शक्ति' से प्रवर्तित होती है। इस शक्ति की प्रधानता से पाञ्चरात्रदर्शन में 'शक्तितत्त्व' की मुख्यता हो जाती है।

प्राचीन वैदिक दर्शन में 'शक्ति' का उल्लेख 'स्वधा' के रूप में है। 'स्वधा' ऋग्वेद का शब्द है। इसके कई अर्थ किये गये हैं- आन्तरिक शक्ति[६] आन्तरिक स्वभाव[८], विशेष स्वभाव[९] और स्वेच्छा शक्ति[१०]। श्वेताश्वतर उपनिषद् इसी को 'आत्मशक्ति' कहता है। 'स्वधा' या 'आत्मशक्ति' ही संसार की सृष्टि क्रिया में उपादान है।[११]

द्वन्द्वातीत तथा निष्कल परात्पर सत्ता से प्रपञ्चात्मक जगत की सृष्टि का होना तर्कसंगत ने देखकर उसमें निहित एक शक्ति की परिकल्पना की गयी। अद्वैत वेदान्त में उसे अविद्या तथा माया कहा जाता है। वह जडात्मक है। जड

१. अहिर्बुध्न्यसंहिता, ५२, ४४-४७.
२. नारदपाञ्चरात्र, ५/८/१३.
३. बृहद्ब्रह्मसंहिता, ४, ६, ४१-४२.
४. तत्रैव, ३, ४, ४१/४, ६, १०१.
५. तत्रैव, २, ७, १५०.
६. तत्रैव, ३, ७, ७/३, १, ४०-४८.
७. 'दू इट्स सिग्निफिकेन्स इन द रिग्वेदा', स्टेल्ला वरामरिश अमेरिकन आरियेण्टल सिरीज, वा. ४७, पृ. ११२.
८. तत्रैव, पृ. ११५.
९. 'डे कास्मोगोनी वान रिग्वेदा', जे. गोण्डा, १०, १२९, पृ. ६९२.
१०. 'हाइम्न्स स्पेचुलेटीफिकंस डु वेदा', एल. रेना, पेरिस, १९५६, पृ. १२६.
११. ऋग्वेद, १०, ९०.

शक्ति में पुनः उन्मेष की समस्या खड़ी होती है अतः उसे चित् शक्ति माना गया है। चित् शक्ति चैतन्य स्वरूप ब्रह्म से भिन्न नहीं है, अस्तु, इसे ब्रह्माद्वैत कहते हैं। अभिप्राय यह है कि शक्ति के बिना शक्तिमान् अपनी अभिव्यक्ति में असमर्थ हैं।[१] उसी प्रकार शक्तिमान 'शक्ति' के बिना षाड्गुण्य रहित है। दोनों एक दूसरे के बिना नहीं रह सकते हैं। दोनों में 'तादात्म्य' सम्बन्ध है।[२]

लक्ष्मीतन्त्र में यह उल्लेख है कि, नारायण 'ब्रह्म' है और उसका 'भाव' लक्ष्मी है।[३] दोनों रूप पर ज्ञानात्मक है। अतः दोनों में भेद नहीं है।[४] दोनों के ही अनेक नाम हैं। यथा- आनन्दा, स्वतंत्रा, श्री, पद्म, कमला, कुण्डलिनी, अनाहता, गौरी, गायत्री, शिवा, तारा तथा रति आदि शक्ति के नाम हैं।[५] इसी प्रकार परमात्मा, भगवान् वासुदेव अनन्त, प्रभव, हिरण्गर्भ, शिव तथा विष्णु, नारायण आदि परमात्मा के नाम हैं।[६] विष्णुपुराण में तो प्रत्येक पुरुष को 'विष्णु' तथा प्रत्येक स्त्री को 'श्री' माना गया है।[७] अहंता से आच्छादित होने पर ही अहं भाव की पहचान होती है। अहंता 'मैं' पदवाच्य है जैसा कि ऊपर कह आये हैं कि दोनों में अविनाभाव समन्वय के कारण लक्ष्मी और नारायण में अभेद है। अहंता के बिना अहंकार का वर्णन नहीं हो सकता और न पहचान ही। अहंता भी अहंभाव के बिना निराधार है। संस्थ (समन्वय) और व्यस्थ (विश्लेषण) के रूप में दृश्य और भगवद्भाव (ब्रह्म और सारा जगत्) परोक्ष और अपरोक्ष रूप से जाना जाता है।

लक्ष्मीतन्त्र में लक्ष्मी अपने (शक्ति) के विषय में इस प्रकार कहती हैं-'मैं" उसकी परम शक्ति, अहंता, सनातन और निर्विकार हूँ। सिसृक्षा मेरी क्रिया है। मैं अपनी स्वतन्त्र शक्ति से सारे विश्व की रचना करती हूँ। मैं दो प्रकार के भूतों में अपने को उत्पन्न करती हूँ- चेत्यम् (जानने वाला) और चेतनी (जाना हुआ)।

---

१. "शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं, न चेदेव देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि।" सौन्दर्यलहरी, १ ए.

२. "अन्योन्येनाविनाभावादन्योन्येन समन्वयात्।
तादात्म्यं विद्धि सम्बन्धं मम नाथस्य चोभयोः।। - लक्ष्मीतन्त्र २, १७ बी. १८ ए.

३. 'भगवन्नारायणो देवो भावो लक्ष्मीरहं परा।
लक्ष्मीनारायणाख्यातमतो ब्रह्म सनातनम्।।" - तत्रैव, २, १५.

४. "ज्ञानात्मकं परं रूपं ब्रह्मणो मम चोभयोः"। - तत्रैव, २, २५ बी.

५. अहिर्बुध्न्यसंहिता, ३, ७-२४.

६. तत्रैव, २, २६ बी.-४०.

७. 'देवतिर्यङ्मनुष्यानां पुन्नामा भगवान्हरिः।
स्त्रीनाम्नी श्रीश्च विज्ञेया नानयोर्विद्यते परम्।।' - विष्णुपुराण, १/८, ३५.

मेरी चिच्छक्ति दोनों को प्रकाशित करती है। मेरा संवित् स्वभाव ही ज्ञाता और ज्ञेय हो जाता है। वह शुद्ध, स्वतन्त्र और पूर्ण है। योग द्वारा ईख के रस के समान घनीभूत हो जाता है। इससे चैत्य (ज्ञाता) चित्त्व (जीवत्त्व) को प्राप्त होता है। जिस प्रकार ईंधन अग्नि से अग्निमय हो जाता है उसी प्रकार 'चैत्य' संवित् से मिलकर चिन्त्य हो जाता है। चित् उपाधियों से विकार युक्त होता है।[१]

लक्ष्मी जीवात्मा के सन्दर्भ में कहती है कि मेरा संकुचित रूप जीवात्मा है। हीरा की तरह वह सर्वत्र चमकता है। चैतन्य उसका लक्षण है, मेरी तरह वह भी पाँच कर्म करता है- सृष्टि, स्थिति, संहृति, तिरोभाव और अनुग्रह।[२]

अहिर्बुध्न्यसंहिता में कहा गया है कि शक्ति भगवान् की आत्मभूता है। वह उनके स्वरूप से अभिन्न है। वह किसी अचिन्त्य के कारण से कहीं उन्मेष प्राप्ति करती है और विश्व की विस्तार-व्यापार में प्रवृत्त होती है।[३]

सृष्टि के पूर्व लक्ष्मी अथवा शक्ति ब्रह्म में अव्यक्ता अवस्था में लीन रहती है। भूति तथा क्रिया इसके दो पहलू हैं। इसीलिए इसे जगत् का उपादान तथा निमित्त कारण माना जाता है।[४] निर्गुण ब्रह्म इसी शक्ति से सम्पन्न होकर षड्गुणों से पूर्ण होता है। सात्वततन्त्र भी कहता है कि सत्ता का एकमात्र निलय (आश्रय) स्वता (भगवान्) है। उसकी कार्यकारणरूपिणी शक्ति ही प्रकृति है।[५] "पाञ्चरात्र में लक्ष्मी का स्वरूप" पर एक निबन्ध श्री यू.एन. धल ने पढ़ा है।[६]

नारायणी शक्ति महालक्ष्मी की समता सांख्य की प्रकृति से नहीं हो सकती क्योंकि यह पुरुष से भिन्न नहीं है, बल्कि वह परमपुरुष की 'अहंता' है और उससे अभिन्न है। इसकी तुलना सेश्वर या योग से की जा सकती है, किन्तु यह भी द्वैतवादी आगमों के सम्बन्ध से ही। इसकी ठीक-ठीक समता तो गीता की आत्ममाया, योगमाया अथवा वेदान्तसूत्र की मायाशक्ति से ही बैठती है। यह नारायण से अभिन्न होती हुई भी अपनी विलक्षण प्रतिमा से सृष्टि का

१. लक्ष्मीतन्त्र, १४/२-८.

२. तत्रैव

३. "स्वातन्त्र्यादेव कस्माच्चित् क्वचित्सोन्मेषमृच्छति।
आत्मभूता हि या शक्तिः परस्य ब्रह्मणो हरेः।।" अहि.सं. ५,४.

४. "फिलासफी आफ पाञ्चरात्र", पृ. ३५.

५. सात्वततन्त्र, १, ४०.

६. आल इण्डिया ओरियण्टल कान्फ्रेंस, उज्जैन, वाल्यूम २५, १९७२, पृ. ४८९.
"कान्सेप्ट आफ श्री लक्ष्मी इन पाञ्चरात्र", श्री य.एन. धल।

७. पौष्कर आगम, २, ५.

निर्माण करती है। नारायण-लक्ष्मी या शक्ति शक्तिमान् के ऐक्य का उल्लेख करते हुए भी पाञ्चरात्रागम मायावाद या अविद्यावाद का प्रबल विरोध करता है। उनके अनुसार जगत् असत् अथवा मिथ्या नहीं है किन्तु, सत् परमतत्त्व से उत्पन्न होने के कारण सत्य है। पौष्कर आगम में उल्लिखित है कि, यदि संसार चेतनसता की भ्रान्ति है तो कार्य रूप जगत् बहुत बड़ा असत्य होगा। जिस जगत् की सत्ता सब प्रकार के प्रमाणों से सिद्ध होती है, वह चेतना का मिथ्या अध्यास कैसे हो सकता है? अर्थात् जगत् सत्य है।[१] ललितासहस्रनाम के भाष्य में श्री भाष्कर राय कहते हैं कि- "पाञ्चरात्र का जो सिद्धान्त है कि जगत् ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है, विश्व सत्य है क्योंकि ब्रह्म और विश्व उसी प्रकार से भेद रहित हैं जैसे मिट्टी और पात्र। अतएव ब्रह्म की सत्यता से जगत् की सत्यता सिद्ध है क्योंकि हम यह स्वीकार करते हैं कि ब्रह्म और विश्व भेद मिथ्या है। भेद के मिथ्यातत्व से यह निष्कर्ष निकलता है कि अधिष्ठान और अध्यस्त का भेद भी मिथ्या है। अतएव संसार का मिथ्यात्व कथमपि स्वीकार नहीं किया जा सकता।

काल-

अहिर्बुध्न्यसंहिता में ब्रह्म के शक्ति आदि पाँच गुण माने गये हैं।[१] ये ही जगत् के प्रकृतिभाव रूप में शक्ति कहे जाते हैं। यह शक्ति ब्रह्म की आत्मभूता है।[२] वही भगवत् शक्ति, क्रिया या भूति शक्ति के रूप में विभक्त होती है। भूति शक्ति ही सृष्टि की प्रवर्तिका है। अहिर्बुध्न्यसंहिता में इसी को उन्मेष कहा गया है। यह उन्मेष क्रिया-रूप है।[३] प्रकृति-पुरुष तथा काल इन तीनों का समाहार भूति शक्ति से उत्पन्न होता है। अतः कार्यभेद से भूतिशक्ति तीन प्रकार की मानी गयी है।[४] उपनिषदों का ब्रह्म संकल्पात्मक रूप ही पाञ्चरात्रागम में सुदर्शन नाम से अभिहित है।[५] काल के दो रूप माने गये हैं। एक का नाम नियति और दूसरे

---

१. "ते च शक्त्यादयः शक्त्यैश्वर्यबलवीर्यतेजोरूपाः', अहि.सं. २/५७-६१.

२. "जगत्प्रकृतिभावो यः सा शक्तिः परिकीर्तिता", तत्रैव, २, ५७.
"आत्मभूता हि सा शक्तिः परस्य ब्रह्मणा हरेः", तत्रैव, ५, ५ए.

३. "क्रियाख्यो योऽयमुन्मेषः स भूति परिवर्तकः", तत्रैव ३, २८ ए.

४. "क्रियाभूति विभेदेन भूतिः सा च त्रिधा मता।
अव्यक्तकालपुंभावात् तेषां रूपं प्रवक्ष्यते।।" - तत्रैव, ३, २८-२९.

५. "कालसिद्धान्तदर्शिनी" श्रीहाराणचन्द्र भट्टाचार्य, १९४१, ६५/५ बी बागबाजार स्ट्रीट, कलकत्ता, पृ. ८२.

का काल है।[१] नियति काल का सूक्ष्म रूप है। सर्वप्रथम प्रद्युम्न रूप से नियति काल गुणों की प्रथम अवस्था का प्रादुर्भाव होता है। ये सुदर्शन से अभिप्रेरित होते हैं।[२] नियतिकाल सर्वनियामक होता है। दूसरा काल कलनात्मक होता है।[३] यही व्यावहारिक काल भी माना जाता है। व्यवहारिक काल प्रकृति के परिणामभूत महत्तत्व के अन्तर्गत आता है।[४]

लक्ष्मीतन्त्र में कहा गया है कि, परमाकाश में भगवती लक्ष्मी के साथ भगवान् विष्णु (शक्तिमान्) स्वयं से स्वयं का (शक्ति) विभाग करते हैं तब जो शक्तितत्त्व होता है उसे 'महालक्ष्मी' कहते हैं। नियति को महाविद्या काल को 'काली' कहा गया है। इन तत्वों से त्रिगुण और त्रिगुण से भूतसृष्टि होती है।[५]

पाञ्चरात्र आगम के चारों भेद (आगम, दिव्य, तन्त्र और तन्त्रातर सिद्धान्त) में कोई विरोध नहीं दीखता है। श्री अप्पय दीक्षित ने अपने 'वेदान्तकल्पतरुपरिमल' में कहा है कि पाञ्चरात्र के काल-विषय में कोई मतभेद नहीं है।[६]

विशाखयूप-

क्वाइपर, हेल्ड, गोण्डा और हीस्टेरमैन आदि विद्वानों का मत है कि व्यूहों की रचना जो चार हैं वह पाँच होनी चाहिए।[७] पाञ्चरात्र संहिता में पाँच मातृकाओं का उल्लेख है, जो यह है- श, ष, स, ह, क्ष। ये ब्रह्म के पाँच स्वरूपों के नियामक माने गये हैं।[८] शैवागमों में इसी को शिव के पाँच रूपों में स्वीकार किया गया है।[९] विद्वानों का अनुमान है कि विष्णु के पाँच रूप होने चाहिए न कि चार।

---

१. "कालस्य द्वे स्वरूपे नियतिः कालश्च", तत्रैव, पृ. ८३.
२. "सूक्ष्मकाल गुणावस्था सुदर्शनसमीरिता।
प्रद्युम्नस्य ललाटाच्च भुवो कर्णादुदीरिता।।", अहि. सं., ६, १२.
३. "कालस्य नियतिर्नाम सूक्ष्मः सर्वविनायकः"
"कालस्य पाचनं रूपं यत्तु तत् कलनात्मकम्।।" - तत्रैव ६, ४६ ए, ४८ ए.
४. काल-सिद्धान्त-दर्शिनी, पृ. ८३.
५. लक्ष्मीतन्त्र, ७, १३-१७.
६. "वेदान्तकल्पतरूपरिमल", उत्पत्यसंभवाधिकरण, (२/२/८).
७. 'द थ्री स्ट्राडेस आफ विष्णु" एफ.बी.जे. क्वाइपर, अमेरिकन ओरियेण्टल सीरीज, वाल्यूम ४७, पृ. १४४, १४८.
८. अहिर्बुध्न्यसंहिता, १६, ८३ बी.-८४ ए.
९. विष्णुइज्म एण्ड शैविज्म, जे. गोण्डा

'चतुर्व्यूह के विवेचन से एक अन्य सम्बद्ध पक्ष 'विशाखयूप' का विवेचन भी है। पाञ्चरात्र साधना में 'विशाखयूप' नारायण का प्रतीक है। विष्णु को यज्ञ माना गया है।[१] वाल्मीकि रामायण में 'विष्णुयूप' शब्द का उल्लेख है।[२] अतः विष्णु को यूप रूप में स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है। इस यूप को अश्वत्थदेवसदन, 'अजएकपातं' भी कहा गया है।[३] अथर्ववेद में इसे 'स्कम्य' कहा गया है।[४]

सात्वतसंहिता में विशाखयूप को परब्रह्म (परतत्त्व) का स्वरूप माना गया है। वे सम्पूर्ण मंत्रों के स्वरूप तथा तेज के स्रोत हैं। 'व्यूह' तथा विशाखयूप दोनों में पूर्ण समानता है।[५]

लक्ष्मीतन्त्र में 'विशाखयूप' का अधोभाग अनिरुद्ध माना है जिसे भौतिक सृष्टि कहा जाता है। शेष तीन भाग ईश्वर के मौलिक स्वभाव के रूप में स्वीकृत है।[६]

यूप के स्वरूप का निर्धारण करते समय चार दिशाओं तथा एक मध्य बिन्दु को लेकर पाँच संख्या पूरी की जाती है। विशाखयूप की परिकल्पना पाञ्चरात्रागम के लिए इसलिए आवश्यक था कि उसे अपने मत अधिक स्पष्ट करना था।

विशाख शब्द दो का बोधक है क्योंकि विशाखा नक्षत्र दो नक्षत्रों का समन्वित स्वरूप है। वैदिक भाषा में विशाखयूप एक विशेष प्रकार का यूप है।[७] किन्तु पाञ्चरात्र की साधना में विशाख नाम का एक यूप होता है जिसे पुरुष-नारायण का प्रतीक माना जाता है।

---

१. "विष्णु वै यज्ञः", ऋग्वेद
२. "पवित्रपाशैराबद्धो रक्तमाल्यानुलेपनः।
वैष्णवं यूपमासाद्य वाग्भिरग्निमुदाहर।।" - वाल्मीकिरामायण, बा.का. ६२, १९.
३. "चतुर्व्यूह एण्ड दी विशाखयूप इन द पाञ्चरात्र", संयुक्तागुप्त, आड्यार लाइब्रेरी बुलेटिन, १९७१, वा. ३५, पृ. १९८.
४. अथर्ववेद, ७, ४.
५. सात्वतसं., ४, २-३४.
६. लक्ष्मीतंत्र, ११, १४.
७. "श्रौतकोश" बुक १, संस्कृत सेलेक्शन, वैदिकसंशोधन मण्डल, पूना, १९५८, पृ. ५५२ और ६०९.

डॉ. पी.पी. ऑप्टे ने अपने शोध-पत्र में विशाखयूप का स्वरुप अधोलिखित शब्दों में व्यक्त किया है-

इदमत्र भाव्यम्- अस्ति श्रीवैकुण्ठेऽप्राकृतलोके विशाखयूपो नाम-ध्वजस्तम्भाकारः कश्चन तजोरूपी भगवन्मयः स्तम्भविशेषः। स च ब्रह्मयूपनाम्नाप्याख्यायते। तत्राधः प्रादेशमारभ्योपर्युरपि चत्वारो भागाश्चतुरश्रावर्तन्ते। प्रतिभागं चतुर्ष्वपि पार्श्वेषु भगवान् परवासुदेवः वासुदेवसंकर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धरूपेण क्रमेण प्रागादिदिक्षु अवतिष्ठते। तत्र प्रथमो भागः जाग्रत्पदाभिमान्यनिरुद्धप्रधानः। तत्र ते व्यूहदेवाः स्पष्टदृश्यरूपायुधवाहनमहिष्यादिपरिच्छदा भान्ति। एते च जाग्रत्पदस्थोपा-सकानुग्रहाय तथा प्रकाशन्ते। तदुपरि द्वितीयो भागः स्वप्नस्थानाभिमानिप्रद्युम्न-प्रधानकः। तत्र ते व्यूहदेवा अस्पष्टदृश्यैर्मलिनप्रायैरायुधावाहनमहिष्यादि-परिच्छदैर्वर्तन्ते। एते च स्वप्नपदस्थोपासकानुग्रहाय तथा वर्तन्ते। तदुपरि तृतीयो भागः सुषुप्तिस्थानाभिमानिसङ्कर्षणप्रधानो रेखामात्रदृश्यायुधादिपरिच्छ-दैर्देरध्यासितः। एते च सुषुप्तिपदस्थोपासकानुग्रहाय तथा वर्तन्ते। तदुपरि तुरीयस्थानाभिमानिवासुदेवप्रधानोऽत्यन्तादृश्यायुधादिपरिच्छदैः शून्यकल्पैर्देवैरध्या-सितश्चतुर्थो भागः। एते च तुरीयपदस्थोपासकानुग्रहाय तथा वर्तन्ते। अतो जाग्रदादिपदस्थोपासकाधिकारानुगुण्येन व्यूहदेवास्तथा तथा वर्तन्त इति। विशाखयूपस्य वर्णनं सात्त्वतसंहितायां (परि. ४, श्लो. ७-२०) द्रष्टव्यम्। एतादृशविशाखयूपाख्यानिरुद्धादेव पद्मनाभादयो विभवा अवतीर्णा इति लक्ष्मीतन्त्रे उक्तम्[1]।

अथर्ववेद में पौधों की शाखाओं को विशाख मानकर उनकी स्तुति की गयी है।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि, अद्वय स्वरूप भेदातीत परमेश्वर जब सृष्टि के नानात्व में व्यक्त होते हैं तब हम 'विश्वस्तम्भ' को 'विशाखयूप' कहते हैं।[3] विश्वोत्तीर्ण तत्त्व की विश्वात्मकता और अद्वयात्मक परकारण की सृष्टि के नानात्व में अभिव्यक्ति को 'विश्वस्कम्भ' एवं 'विशाखयूप' की अवधारणा से व्याख्यात किया गया है।

---

१. VyµuhŒdvaita of PŒÛcarŒtra •gama : Spiritual Heritage of Temple- Tradition by Dr. P.P. Apte., •gama-Su¦mŒ, pp. 54-55.

२. अथर्ववेद, ८, ७, ४, अनुवादक एवं आलोचनात्मक टिप्पणी, डब्ल्यू.डी. ह्राइटनेय, हारवर्ड ओरियण्टल सीरीज, वा.७.

३. "चतुर्व्यूह एण्ड विशाख यूप इन दी पाञ्चरात्र"- संयुक्ता गुप्त, आड्यार लाइब्रेरी बुलेटिन, १९७१, वा. ३५, पृ. २०४.

चतुर्व्यूह-

व्यूह शब्द 'वि' उपसर्गपूर्वक 'ऊह' धातु से निष्पन्न है। 'ऊह' का अभिप्राय है किसी सिद्धान्त का उपर्युक्त स्थानों पर प्रयोग करना अतः "विशेषण ऊह्यते विधीयत इति व्यूहः" इस सन्दर्भ में किसी विशेष सत्ता से सम्पूर्ण संसार की अभिव्यक्ति परिलक्षित होती है।[१] प्रधानतया 'व्यूह' चार माने गये हैं। इनकी तुलना अद्वैत वेदान्त के प्राज्ञ, विराट, विश्व तथा तैजस से की जा सकती है।[२]

नारायणीय पर्व में यह प्रतिपादित है कि व्यूह सदाचार ही व्यूह के रूप में मान्य नहीं है।[३] घोसुण्डि तथा नानाघाट के शिलालेखों में दो ही व्यूहों-वासुदेव एवं संकर्षण का उल्लेख है।

पुराणों में 'व्यूह' का संकेत है। विष्णुपुराण में चारों व्यूह कृष्ण के पर्यायवाची के रूप में उद्धृत हैं।[४] भागवत महापुराण में भी प्रायः इसी प्रकार का वर्णन है किन्तु, एकस्थल पर वासुदेव को पर, संकर्षण को सूक्ष्म, प्रद्युम्न को बुद्धि तथा अनिरूद्ध को मन कहा गया है।[५] मार्कण्डेयपुराण, कूर्मपुराण, गरुड़पुराण[६] में नारायण को चार रूपों में अभिव्यक्त होता हुआ माना गया है।

आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में यह प्रतिपादित किया है कि परमार्थतत्त्व निरञ्जन तथा ज्ञानस्वरूप वासुदेव है। उन्होंने ही अपने को चार व्यूहों में प्रविभक्त किया। वे ही क्रमशः परमात्मा, जीव, मन तथा अहंकार हुए। वासुदेव को उन्होंने पराप्रकृति तथा व्यूहों को उसका कार्य माना है।[७] ये चारों विभाग वर्ण क्रम से पूज्य हैं।[८] आगमप्रामाण्य में यह प्रतिपादित किया गया है

---

१. "काश्मीर शैबिज्म'८ जे.सी. चटर्जी, पृ. ५९.
२. वेदान्तसार, पृ. २२-२६.
३. नारायणीय पर्व, ३४९-५७.
४. विष्णुपुराण-५.
५. महाभागवतपुराण, अध्याय १०.
६. सुदर्शनः श्रीहरिश्च अच्युतश्च त्रिविक्रमः,
चतुर्भुजो वासुदेवः षष्ठः प्रद्युम्न एव च।
संकर्षणः पुरुषोऽथ नवव्यूहो दशात्मकः।
अनिरुद्धो द्वादशात्मा अत ऊर्ध्वमनन्तकः।। - गरुडपुराण, १२/१४-१५.
७. ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य, २, २, ४२.
८. अ. "वर्णश्चितुर्भिश्चत्वारः पूजनीया यथाक्रमम्।
वासुदेवसंकर्षणप्रद्युम्ननिरुद्धाः।।" आगमप्रामाण्य, पृ. ११०.
ब. चतुर्णां ब्राह्मणादीनां स्वयमेवानुकम्पया।
चातुरात्म्येन चतुर्धाव्यक्तिमेति च।। - सां.सं. १२, १७.

कि ये जन्मादि रूप जीव नहीं हैं। ये परमात्मा की व्यूह रूप में अभिव्यक्तयां हैं, केवल व्यवहार मात्र के लिए शब्द का प्रयोग किया गया है।[१]

जगत् के कल्याणार्थ ही षाड्गुण्य भगवान् चतुर्व्यूह रूप धारण करते हैं। भगवान् की चतुर्विध आत्मव्यस्थिति मन के आलम्बन के लिए है। चतुर्व्यूह भी सच्चिदानन्द-लक्षण होता है।[२] षाड्गुण्य से पूर्ण, सदानन्दमहोदधि, छहों गुण पुरुषोत्तम के हैं।[३] छहों गुणों का कार्यशीलता के लिए होने वाला युगपत-उन्मेष 'वासुदेव' हैं। यह प्रथम व्यूह है। शक्तिकोश से संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध व्यूह होते हैं।[४]

पारमेश्वर-संहिता के अनुसार भगवान् वासुदेव 'षाड्गुण्य महोदधि' हैं।वे विवेकदाता हैं और अनिच्छुक को भी अपवर्ग प्रदान कर देते हैं। वे आद्य सद्ब्रह्म "नित्योदित-व्यूह" हैं, उनमें नित्य ही व्यूहों का उदय है।[५] वे जगत्पति हैं।[६] परतत्व एकमात्र आश्रम है।[७]

विश्वात्मा भगवान् षाड्गुण्य के महान् सागर हैं।[८] भगवान् वासुदेव में छहों गुण पूर्ण मात्रा में एक साथ रहते हैं। चतुर्व्यूह के अवशिष्ट तीन रूपों में षाड्गुण्य की विभक्ति दो-दो करके हो जाती है। संकर्षण में ज्ञान और बल गुण होते हैं जिनके द्वारा उपासना-क्षेत्र में वे भगवत्प्राप्ति साधन-रूप ऐकान्तिक मार्ग क़ो प्रकट करते हैं। प्रद्युम्न में वीर्य एवं ऐश्वर्य की प्रधानता रहती है जिनमें वे शास्त्रार्थभाव से भगवत्प्राप्ति का पथ प्रशस्त करते हैं। अनिरुद्ध में शक्ति और तेजगुण होते हैं जिनके द्वारा शास्त्रार्थ का फल भगवत्प्राप्ति प्रदान करते हैं। ये

---

१. 'नानेन वचनेनेह जीवजन्माभिधीयते।
अपि तु व्यूहरूपेण व्यक्तिर्देवस्य कीर्त्यते।।
तत्र संव्यवहारार्थं जीवशब्दः प्रयुज्यते।
वर्णानामानुलोम्येन पूज्यभेदप्रसिद्धये।।" - आगमप्रामाण्य, पृ. १११.

२. अहिर्बुध्न्यसंहिता, ५/४४.

३. लक्ष्मीतन्त्र, ६, १५.

४. तत्रैव, ६, २, १७.

५. पारमेश्वरसंहिता, १९, ५२४-५२७.

६. तत्रैव, १, ४७.

७. तत्रैव, १, ३३.

८. "ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजोमहोदधिः", अहि.सं. ५३-२.

तीनों क्रमशः शास्त्र, शास्त्रार्थ और शास्त्रार्थसाध्य-फल के निर्वाहक हैं।[१] श्रीमद्वेदान्तदेशिक ने भी लगभग इसी प्रकार का व्यूहों के कार्य-गुण का प्रतिपादन किया है।[२] इस चतुर्व्यूह में प्रत्येक के तीन-तीन, इस प्रकार द्वादश व्यूहान्तर हो जाते हैं। फिर विष्णु के संकल्प से उनतालीस 'विभव' आविर्भूत होते हैं।[३] भगवान् और वासुदेव दोनों शब्दों के परार्थ चतुर्व्यूह का ही द्योतन है। अहिर्बुध्न्यसंहिता का कहना है कि 'भगवत' के चारों अक्षर चतुर्व्यूह के ही अर्थ देते हैं।[४]

लक्ष्मीतन्त्र में भी यह बात किञ्चिद् भिन्न प्रकार से प्रतिपादित है। शास्त्रज्ञान के क्षेत्र में संकर्षण उसके प्रकाशक हैं, उसकी क्रिया प्रद्युम्न से होती है और अशेष क्रियाफल अनिरुद्ध से होते हैं। अनिरुद्ध सृष्टि, प्रद्युम्न पालन, और संकर्षण अयन करते हैं। ये तीनों कार्यों में ये देव सदा अनुग्रह रखते हैं तथापि इन तीनों में किसी एक-एक गुण का विशेष उन्मेष होता है फिर भी ये सब सनातन वासुदेव से अन्यून-अनधिक ही रहते हैं। इनकी देह भी षाड्गुण्यमय सनातन ही है, भूतमय नहीं। इनमें भेद वास्तविक नहीं है, तत्तत् कार्य की विचारणा के हेतु से कल्पित किया गया है। ज्ञान, ऐश्वर्य और शक्ति ध्यान की विश्राम भूमियाँ हैं, परस्पर भिन्न नहीं। सभी भावों में भगवान् के इस 'चातूरूप्य' को ऐसा जानना चाहिए कि पहले 'वस्तु' है, फिर 'भाव', तब 'अर्थ' फिर 'क्रिया'। इन चारों को भगवान् अपने आपको चारों रूपों में विभक्त कर संविद् रूप से आवृत किये हैं अर्थात् वस्तु के वासुदेव, भाव के संकर्षण, अर्थ के प्रद्युम्न और क्रिया के अनिरूद्ध अधिष्ठाता-स्वरूप है।[५]

परमसंहिता में षड्गुण की अपेक्षा चतुर्गुण- धर्म, ज्ञान, ऐश्वर्य और वैराग्य को प्रमुख माना गया है और इन्हीं से जगत् की उत्पत्ति बतायी गयी है।[६] वासुदेव धर्म, संकर्षण ज्ञान, प्रद्युम्न विमुक्त (वैराग्य) और अनिरुद्ध सकलेश्वर (ऐश्वर्य) गुणमय हैं।[७] लक्ष्मीतन्त्र में इन चारों गुणों का कुछ प्रसंगों में विशेष महत्त्व स्वीकार किया गया है।[८] संकर्षसंहिता में चतुर्व्यूह निम्नवत् है-

---

१. तत्रैव, ५, १७-२४.
२. तत्त्वमुक्ताकलाप, सं. ३, ७०, व्याख्या
३. अहिर्बुध्न्यसंहिता- ५, ४७-६०.
४. "चतुर्भिरक्षरैरेवं चतुर्व्यूहनिरूपणम्"- तत्रैव, ५२, ७६.
५. लक्ष्मीतन्त्र, ४, १७-२७.
६. परमसंहिता, २-४३.
७. तत्रैव, २, १००-१०१.
८. लक्ष्मीतन्त्र, ५, ३४.

वासुदेवेनसहचतुर्व्यूह, श्वेतवर्ण

ज्ञानरात्रम्, ३/३४-६१, ८४-१०७.

क्रमाङ्क	नाम	वा.मु.हस्त	द.मु.हस्त	वा.गौ.हस्त	द.गो.हस्त
१.	वासुदेव	शङ्ख	अभय	गदा	चक्र
२.	केशव	गदा	पद्म	चक्र	शङ्ख
३.	नारायण	गदा	पद्म	शङ्ख	चक्र
४.	माधव	शङ्ख	गदा	पद्म	चक्र

सङ्कर्षणेनसहचतुर्व्यूह, रक्तवर्ण

क्रमाङ्क	नाम	वा.मु.हस्त	द.मु.हस्त	वा.गौ.हस्त	द.गो.हस्त
१.	सङ्कर्षण	शङ्ख	अभय	मुसल	सीर
२.	गोविन्द	पद्म	गदा	चक्र	शङ्ख
३.	विष्णु	शङ्ख	पद्म	चक्र	गदा
४.	मधुसूदन	पद्म	शङ्ख	गदा	चक्र

प्रद्युम्नेनसहचतुर्व्यूह, पीतवर्ण

क्रमाङ्क	नाम	वा.मु.हस्त	द.मु.हस्त	वा.गौ.हस्त	द.गो.हस्त
१.	प्रद्युम्न	शङ्ख	अभय	शार्ङ्ग	बाणपञ्चक
२.	त्रिविक्रम	चक्र	गदा	पद्म	पद्म
३.	वामन	गदा	चक्र	पद्म	शङ्ख
४.	श्रीधर	गदा	चक्र	शङ्ख	पद्म

अनिरुद्धेनसहचतुर्व्यूह, कृष्णवर्ण

क्रमाङ्क	नाम	वा.मु.हस्त	द.मु.हस्त	वा.गौ.हस्त	द.गो.हस्त
१.	अनिरुद्ध	शङ्ख	अभय	खेटक	खड्ग
२.	पद्मनाभ	पद्म	चक्र	शङ्ख	गदा
३.	हृषीकेश	चक्र	पद्म	गदा	शङ्ख
४.	दामोदर	गदा	शङ्ख	चक्र	पद्म

तन्त्रसार संग्रह में भी न्यूनाधिक रूप से इसी प्रकार के उल्लेख प्राप्त होते हैं- (द्रष्टव्य, आगमकोष, भाग-४, पाञ्चारात्रागम, प्रो. एस.के. रामचन्द्रराव, कल्पतरु रिसर्च ऐकेडमी, बंगलोर, १९९१, अपेण्डिक्स VIII, पृष्ठ १८५-१८६)। निष्कर्ष रूप में यह वट बीज की तरह है-

'अभेदेनादिमूर्तेर्वै संस्थितं वटबीजवत्'- सात्वतसंहिता- ५/८१०

डॉ. श्रेडर आदि विद्वानों का अभिमत है कि, पुरुषसूक्त के चतुर्विभाग तथा अद्वैत वेदान्त के चार सिद्धान्तों के आधार पर अवैदिक पाञ्चरात्र वैदिक भूमिका में अवतरित हुआ।[1] व्यूह सिद्धान्त गीतादि ग्रन्थों में कहीं प्रतिपादित नहीं है। गीता में वासुदेव की परा तथा अपरा दो प्रकृतियों का उल्लेख है। परा में पञ्चतत्त्व मन, बुद्धि, अहंकार का समावेश है, अपरा में जीवमात्र का।[2] डॉ.एस.आर. भट्ट का मानना है कि श्री आर.जी. भण्डारकर के इस अनुमान का कोई आधार नहीं है कि, ये ही तत्त्व कालान्तर में संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध आदि के रूप में मूर्त हुए।[3]

उपर्युक्त चतुर्व्यूहों से द्वादशमासाधिपों, दशावतारों तथा विभव-देवों की उत्पत्ति होती है। पाद्मसंहिता के अनुसार चार व्यूहों से द्वादशमासाधिपों का उद्भव इस प्रकार होता है-

- वासुदेव — केशव, नारायण, माधव
- संकर्षण — गोविन्द, विष्णु, मधुसूदन
- प्रद्युम्न — त्रिविक्रम, वामन, श्रीधर
- अनिरुद्ध — हृषीकेश, पद्मनाम, दामोदर

पाद्मसंहिता की तरह अहिर्बुध्न्यसंहिता भी चतुर्व्यूह से मासाधिपों का उद्भव स्वीकार करती है। इसके अनुसार मासाधिप व्यूहान्तर के नाम से भी अभिहित होते हैं।[5]

परमसंहिता में द्वादश मासाधिपों के उनके अधीनस्थ मासों के नाम निर्देश इस प्रकार हैं-

मास	मासाधिप
१. मधु (चैत्र)	आदिविष्णु
२. माघव (बैशाख)	मधुसूदन
३. शुक्र (ज्येष्ठ)	त्रिविक्रम
४. शुचि (आषाढ़)	वामन

---

१. फिलासाफी आफ पाञ्चरात्र, पृ. ५०.
२. गीता, ७, ४-५.
३. फिलासाफी आफ पाञ्चरात्र, पृ. ५१.
४. पाद्मसंहिता, ज्ञा.पा. २, २१-२५.
५. अहिर्बुध्न्यसंहिता, ५, ४६-४८.

५. नभस् (श्रावण)	श्रीधर
६. नभस्य (भाद्रपद)	हृषिकेश
७. ईष (आश्विन)	पद्मनाभ
८. ऊर्ज (कार्तिक)	दामोदर
९. सहस (अग्रहण)	केशव
१०. सस्य (पौष)	नारायण
११. तपस (माघ)	माधव
१२. तपस्य (फाल्गुन)	गोविन्द[1]

नारदसंहिता में भी प्रतिमा-विचार के सन्दर्भ में द्वादशमासाधिपों का उल्लेख है।[2] पाद्मसंहिता में चतुर्व्यूह में चतुर्विंशति मूर्तियों के उद्भव का भी वर्णन है।[3]

चतुर्व्यूह के दशावतारों की चर्चा पाद्मसंहिता के अनुसार इस प्रकार है-

वासुदेव	संकर्षण	प्रद्युम्न	अनिरुद्ध
मत्स्य कूर्म वाराह	नृसिंह वामन राम जामदग्न्य	राघवराम	कृष्ण कल्की[4]

विभव-

'विभव' का अर्थ अवतार है। पाञ्चरात्र दार्शनिक एक ही अविकृत 'परसत्ता' मानते हैं। पाञ्चरात्र संहिताओं के अनुसार परसत्ता अपना स्वरूप स्थिर रखते हुए अवतीर्ण होती है जबकि पुराण के अनुसार स्वयं भगवान् ही अवतरित होते हैं। यही दोनों में अन्तर है। परसत्ता द्रष्टा, साक्षी तथा उदासीन है उसे जागतिक प्रपञ्च से कुछ लेना देना नहीं है। अस्तु, अवतार का सिद्धान्त स्वीकार किया गया। पाञ्चरात्र के प्रायः सभी संहिताओं में अवतारों का प्रादुर्भाव अनिरुद्ध से[5] या वासुदेवादि अन्य व्यूहों से स्वीकार किया गया है।[6]

१. परमसंहिता, २, ८३-८६.
२. नारदीयसंहिता, १३, २३५-२४०.
३. पाद्मसंहिता, २, २५-३०.
४. तत्रैव, २, ३०-३३.
५. लक्ष्मीतंत्र- २, ५५.
६. पाद्मसंहिता, १, २, ८१.

विभव दो प्रकार का होता है जिनकी उपासना मुक्ति के लिए की जाती है उसे मुख्य कहते हैं और जिनकी उपासना भुक्ति के लिए की जाती है उसे गौण कहते हैं। लोककल्याण तथा दुष्ट-दण्डार्थ इसका प्रयोजन है।

अहिर्बुध्न्यसंहिता में ३९ अवतारों का उल्लेख है।[१] सात्वतसंहिता में अहिर्बुध्न्य की तरह अवतारों का उल्लेख है।[२] लक्ष्मीतन्त्र में ३८ विभवों का ही उल्लेख है।[३]

अन्तर्यामी अवतार प्राणियों के हृदय कमल में निवास करता है और अन्तरात्मा का नियमन करता है।[४] इसका प्रादुर्भाव अनिरुद्ध नामक व्यूह से होता है। इसकी तुलना औपनिषदिक अन्तर्यामी पुरुष से की जा सकती है।[५]

अर्चा अवतार प्रस्तर, रजत आदि धातुओं से निर्मित अचेतन विष्णु आदि की मूर्तियों में प्राण प्रतिष्ठा के द्वारा होता है तथा अद्भुत शक्तियों का समावेश होता है। इनका उद्देश्य पूजन होने के कारण इन्हें अर्चावतार कहा गया है। यह अवतार प्रतिमा पूजन से भिन्न है। प्रतिमा पूजन में भक्त के ध्यान का केन्द्र मूर्ति होती है। स्थान की स्थिरता के साथ ही साथ उसके स्वरूप की आवश्यकता समाप्त हो जाती है। अर्चा उपासना में भक्त भगवान् की उपस्थिति का अनुभव करता है। यही अचेतन प्रतिमा एक नया अर्थ धारण करके प्रेम तथा हृदय के आकर्षण की वस्तु बन जाती है। आलवार सन्तों को भी यही उपासना पद्धति अभीष्ट है।

जगत्-

विश्व के दार्शनिकों के सामने सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह था कि, इस जगत् का प्रादुर्भाव कैसे हुआ? प्रारम्भिक काल में परमतत्त्व की कल्पना इसी समस्या के समाधान के लिए की गयी। ऋग्वेद के विश्वकर्मा सूक्त में इसी समस्या का उल्लेख है।[६] इसी असमाधेय समस्या का विचार नारदीय सूक्त में है जिसमें स्पष्ट उल्लेख है कि, जगत् के प्रादुर्भाव का कारण कोई नहीं बता सकता।[७]

---

१. अहिर्बुध्न्यसंहिता, ४, ५०-५७.
२. सात्वतसंहिता- ४, ५७-६६.
३. लक्ष्मीतन्त्र, ११, १९-२५.
४. "नियन्ता सर्वदेहिनाम्", विष्वकसेनसंहिता, पृष्ठ १२२.
५. "एष ते आत्मा अन्तर्याम्यमृतः", बृह.उप. ३/७/३.
६. ऋग्वेद, १०, ८१, ४.
७. तत्रैव, १०, १२९, ६, ७.

आगमों में भी इस समस्या पर विचार किया गया। उनके समक्ष भी समस्या यह थी कि यह परिवर्तनशील तथा अपरिपूर्ण जगत् विकाररहित तथा परब्रह्म से कैसे प्रादुर्भूत होता है?

पाञ्चरात्र के विचारक इस सम्भावना का निषेध करते हैं कि, जो परमतत्त्व है, वह विकारी है। उनका मानना है कि परमतत्त्व, पर, पूर्ण, परिवर्तनरहित तथा परिवर्तनशील संसार से सर्वथा भिन्न है। इसका वर्णन भी संभव नहीं है। जगत् सीधे परमसत्ता से प्रादुर्भूत नहीं होता बल्कि, इसकी 'शक्ति' से प्रादुर्भूत होता है। उसकी शक्ति जिसका नाम लक्ष्मी है, वह परसत्ता का एक अंश है और शाश्वत रूप से परसत्ता के स्वभाव से भिन्न होकर वह सृष्टिक्रिया में लगी रहती है। इस प्रकार परसत्ता का स्वभाव अप्रभावित रहता है। पाञ्चरात्र सिद्धान्त में विशेष रूप से व्यूहवाद का समावेश करके यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि परसत्ता अप्रभावित रहती है।[१]

अहिर्बुध्न्यसंहिता में कहा गया है कि, प्रलयावस्था में नारायण परब्रह्म जो सबके अखण्ड आवास हैं, सर्वतः साम्य में अवस्थित रहते हैं और उनके समस्त कार्य प्रसुप्त रहते हैं क्योंकि वायुरहित आकाश के समान उनका षाड्गुण्य पूर्णतः स्तिमित (स्तब्ध) रहता है।[२] परब्रह्म की आत्मता स्तिमित शक्ति शून्या रूपा रहती है फिर वह कमी अपनी इच्छा से ही उन्मेष प्राप्त करती है।[३]

लक्ष्मीतन्त्र में भी इन्हीं बातों का उल्लेख है। प्रलयावस्था में परतत्त्व में 'चिदानन्द' 'सदानन्द' महोदधि में 'षाड्गुण्य पूर्ण स्तिमित रहता है। उस निस्तरंग समुद्राकार हरि की आद्या अहंता ही लक्ष्मी है। वह शुद्ध, स्वतन्त्र और सच्चिदानन्दात्मक है। भगवान् की परा अहंता ही उनकी भगवता है जो उन्हीं के समान परा, सनातनी, सूक्ष्मा और निरञ्जना है। सिसृक्षा कभी वह भगवता परान्ता उच्छून (उत्फुल्ल) होकर षट्कोशमयी हो जाती और उन कोशों से क्रिया तथा भूति नामक अपने दो पहलुओं से मानों दो नेत्र खोलकर सृष्टि शुरू करती है।[४] सृष्टि के तीन-तीन स्तरों में शुद्ध सर्ग, मिश्र सर्ग तथा स्थूल सर्ग का समावेश किया जाता है। छः कोशों में से प्रथम कोश को शक्तिकोश कहा

---

१. 'फिलासाफी आफ पाञ्चरात्र', पृ. ६०.
२. "प्रसुप्ताखिलकार्यं यत् सर्वतः समतां गतम्।
नारायणः परं ब्रह्म सर्वावासमनाहतम्।।
पूर्णास्तिमितषाड्गुण्यमसमीराम्बरोपम्।।" - अहि.सं., ५/२-३.
३. तत्रैव, ५/३-४.
४. लक्ष्मीतन्त्र, ६/१-४, ७/१-४.

जाता है। इसके अन्तर्गत व्यूहों तथा उसकी शक्तियों का समावेश होता है। दूसरे को मायाकोश कहते हैं। इसकी परिचालिका माया शक्ति है। तीसरे कोश को प्रसूतिकोश कहते हैं, इससे मनुओं की उत्पत्ति होती है जिसमें से पद्म तथा हिरण्यगर्भ का प्रादुर्भाव होता है।

पञ्चकोश ब्रह्माण्डकोश

प्रकृति-पुरुष-काल के त्रितय से महत्तत्व का प्रादुर्भाव होता है।[१] उसमें बुद्धि उत्पन्न होती है।[२] महत् से ही त्रिविध अहंकार उत्पन्न होता है।[३] अहंकार से मन की उत्पत्ति है[४] जिससे तन्मात्राएँ और दशेन्द्रियाँ एवं पञ्चभूत उत्पन्न होते है।[५] इसको इस तरह देखा जा सकता है-

प्रद्युम्न.....कूटस्थ पुरुष....मायाशक्ति....नियति......काल....... सत्त्वगुण......रजोगुण.....तमोगुण......बुद्धि (महत्तत्त्व)

अहंकृति

वैकारिक (सात्त्विक) — ज्ञानेन्द्रिय, मन

तैजस (राजस) — कर्मेन्द्रिय

भूतादि (तामस) — पञ्च तन्मात्रा — स्थूलभूत

सामान्य रूप से पाञ्चरात्र की यही सृष्टि प्रक्रिया है। पाञ्चरात्रागमस्थ सृष्टि सिद्धान्त सामान्यतः सांख्य सिद्धान्त से साम्य रखते हुए भी कुछ मतभेद रखता है। सांख्य सिद्धान्त में प्रधान स्वतन्त्र होता है किन्तु पाञ्चरात्र में प्रधान परमतत्त्व (ब्रह्म) के अधीन रहता है। सांख्य प्रकृति को गुणत्रय का समूहावलम्बन कहलाता है जिसमें व्यक्त तथा अनभिव्यक्त हिरण्यगर्भ का समावेश रहता है। जीवदेहकोश छठाँ कोश है।[६]

प्रथम स्तर पर लक्ष्मी, वासुदेव के छः गुणों, तीन व्यूहों तथा उनकी शक्तियाँ, विभव लोक तथा निवासियों के साथ प्रकट होती है। दूसरे स्तर पर कूटस्थ पुरुष और माया शक्ति के अभिव्यक्ति का कारण होता है जिसमें

१. अहि.सं., ७, ४-८.
२. तत्रैव, ७, १४.
३. तत्रैव, ७, १५-१९.
४. तत्रैव, ७, २०.
५. तत्रैव, ७, २१-४६.
६. लक्ष्मीतन्त्र, ६/२३-२५.

नियति, काल तथा गुण शरीर का प्रादुर्भाव होता है। तृतीय स्तर को दो भागों में बांटा जा सकता है- प्राथमिक तथा गौण। प्राथमिक स्तर पर सांख्य की भाँति सर्ग का विस्तार होता है। द्वितीय स्तर (गौण) पर हिरण्यगर्भ और ब्रह्मा प्रकट होते हैं। ब्रह्मा स्थूल जगत् का निर्माण करते हैं जो प्रत्यक्ष रूप से दिखायी पड़ता है।[१]

अहिर्बुध्न्यसंहिता के अनुसार सृष्टि दो प्रकार की स्वीकार की गयी है- शुद्ध तथा शुद्धेतर। संहिता में कहा गया है कि अपनी शक्ति से परिवृद्ध परब्रह्म यह संकल्प लेता है कि मैं बहुत हो जाऊँ। यह उनका 'सुदर्शन' रूप होता है जिससे जगत् की सृष्टि होती है।[२] ब्रह्मा ने यह सृष्टि लीलार्थ की है। सृष्टि पूर्व नारायण का मन नहीं रम रहा था तब लीला के लिए उन्होंने अपने आपको बहु प्रकल्प किया। स्वतः पुरुषाधिष्ठित रहकर प्रधान से महत् की, महत् से अहंकार की और अहंकार से एकादशेन्द्रिय तथा भूतों और सूक्ष्म भूतों की सृष्टि की। फिर सप्तावरणवेष्टित अण्ड सृष्टि हुई। अण्ड में चतुर्मुख का उद्भव हुआ। काल ने गुणों में क्षोभ किया, जिससे चराचर की रचना हुई। इस समस्त संसार के पालक, अंश रूप से भगवान हरि ही हैं। दुष्टदलन के बिना पालन असंभव है। अस्तु, दुष्टदलनार्थ भगवान् चक्रात्मा होकर सुदर्शन रूप में अवस्थित हुए।[३] मानता है तथा गुणों में परस्पर कार्यकारण भाव मंजूर नहीं करता जबकि अहिर्बुध्न्यसंहिता सत्त्व से रज की, रज से तम् की उत्पत्ति स्वीकारती है।[४] मूलतः पाञ्चरात्र अद्वैतवाद का ही पक्षपाती है।

कुछ प्रमुख विद्वानों का यह मानना है कि, पाञ्चरात्र के विचारक एक और अद्वैतवाद का प्रतिपादन करते हैं और दूसरी ओर वे संसार को सत्य मानने के मोह का संवरण नहीं कर पाते जब कि, अनुमान की दृष्टि से उनका प्रतिज्ञा वाक्य इस निष्कर्ष के विरोध में जाता है। उनके सिद्धान्त जगत् सत्यता और अद्वैत के बीच दोलायमान रहते हैं। डॉ. श्रेडर ने जिस पाञ्चरात्रागम के उद्धरण का अर्थ यह लगाया है कि इसमें मायावाद का सर्वथा अभाव है।[५] वही पी.टी. आयूयंगर ने उस उद्धरण का अभिप्राय अद्वैतवाद से लिया है।[६] पाञ्चरात्र के विचारकों ने एक ही परमसत्ता विविध अभिव्यक्तियों का होना असंगत

---

१. फिलासाफी आफ पाञ्चरात्र, पृ. ६३.

२. अहिर्बुध्न्यसंहिता, २/६२.

३. तत्रैव, ३०, ३-१७.

४. "सत्त्वाद् रजस्तमस्तस्मात् तमसो बुद्धिरूद्‌गता।" अहिर्बुध्न्यसंहिता, ६/१७.

५. "इत्यूज्निज्म इज आलटुगेदर ऐबसेन्ट इन देम", डॉ. श्रेडर, इन्ट्रोडक्शन आफ पाञ्चरात्रागम, पृ. ३२-३३.

६. आउटलाइन आफ इण्डियन फिलासाफी, पी.टी.उस. आयंगर, पृ. १८४-८५.

लगता है। इनकी संगति बैठाने के लिए इन विचारकों ने शक्ति का समावेश किया है कि फिर भी, वे जगत् की सत्यता के सिद्धान्त तथा परसत्तावाद के द्वन्द्व से मुक्त नहीं हो पाये हैं। अतः उन्होंने शक्ति और शक्तिमान् की एकता का प्रतिपादन किया है किन्तु, यहाँ भी या तो उन्हें शक्ति को परसत्ता ही मानना चाहिए और इस प्रकार उसके अकर्तृत्त्व और परसत्तात्व का तिरस्कार करना चाहिए या दोनों की दैवी परसत्ता अलग-अलग स्वीकार करनी चाहिए।[1]

'मायावाद' के सर्वथा अभाव और अद्वयस्थिति में विरोध नहीं। ध्रुव, अचिद् और परिवर्तनरहित परतत्त्व का स्वरूप, पुनः सृष्टि की व्यवस्था के लिए 'शक्ति' के साथ उसकी अद्वयता का सिद्धान्त तथा 'शक्ति' से सृष्टि की व्याख्या सभी अद्वैतवादी आगमिक दर्शनों की आधारशिला है। 'परतत्त्व' के परसामरस्य को मानकर परशिव सैंतीसवाँ अथवा अड़तीसवाँ तत्त्व मानने के पीछे काश्मीर के शैव दार्शनिकों का यही अभिप्राय है। पुनः 'शक्ति' तत्त्व के द्वारा सृष्टि की व्याख्या भी इसी दृष्टि से है।

उपर्युक्त प्रतिपादन इस बात की पुष्टि कर देता है कि परसत्ता सत्-चित् और आनन्द है। ये अनभिव्यक्तावस्था में परसत्ता ही है। आचार्य शंकर ने इसी परसत्ता में माया नामक पर शक्ति की परिकल्पना की है जो जड है। किन्तु पाञ्चरात्रागम चित् सत्ता को चित्त् शक्ति ही मानता है। अतः द्वित्व का अवकाश नहीं प्रतीत होता।

जीव-

आचार्य क्षेमराज प्रत्यभिज्ञाहृदय में लिखते हैं-

परा प्रकृतिर्भगवान् वासुदेवः तद्विस्फुलिङ्गप्राया एव जीवाः-
इति पाञ्चरात्रां परस्याः प्रकृतेः परिणामाभ्युपगमादव्यक्त एवाभिनिविष्टाः।।

प्रत्यभिज्ञाहृदय, पृष्ठ ५७.

अर्थात् भगवान् वासुदेव ही सर्वोत्कृष्ट प्रकृति (कारण) हैं। जीव उनकी चिनगारी की तरह ही हैं।

पाञ्चरात्र शास्त्र के अनुसार जीवरूप नानाविध, अनन्त है। जीव परमात्मा का प्रतिबिम्ब है और सुखदुःख का भोक्ता है।[2] जीव एक देह से दूसरी देह में जाता है मरता नहीं है। वह अन्त में 'सर्वालयालय' में लीन हो जाता है। उपरोक्त कथनानुसार जीव को अनित्य कहना अनुचित है क्योंकि सर्वान्तरात्मा प्रभु प्रत्येक जीव में प्रत्यक्ष है। अस्तु, नित्य परब्रह्म का अंश रूप जीव भी नित्य ही है।[3]

---

१. "फिलासाफी आफ पाञ्चरात्र", पृ. ६९, डॉ. एस.आर.भट्ट.
२. "जीवस्तत्प्रतिबिम्बश्च भोक्ता च सुखदुःखयोः", नारदपाञ्चरात्र, २, १, २८.
३. तत्रैव, २, १, २९-३४.

लक्ष्मीतन्त्र का कहना है कि परव्योम या परमाकाश में परमात्मा सनातन विष्णु रमा के साथ क्रीडारत है। वहाँ षाड्गुण्य का समुन्मेष होता है। परमव्योम होने का तात्पर्य है उन्मेष का अजड़ होना। विष्णु भोक्ता, कूटस्थ, सर्वज्ञ और सर्वतोमुख पुरुष है। उनके अंश से समस्त जीव, जो सनातन हैं, प्रसारित होते हैं। प्रलय दशा में उन्हीं परमात्मा परम में लीन हो जाते हैं। यह लक्ष्मी की मातृदशा है।[१]

पूर्ण षाड्गुण्यमयी होने से लक्ष्मी 'भगवती' है। वे 'भगवद-यज्ञ-संयोग' होने के कारण 'भगवत्-पत्नी' हैं। पति के साथ पत्नी का यज्ञ द्वारा ही संयोग है- 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे'। भगवद्-यज्ञ 'आश्रितजनरक्षण-रूप' है। इस कार्य में लक्ष्मी का विष्णु से संयोग है।[२] कहने का तात्पर्य यह है कि पुरुषकारत्व लक्ष्मी में है। लक्ष्मी ने स्वयं कहा भी है- "प्रापयाम्यात्मनात्मानम"।[३]

अहिर्बुध्न्यसंहिता के अनुसार जीव भगवान् की भूति शक्ति का अंश है।[४] भगवान् की दो शक्तियाँ हैं- भूतिशक्ति और क्रियाशक्ति। भूति नानाभेदवती है। क्रियाशक्ति कालमयी है।[५] भूतिशक्ति से शुद्ध सृष्टि होती है। भूतिशक्ति अपनी संकल्परूपा क्रिया शक्ति का प्रवर्तन करती है।[६]

क्रिया-शक्ति क्रिया भूमि में अवतीर्ण होती है।[७] प्रद्युम्न से मिथुन-चतुष्टय की उत्पत्ति होती है।[८] इसी प्रकार अन्य जीव उत्पन्न होते हैं।[९] इनके पालन का भार अनिरूद्ध का है।[१०] जीवों में भगवत् शक्ति का तिरोधान और और कर्म पारवश्य रहता है।[११] अनिरूद्ध से नियति, काल और गुण (सत्व, सज, तम) होते हैं।[१२]

जैसा कि, ऊपर कह आये हैं जीव भूति शक्ति का अंश है। जीव में भगवत् शक्ति का अंश लेश ही रहता है।[१३] जीव 'अंश' है और भगवान् 'अंशी'। इसको इस प्रकार भी कहा गया है कि जीव 'शेष' है, भगवान् 'शेषी'।[१४]

---

१. लक्ष्मीतन्त्र, ७, ९-१२.
२. तत्रैव, ४, ४९.
३. तत्रैव, १६, ४४.
४. अहिर्बुध्न्यसंहिता, ७, ५९.
५. तत्रैव, १४-७.
६. तत्रैव, ६, ५-६.
७. तत्रैव, ६, ४२.
८. तत्रैव, ६, ९-११.
९. तत्रैव, ६, ४२-४३.
१०. तत्रैव, ६-१३.
११. तत्रैव, ६-३५-४१.
१२. तत्रैव, ६, १५, ४४-५९.
१३. अहिर्बुध्न्यसंहिता, १४, ७-१०.
१४. तत्रैव, ७-५२.

इसी संहिता के अनुसार जीव अनादि, अपरिच्छेद्य, चिदानन्दघन पुरुष है जो सदा भगवन्मय और भगवद्भक्ति ही है।[1] तथापि जीव कालशक्ति के विकार में पड़कर पुरुष (जीव) को संसार की प्राप्ति होती है। वह संसृति के चक्र में पड़ता है।[2] वस्तुतः जीव तथा जगत् परब्रह्म के स्वातन्त्र्य शक्ति का विलास है। परमात्मा की स्वतन्त्रता ऐसी है कि, समस्त इच्छाओं को प्राप्त करके भी वह उसी वासुदेव राजा के सदृश लीला करता रहता है।[3] यह वासुदेव के लीला का विलास है।

भगवत्संकल्प 'सुदर्शन' के मुख्यतः पाँच विभाग होते हैं जो पञ्च शक्ति के नाम से अभिहित हैं। सृष्टि, स्थिति, लय, निग्रह और अनुग्रह। निग्रह शक्ति जीव के आकार, ऐश्वर्य और विज्ञान का तिरोधान करती है जिससे जीव अणुत्व और अज्ञत्व, अकिंचित्करत्व हो जाता है।[4] निग्रह के अनेक नाम हैं- तिरोधान, महामोह, तम, बन्ध, हृद्ग्रन्थि।[5] जीव आकार से व्यापक, ऐश्वर्य से शक्तिमान् और विज्ञान की दृष्टि से सर्वज्ञ है किन्तु, सृष्टि के प्रारंभ में नारायण की निग्रह-शक्ति जीव के विभुत्व, शक्तिमत्त्व तथा सर्वज्ञत्व का तिरोधान कर देती है।[6] ये ही बन्धकार तीन 'मल' हैं।[7] ये मल अविद्या अस्मिता और रागादि से उत्तरोत्तर बढ़ते जाते है तब कर्म-विपाक से जन्म, आयु, भोग, सुखादि वासनादि होते हैं।[8]

जब जीव अपने कर्मों के परिणामस्वरूप संसृतिचक्र में चक्कर काटता तथा दुःखाकुल रहता है तब नारायण की अहैतुकी कृपा स्वतः उत्पन्न हो जाती है। आगमशास्त्र में इसे 'शक्तिपात' के नाम से जाना जाता है।[9] जब नारायण की यह करुणा वर्षारूपी सुदर्शनमयी अनुग्रह-शक्ति जीव को स्वीकार कर लेती है तब विष्णु का वीक्षण होते ही जीवों के अशुभ एवं शुभ कर्म समत्व प्राप्त कर लेते हैं और तूष्णीभाव धारण कर लेते हैं। यह शक्तिपात जीव को संसार

---

१. अहिर्बुध्न्यसंहिता, १४-६.
२. तत्रैव, १४-८-१०.
३. "सर्वैरननुयोज्यं तत् स्वातन्त्र्यं दिव्यमीशितुः।
अवाप्तविश्वकामोऽपि क्रीडते राजवद्वयी।।" - तत्रैव, १४/१३.
४. "तिरोधानकारी शक्तिः सा निग्रहसमाह्वया।" - तत्रैव, १४/१५.
५. तत्रैव, १४-१७.
६. अहिर्बुध्न्यसंहिता, १४/१६, १८-१९.
७. तत्रैव, १४/२०.
८. तत्रैव, १४/२१.
९. तत्रैव, १४/२८-३०.

से पार कर देता है।[१] पथिक के ऊपर तस्करों का व्यापार तभी तक चलता है जब तक वह एक दीन-हीन राही की तरह अपना कठिन रास्ता तय करता है किन्तु, ज्यों ही वह राजा के अनुचरों में अन्तर्मुक्त होता है चोर अपना व्यापार छोड़ उदासीन बन जाते हैं। वैसी ही वैष्णवों की स्थिति होती है। अनुग्रह-शक्ति जैसे ही भक्त के हृदय में पड़ती है उसके शुभाशुभ कर्म-व्यापार स्वतः स्थगित कर उदासीन बन जाते हैं।[२]

लक्ष्मीतन्त्र में पराम्बा कहती हैं कि, जब जीवों पर मैं दृष्टिपात करती हूँ तब वे मुक्त हो जाते हैं। इसे अनुग्रह कहा गया है, इसी का दूसरा नाम शक्तिपात है। मेरे देखने पर उनका कर्म साम्य हो जाता है। यह जीवों का 'अपश्चिम तनु' (उत्तर-अनुत्तर देह) है। शक्ति न तो जीव के पुरुषार्थ से सम्भव है और न किसी अन्य हेतु से। मैं कभी किसी को स्वेच्छा से देख लेती हूँ तो वह पुरुष 'स्वच्छ-स्वच्छान्तःकरण होकर' कर्म-साम्य प्राप्त कर शुक्ल-कर्ममय, वेदान्तज्ञान-सम्पन्न, सांख्योग परायण बन जाता है। सात्वत विज्ञान के ज्ञान से नारायण में उनकी शक्ति हो जाती है और समय पाकर वह योगी हो जाता है तब उसके क्लेशों का नाश हो जाता है। विविध बन्धनों का नाशकर वह ज्योतिषमान् पुरुष लक्ष्मीनारायणात्मक परब्रह्म को प्राप्त करता है। यह मेरी अनुग्रहात्मिका पञ्चमी शक्ति है।[३]

पाञ्चरात्रदर्शन के अनुसार जीवात्मा परमातमा का विकृत स्वभाव अथवा उसकी शक्ति का संकुचित रूप है। यह सिद्धान्त जीवात्मा और परमात्मा के ऐक्य का प्रतिपादन करता है। जो इस दृष्टि से अद्वैत वेदान्त से मिलता-जुलता है। सांख्य सिद्धान्त से पाञ्चरात्रागम का सिद्धान्त जीवात्मा के सन्दर्भ में मतभेद रखता है। जीवात्माओं के चार भेद स्वीकृत हैं- मुक्त, ममुक्षु, बद्ध और तामसिक। भगवान् कृपा से जीव को ज्ञान फलतः मोक्ष मिलता है। कतिपय पाञ्चरात्रागमों में जीवात्मा को परमात्मा से भिन्न माना गया है और उसकी मुक्ति को सालोक्य मुक्ति बतलाया गया है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार अविद्या नाश के अनन्तर ज्ञान प्राप्ति से मोक्ष मिलता है। इसके लिए सब प्रकार का

---

१. अहिर्बुध्न्यसंहिता, १४/३१-३३.

२. "यथा हि मोषकाः पान्थे परिबर्हमुपेयुषि।
निवृतमोषणोद्योगाः समाः सन्त उपासते।।
अनुग्रहात्मिकायास्तु शक्तेः पापक्षणे तथा।
उदासते समीभूय कर्मणी ते शुभाशुभे।।" - तत्रैव, १४/३४-३५.

३. लक्ष्मीतन्त्र, १३, ७-१५.

कर्म-सन्यास आवश्यक है। निःसन्देह, चित्त शुद्धि के लिए शास्त्र-विहित शुभ कर्म करना चाहिए किन्तु, वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने के और सर्वथा बन्धनों से मुक्ति के लिए उनका त्याग करना ही पड़ता है। प्राचीन पाञ्चरात्रधर्म निवृत्ति प्रधान नहीं मालूम पड़ती क्योंकि स्वयं नारायणीयोपाख्यान में ही लिखा है कि, "प्रवृत्तिलक्षणश्चैव धर्मो नारायणात्मकः" अर्थात् नारायण धर्म प्रवृत्ति प्रधान है किन्तु, आगे चलकर कर्म गौण हो गया और भक्ति की प्रधानता हो गयी, ऐसा नारदपाञ्चरात्र, शाण्डिल्यादि आगमों से प्रतीत होता है। कई संहिताओं में लिखा है कि, साधक भक्त को शास्त्र विहित कर्म करना चाहिए किन्तु, अनन्य भक्त के लिए बिल्कुल गौण हो जाता है। फिर क्या भक्त की महत्ता इतनी बढ़ी कि भक्ति मुक्ति का साधन न रहकर स्वयं साध्य बन गयी? अब तो भगवान् के प्रेम में विह्वल भक्त मुक्ति नहीं चाहता अपितु, उसके चरणों में अनन्य प्रेम की ही कल्पना करता है।

मोक्ष

कोई भी धर्म दर्शन निष्प्रयोजन नहीं होता है। पाञ्चरात्र आगम भी इसी भाँति निष्प्रयोजन नहीं है। सम्पूर्णशास्त्र का प्रयोजन मोक्ष में है। यह मान्यता है कि, जीव कर्मगत प्रभाव के कारण अज्ञानवशात् भगवत्कृपा न प्राप्त होने से विभिन्न योनियों में भ्रमण करता है। उपासना अथवा ज्ञान के द्वारा उसे आत्मबोध होता है और वह जरा-मरण से मुक्त हो जाता है। यह मुक्ति ही मोक्ष है। पाञ्चरात्रागम में मोक्ष का सिद्धान्त अद्वैत वेदान्त के मोक्ष सिद्धांत से प्रभावित लगता है। यहाँ तक कि, मोक्ष के लिए अद्वैत की शब्दावली का भी प्रयोग किया गया है। अहिर्बुध्न्यसंहिता में इसे 'ब्रह्मभावापति' 'भगवत्तामयीमुक्ति' अथवा 'वैष्णवं तद्विशेत्पदम्' आदि कहा गया है।[1]

जयाख्यसंहिता में इस मुक्ति को 'ब्रह्मसमापति' कहा गया है[2] और इसका अभिप्राय बताते हुए इसे ब्रह्म में मिल जाना माना गया है।[3] उसी में दूसरे स्थान पर यह भी कहा गया है कि, मोक्ष का अभिप्राय है, चिद्रूप आत्मतत्त्व का ब्रह्म में स्थित हो जाना।[4] पाद्मसंहिता में मुक्ति की परिभाषा करते हुए यह बताया गया है कि, जब जीव ब्रह्म के साथ एकत्व प्राप्त कर लेता

१. (अ) अहिर्बुध्न्यसंहिता १४-३.
(ब) विष्णुतिलकसंहिता, १-३३.
२. जयाख्यसंहिता, ४/५२.
३. तत्रैव, ४/५०.
४. चिद्रूपमात्मतत्त्वं यदभिन्नं ब्रह्मणि स्थितम्। - जयाख्यसंहिता ३/१४.

है, उसे सायुज्य मुक्ति कहते हैं अथवा इसी को जीवात्मा तथा परमात्मा का एकत्व बोध कहते हैं।[1]

परमसंहिता में ही एक प्रश्न उठाया गया है कि, मुक्त जीव तथा परमात्मा में अन्तर क्या है? इसके उत्तर में भगवान् स्वयं कहते हैं- "मुक्त जीव में और मुझमें कोई अन्तर नहीं है। जैसे मैं रहता हूँ वैसे मुक्त जीव भी रहता है।"[2] डॉ.श्रेडर ने इससे यह अभिप्राय लिया है कि, मुक्त आत्मा परमात्मा के साथ-साथ रहता है[3] किन्तु, यह उनका भ्रम है। इसका अभिप्राय इतना ही है कि वह परमतत्त्व के रूप में ही रहता है, उसका उससे भिन्न अस्तित्व नहीं रहता। जयाख्यसंहिता में इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि, जिस प्रकार लकड़ी अग्नि में जल जाने के बाद लकड़ी नहीं रहती, नदी समुद्र में प्रविष्ट हो जाने पर नदी नहीं रहती उसी भाँति योगी मुक्त हो जाने पर स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती।[4]

कुछ पाञ्चरात्र संहिताओं में अद्वैत वेदान्त के प्रवृत्ति के विपरीत मुक्त जीव तथा परमात्मा में भेद का भी प्रतिपादन किया गया है किन्तु, अस्तित्वसमर्पण को ही सर्वोत्तम मुक्ति माना गया है।[5] अहिर्बुध्न्यसंहिता का कथन है कि, मुक्त जीव का कार्यकलाप उसके वैयक्तिक भक्तिपूर्ण झुकाव पर निर्भर करता है।

परमसंहिता का मत है कि, भगवत्कृपा के बिना जीव संसारी ही रहता है, माया से उसकी मुक्ति नहीं होती। भगवान् के प्रति श्रद्धा, भक्ति और समाधि से, शास्त्रज्ञान-विहीन व्यक्ति भी निःश्रेयस प्राप्त कर लेता है।[6] भक्तगत सत्त्वमय

१. ऐक्यं प्राप्नोति सा मुक्तिः उक्ता सायुज्यलक्षणा।
मुक्तिर्वाऽस्त्येकतापत्तिर्जीवात्मपरमात्मनोः।। - पाद्मसंहिता।

२. अहमेव भवन्त्येते न भेदस्तत्र कश्चन।
यथा ह विहराम्येव तथा मुक्ताश्च देहिनः।। - परमसंहिता १, ६९.

३. इन्ट्रोडक्शन आफ पाञ्चरात्र, पृ. ९१.

४.(अ) यथाऽनेकेन्धनादीनि संप्रविष्टानि पावके।
अलक्ष्याणि च दग्धानि तदवत् ब्रह्मण्युपासकाः।।
सरित्संघाद्यथा तोयं संप्रविष्टं महोदधौ।
अलक्ष्यश्चोदके भेदः परस्मिन् योगिनां तथा।। - जयाख्यसंहिता, ४/१२१,३.

(ब) यथा हि वह्निना लीढमिन्धने तन्मयं भवेत्।
एवं चिता समालीढं चेत्यं चिन्मयतां व्रजेत्।। - लक्ष्मीतन्त्र, १४/७.

५. भेदेन चाप्यभेदेन मिश्रेण च चतुर्मख।
त्रिधैव मुक्तिरुदिता भेदे कैंकर्य लक्षणा।।
अभेदे मुक्तिरत्यन्तमैक्यं स्यात्परजीवयोः।
आत्मनो भावना चैक्यं सोऽहमित्येवात्मिका।। - पाद्मसंहिता, ८/२८-३२क

६. परमसंहिता, १, ८१-८६.

भगवान् को प्रसन्न करता है।[१] संहिता में आठ प्रकार की भक्ति का उल्लेख है।[२] वस्तुतः, भगवान् तो स्वयं ही प्रसन्न होते और कृपा करते हैं। अनेक जन्मों के अनन्तर कभी नमन और परिचर्या से भगवान् अनुग्रह करते हैं जिससे कर्मपरिपाक होकर मोक्ष हो जाता है।[३]

पाञ्चरात्र-शास्त्र पापनाशक, पुण्यप्रद, पवित्र भोग और मोक्ष प्रदायक है। वह भगवत्तत्त्व का परिज्ञान कराता है। जयाख्यसंहिता में वर्णित है कि जब तक भगवतत्त्व ज्ञान नहीं हो जाता तब तक परम गति, अविकल मुक्ति दुर्लभ ही है।[४] जीव का भगवतत्त्व के परिज्ञान के लिए भगवान् की अनुग्रह शक्ति आवश्यक है। इस अनुग्रह शक्ति की अनुभूति के लिए भक्त के पास एकमात्र उपाय है- शरणागति, प्रपत्ति, न्यास, निक्षेप इत्यादि जो भगवच्चरण में निष्काम भक्ति की प्रतीक है। बिना 'न्यास' के शक्तिपात सम्पन्न नहीं होता। प्रपत्ति ही जीव का स्वाभाविक धर्म है। इससे बढ़कर कोई दूसरी विद्या (ज्ञान) नहीं है। भगवान् विष्णु ही परमदैवत (परमात्मा) है, परमात्मा के चरण में दास्यभाव की प्राप्ति ही महान् सिद्धि है और वैष्णव ही सर्वेत्तम ज्ञानदाता-गुरु हैं।[५]

अहिर्बुध्न्यसंहिता में शरणागति का लक्षण करते हुए कहा गया है कि, "जब जीव हृदय से ऐसा सोचने लगे कि, मैं अपराधों का आलय हूँ, अकिंचन हूँ तथा अगति हूँ। हे भगवान्! आप मेरे एकमात्र उपाय हैं।[६] श्रीप्रश्नसंहिता[७], लक्ष्मीतन्त्र[८], अहिर्बुध्न्यसंहिता[९] में प्रपत्ति के छः अंग- भगवान् के सदा अनुकूल रहने का संकल्प, कभी उनके प्रतिकूल न होना, वे सदा रक्षा करेंगे- यह अटल

---

१. परमसंहिता,. २१९.
२. तत्रैव, ४/७३ बी-७५.
३. तत्रैव, २१/११-१४.
४. "अज्ञाते भगवतत्त्वे दुर्लभा परमा गतिः।" - जयाख्यसंहिता, पृ. १, श्लो. ३८.
५. "न प्रपत्तेः परा विद्या न विष्णोदैवतं परम्।
न तद्दास्यात्परासिद्धिर्नरुवैष्णवात्परः।।" - भारद्वाजसंहिता, परि. १, ५३.
६. 'अहमस्म्यपराधानामालयोऽकिंचनो गतिः।।
त्वमेवोपायभूतो मे भवेति प्रार्थनामतिः।
शरणागतिरित्युक्ता सा देवेऽस्मिन् प्रयुज्यताम्।। - अहि.सं. ३७, ३० बी-३१.
७. श्रीप्रश्नसंहिता, श्लो. १७-६०.
८. आनुकूलस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षयतीति विश्वासो मोप्तृत्ववरणं तथा।।
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः।। - लक्ष्मीतन्त्र-१७, ६०-६१ ए.
९. अहिर्बुध्न्यसंहिता, ३७, २८-२९ ए.

विश्वास, भगवान् को 'रक्षक मानना', आत्मसमर्पण तथा नितान्त दीनता बताये गये हैं। लगभग इसी तरह की परिभाषा भारद्वाज संहिता में भी है।[1]

शरणागति की इस षड्विध क्रम का मनोवैज्ञानिक महत्त्व है। अपने प्रियतम के प्रति शरणापन्न होने में यही क्रमिक विकास का विशद् पथ है। गीता पाञ्चरात्र भक्ति का प्रतिपादक ग्रन्थ है। उसमें भी शरणागति को गुह्यतम तथा मुख्यतम साधन के रूप में उल्लेख है। प्रस्तुत श्लोक द्रष्टव्य है- "कार्पण्यदोषोपहत-स्वभावः, पृच्छामि त्वां धर्म-संमूढचेताः। यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं बूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।"[2] प्रस्तुत पद्य में 'कार्पण्य' तथा 'शिष्य' दोनों शब्द ध्यातव्य है। कार्पण्य दीनता का सूचक है, तो शिष्य शब्द गुरु के उपदेशों पर अटल श्रद्धा, विश्वास और आत्म-निक्षेप की ओर लक्षित है। प्रपन्न तो प्रत्यक्षतः प्रपत्ति का परिचायक है।

लक्ष्मीतन्त्र में प्रथम दो प्रपत्ति की विधाओं "अनुकूलस्य संकल्प" तथा "प्रातिकूल्य-वर्जन" का अर्थ स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि, यहाँ ईश्वर में ही अनुकूल आचरण के संकल्प तथा प्रतिकूल आचरण के वर्जन की बात नहीं कही गयी है। 'सर्वभूतानुकूलता' भी उसी आनुकूल्य संकल्प में अन्तर्यामी रूप में अवस्थित होना है। प्रातिकूल्य वर्जन का अर्थ इसी प्रकार है।[3] स्पष्ट है कि, शरणागति मानव मात्र के लिए ही न होकर प्राणिमात्र के लिए है।

पाञ्चरात्रागम यह मानता है कि, जीव ब्रह्म से ही प्रादुर्भूत है और मुक्तावस्था में उसी में सन्निविष्ट हो जाता है जबकि रामानुज यह मानते हैं कि, जीव का स्थायी अस्तित्त्व नहीं है।[4] इसी प्रकार रामानुज के अनुसार जीव की अनैकता जागतिक सत्य मानी जाती है जब कि पाञ्चरात्र इसे कूटस्थ पुरुष से सृष्टि के उपरान्त प्रादुर्भूत मानता है।[5] इस प्रकार पाञ्चरात्र आगम में मुक्ति का स्वरूप अद्वैत वेदान्त के मोक्ष के सिद्धान्त के अधिक निकट है जिसे हम वेद की भाषा में "तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः" कह सकते हैं।[6]

---

१. भारद्वाजसंहिता, १, श्लोक १७-१८.

२. गीता, २, ७.

३. "आनुकूल्यमिति प्रोक्तं सर्वभूतानुकूलता।
अन्तः स्थिताऽहं सर्वेषां भावनामिति निश्चयात्।।
मयीव सर्वभूतेषु ह्यानुकत्यं समाचरेत्।
तथैव प्रातिकूल्यं च भूतेषु परिवर्जयेत्।। - लक्ष्मीतन्त्र-१७, ६६-६७.

४. दी फिलासाफी आफ पाञ्चरात्र, पृ. ८३.

५. तत्रैव, पृ. ८६.

६. ऋग्वेद, १.२२, २०.

जयाख्यसंहिता

कालनिर्णय

ईश्वरसंहिता में यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित है कि, पाञ्चरात्र सम्प्रदाय श्रुतिमूलक है। इसके आदि प्रवक्ता नारायण माने जाते हैं।[१] वेद की एकायन शाखा से समुद्भूत यह सम्प्रदाय महाभारत के मोक्षपर्व में भी इसी रूप में चित्रित है।[२] विद्याओं की गणना के समय भी एकायन वेद की गणना की गयी है।[३] महर्षि याज्ञवल्क्य ने भी व्यूहों के साथ इसकी उपासना का निर्देश किया है।[४]

---

१. "नारायणमुखोद्गीतं नारदोऽश्रावयत्पुरा" - जयाख्यसंहिता, भूमिका, संस्कृत, पृ.३६.

२. इदं शतसहस्राद्धि भारताख्यानविस्तरात्।
आमन्थ्य मतिमन्थेन ज्ञानोदधिमनुत्तमम्।।
नवनीतं यथा दध्नो मलयाच्चन्दनं यथा।
आरण्यकं च वेदेभ्य औषधीभ्योऽमृतम्।।
इदं महोपनिषदं चतुर्वेदसमन्वितम्।
सांख्ययोगकृतान्तेन पाञ्चरात्रानुशब्दितम्।।
- महाभारत, शान्तिपर्व, ३४३, ११-१३, ३९९/१११-१२

३. येयं त्रयी श्रुतिः ख्याता ऋग्यजुः सामलक्षणा।
तां भारतादेः प्राचीनां मानुषीं कालभेदतः।।
क्रमाज्जातां प्रपश्यन्ति बहवोऽद्य विमर्शकाः।
नापौरुषेयीं निर्दुष्टां न च नित्येश्वरोदिताम्।।
प्रवादलक्षणादन्यः को विशेषः श्रुतितत्वतः।
तत् संहिताभ्य एतेषां प्राचीतत्वेन हेतुना।।
पाञ्चरात्रश्रुतिरिति प्रवादो ननु युज्यते। - जयाख्यसं., भूमिका, पृ. ४१.

४. ओंकाररथमारुह्य मनः कृत्वा तु सारथिम्।
ब्रह्मलोकपदान्वेषी याति विष्णोः परं पदम्।।
पाञ्चरात्रे तथा ह्येष भगवद्वाचकः स्मृतः।
बलं वीर्यं तथा तेजस्त्रिमात्रेति च संज्ञितः।।
ज्ञानैश्वर्ये तथा शक्तिस्त्रिस्वभाव इति स्मृतः।
संकर्षणोऽथ प्रद्युम्नो ह्यनिरुद्धस्तथैव च।।
ते व्यूह इति निर्दिष्ट ओंकारो विष्णुरव्ययः।।
- उद्धृत जयाख्यसंहिता, प्रस्तावना, पृ.३८.

ईश्वरसंहिता के अनुसार प्राचीन काल में तोताद्रि शिखर पर समाहित चित्त से बैठे हुए महर्षि शाण्डिल्य को द्वापर तथा कलियुग के सन्धिकाल में साक्षात् संकर्षण से एकायन वेद की प्राप्ति हुई जिसे उन्होंने सुमन्तु, जैमिनि, भृगु तथा मौञ्ज्यायन उपगायन को सम्यक् रूप से पढ़ाया और यह कहा कि, मोक्ष के लिए इसके अलावा कोई दूसरा रास्ता नहीं है इसीलिए इसे एकायन कहा जाता है। मूल वेद के अनुसार तथा अनुष्टुप् छन्द का आश्रय लेकर सात्वत, पौष्कर तथा जयाख्य नामक सत् शास्त्रों का निर्माण संकर्षणादि के द्वारा किया गया तथा यह कामना की गयी कि ये सभी शास्त्र सभी के अभीष्ट फलदाता होंगे।[1]

छान्दोग्य उपनिषद् में एकायन शाखा की गणना भूमाविद्या के अन्तर्गत की गयी है। ऐसा प्रतीत होता है कि, सात्वत, पौष्कर तथा जयाख्य संहिताओं की कोई प्राक्तन शाखा थी जो श्रुतिमूलक थी। वही कालान्तर में सम्प्रदाय सिद्ध महर्षियों के द्वारा एकायन शाखा के रूप में प्रवर्तित की गयी।[2]

---

१. पुरा तोताद्रिशिखरे शाण्डिल्योऽपि महामुनिः।
समाहितमना भूत्वा तपस्तप्त्वा सुदारुणम्।।
द्वापरस्य युगस्यान्ते आदौ कलियुगस्य च।
साक्षात् संकर्षणाल्लब्ध्वा वेदमेकायनाभिधम्।।
सुमन्तुं जैमिनिं चैव भृगुं चैवोपगायनम्।
मौञ्ज्यायनं च तं वेदं सम्यगध्यापयत् पुरा।।
एष एकायनो वेदः प्रख्यातः सर्वतो भुवि।
दुर्विज्ञेयो दुष्करश्च प्रतिबुद्धैर्निषेव्यते।।
शृणुध्वं मुनयः सर्वे वेदेमेकायनाभिधम्।
मोक्षायनाय वै पन्था एतदन्यो न विद्यते।।
तस्मादेकायनं नाम प्रविदन्ति मनीषिणः।
मूलवेदानुसारेण छन्दसाऽऽनुष्टुभेन च।।
सात्वतं पौष्करं चैव जयाख्येत्येवमादिकम्।
दिव्यं सच्छास्त्रजालं तदुक्त्वा संकर्षणादिभिः।।
प्रवर्तयामास भुवि सर्वलोकहितैषिभिः।।
- ईश्वरसंहिता, अध्याय १.

२. "एतेन संभाव्यते नामैतावत्याः संहिताः सात्वतपौष्कराद्यास्तासां मूलभूतः कश्चन शास्त्राविभागस्ताभ्योऽपि प्राक्तनोऽध्ययनक्रमप्राप्तः श्रुतित्वेन तत्र तत्र व्यपदिश्यमान आसीदिति।" - जयाख्यसंहिता, भूमिका, पृ. ४०.

उत्पलदेव ने स्पन्दकारिका की टीका स्पन्दप्रदीपिका में स्पष्ट उल्लेख किया है कि, जिस प्रकार प्रासाद पर चढ़ने वाले को सीढ़ी पर चढ़ना आवश्यक है तथा नदी पार करने वाले को नाव पर चढ़ना आवश्यक है उसी प्रकार शास्त्र के द्वारा भगवान् का ज्ञान अपेक्षित है।[1] उत्पलदेव का समय ईसा की दशवीं शताब्दी माना जाता है। अनवच्छिन्न रूप से आने वाली इस विचार परम्परा की प्राचीनता स्वयं सिद्ध है। मीमांसकों का भी मानना है कि, समाज में जो व्यवहार प्रचलित हैं उनका मूल या श्रुति वाक्य से निश्चित है। इसी आधार पर उन्होंने दाक्षिणात्यों में प्रचलित कन्या परिणय को श्रुति तथा स्मृति मूलक बताया है।[2] यही बात अन्य संहिताओं में स्पष्ट रूप से उल्लिखित है। इस प्रकार पाञ्चरात्र की प्राचीनता सिद्ध हो जाने पर जयाख्य के मूल शास्त्र के रूप में प्रतिष्ठित हो जाने पर यह आवश्यक है कि जयाख्यसंहिता के काल पर विचार किया जाय।

जयाख्यसंहिता के दो पाण्डुग्रन्थों की जानकारी तो प्राप्त हुई है किन्तु, वे उपलब्ध नहीं हो सके[3] अतः, उन्हें अध्ययन का आधार नहीं बनाया जा सका है। आविर्भाव काल के क्रमिक होने के साथ ही साथ सात्वत, पौष्कर तथा जयाख्यसंहिताओं में महत्व की दृष्टि से किसी प्रकार पौर्वापर्व का भेद नहीं है। उत्पलाचार्य ने स्पन्दप्रदीपिका में "प्रोक्तं हि श्री जयायां - तत्वमुक्त निर्मुक्त देहस्य केवलस्य चिदात्मनः य उदेति महानन्दः सा शक्तिः वैष्णवी परा" कहकर जयाख्यसंहिता के एक मन्त्र का उल्लेख किया है।[4] इसी प्रकार के अन्य उद्धरण जयाख्यसंहिता में दिए गए हैं।[5] श्रेडर महोदय ने अपने अहिर्बुध्न्य संहिता के भूमिका में स्पन्दप्रदीपिकाकार का काल ईसा की दसवीं शताब्दी माना है। यामुनाचार्य से एक पुरुष पहले इनकी स्थिति मानी जाती है। अतः स्पन्दप्रदीपिका का काल दशम शतक का उत्तरार्द्ध माना जा सकता है। इसी में अहिर्बुध्न्यसंहिता का भी उल्लेख किया गया है। अहिर्बुध्न्यसंहिता में भी जयाख्यसंहिता के कुछ मन्त्रों का आनुपूर्वी भेद से सत्रहवें अध्याय में उल्लेख मिलता है अतः, निष्कर्ष यह निकलता है कि स्पन्दप्रदीपिका से पूर्व की रचना अहिर्बुध्न्यसंहिता की है। यदि दोनों में सौ-सौ वर्ष का अन्तर मान लिया जाय तो स्पन्दप्रदीपिका से सौ वर्ष पूर्व अर्थात् नवम शतक में अहिर्बुध्न्यसंहिता का काल निश्चित प्रायः होता है। प्रचार-प्रसार के काल को जोड़ते हुए यदि दो शतक पीछे जयाख्यसंहिता का

---

१. 'पाञ्चरात्रश्रुतावपि - यद्वत्सोपानेन प्रासादमारुहेत् प्लवेन नदीं तरेत् तद्वच्छास्त्रेण हि भगवान् शास्त्रावऽवगन्तव्यः।" - स्पन्दप्रदीपिका, पृ. २.

२. मीमांसासूत्र, भाष्य शवरस्वामी।

३.(अ) प्रथम पाण्डुलिपि नेपाल की दरबार लाइब्रेरी।

(ब) हिन्दी साहित्य शोध संस्थान, उदयपुर।

४. जयाख्यसंहिता, पटल १०, श्लो. ६०.

५. तत्रैव, पटल २०, श्लो. २३३-२३९.

रचनाकाल माना जाय तो यह सप्तम शतक आता है। श्रेडर महोदय ने अहिर्बुध्न्यसंहिता का प्रादुर्भाव काल तृतीय शतक से पञ्चम शतक के मध्य माना है।[१] अपने पक्ष के प्रमाण में उन्होंने यह लिखा है कि सांख्यशास्त्र के उद्भव के निरूपण के अवसर पर इसमें षष्टितन्त्र का उल्लेख किया गया है। यदि इसका रचनाकाल पञ्चम शतक के बाद होता तो ईश्वर-कृष्ण के सांख्यकारिका का उल्लेख किया गया होता क्योंकि उस काल तक षष्टितन्त्र का प्रचार समाप्त हो गया था। ऐसा सोचने पर जयाख्यसंहिता काल द्वितीय शतक माना जा सकता है।

बौद्धों के आर्यमंजुश्रीकल्पलता तथा गुह्यसमाजतन्त्र नामक दो तान्त्रिक ग्रन्थों की रचना काल विचारणीय हैं। इनमें मण्डल, मुद्रा आदि का वर्णन है जबकि इनके पूर्व में तन्त्र की इतनी विस्तृत पद्धतियों का वर्णन उपलब्ध नहीं होता। जयाख्यसंहिता में तन्त्र का विकसित स्वरूप प्राप्त होता है। इसमें उल्लिखित मण्डल, दीक्षादि विशद वर्णन, सिद्धि तथा खड्गादि उपासनाओं का उल्लेख यह सिद्ध करता है कि जयाख्यसंहिता परवर्ती काल की रचना है। आचार्य मंजुश्रीकल्पलता का काल दूसरी शताब्दी तथा गुह्यसमाजतन्त्र का काल तीसरी शताब्दी माना जाता है। अतः जयाख्यसंहिता के काल का इसके पूर्व होने का अनुमान असंगत-सा लगता है। जयाख्यसंहिता में यक्षिणी सिद्धि का उल्लेख है।[२] यक्षिणी साधना का उल्लेख भूतडामरतन्त्र में मिलता है। भूतडामरतन्त्र में आठ यक्षिणियों का उल्लेख है जैसे सुर-सुन्दरी, मनोहारिणी, कनकमती, कामेश्वरी, रतिप्रिया, पद्मिनी, नटी तथा अनुरागिणी। जयाख्यसंहिता में यक्षिणी का तो उल्लेख है किन्तु, अन्य नामों का उल्लेख नहीं है अतः, यह डामरतन्त्र के पूर्व की रचना हो सकती है। इसका एक आधार यह भी है कि, भूतडामरतन्त्र में 'दीनार' प्राप्ति का उल्लेख है किन्तु, जयाख्य में नहीं है। भूतडामरतन्त्र का काल सप्तम शतक का प्रारम्भ माना जाता है। 'दीनार' का उल्लेख षष्ठ शताब्दी में प्राप्त होता है। अतः जयाख्य का रचनाकाल इससे पूर्व ही होना निश्चित है।

लिपिशास्त्र के आधार पर विभिन्न अक्षरों के विकास क्रम पर ध्यान देने से यह बात स्पष्ट होती है कि, जयाख्यसंहिता में निर्दिष्ट अक्षरों के आकार का आधार किस काल का हो सकता है। उदाहरणार्थ- जयाख्यसंहिता में प्रयुक्त अक्षर 'न' नर शब्द का द्योतक है। अशोक काल से कुषाण काल तक 'न' अक्षर के विकास का क्रम निम्नलिखित है-

अशोक शंग कषाण पल्लव गप्त विल्साद तोरमान

न - नरः - 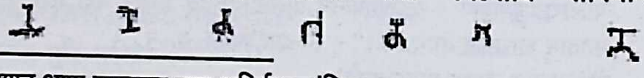

१. इण्ट्रोडक्शन आफ पाञ्चरात्र एण्ड अहिर्बुध्न्यसंहिता, पृ. १०८.

२. "यच्चान्यमसोऽभीष्टं तद्ददात्यविकल्पतः।
कौशेयवस्त्रमानीय लिखेत्तत्र च यक्षिणीम्।।"
- जयाख्यसंहिता पटल २६, श्लो. ७७.

विल्साद् (४१४ ए.डी.) से तोरमान (५०० ए.डी.) के शिलालेखों के आधार पर यह निर्णय निकलता है कि, 'न' अक्षर का विकास नराकृति रूप में विल्साद के शिलालेख में वर्णित है अतः, बी भट्टाचार्य के अनुसार लिपिशास्त्र के आधार पर जयाख्यसंहिता का काल ४५० ए.डी. आता है।[1]

वैखानसागम पुरुष, सत्य, अच्युत तथा अनिरुद्ध को विष्णु से प्रादुर्भूत माना है। इन्हें आदिमूर्ति कहा जाता है। वासुदेव, संकर्षण, अनिरुद्ध, प्रद्युम्न तथा साम्ब- ये पाँच उनके अधीनस्थ योद्धा माने गये हैं।[2] पाञ्चरात्र के व्यूह, इस प्रकार वैखानस की पञ्चमूर्तियों के अधीन हैं। इन्हें पाञ्चरात्रागमों में 'विभव' कहा गया है। जयाख्यसंहिता में पुरुष, सत्य और अच्युत को वासुदेव से प्रादुर्भूत माना गया है; इस बात की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि, जयाख्य पाञ्चरात्र परम्परा में वैखानस परम्परा के अधिक निकट है अतः, इसका अन्य संहिताओं से पूर्वभावी होना असंभव नहीं लगता।[3] पाञ्चरात्रसंहिता के त्रिरत्नों में ज्याख्यसंहिता सबसे प्राचीन संहिता है- **रत्नेषु त्रिष्वपि श्रेष्ठं जयाख्यं तन्त्रमुच्यते।**[4] इस सन्दर्भ में यहाँ यह ध्यातव्य है कि, काञ्ची में वैशाख के महीने में एक महोत्सव मनाया जाता है जिसकी परम्परा आज भी अनवच्छिन्न रूप में विद्यमान है। जयाख्य के प्रथम पटल में इस महोत्सव का उल्लेख है जब कि, अन्य संहिताओं में उल्लेख नहीं है। कुछ विद्वान् इसे प्रक्षिप्त मानते हैं तथा इसे मन्दिर की प्रतिष्ठा की अभिवृद्धि के लिए समायोजित मानते हैं। जो भी हो, इससे इतनी बात स्पष्ट है कि, जयाख्य के मानने वाले उस महोत्सव से अपरिचित नहीं थे अतः, इसकी प्राचीनता में सन्देह का कारण नहीं दीखता।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि, जयाख्य संहिता का काल तृतीय शतक के उत्तरार्द्ध से पञ्चम शतक के मध्य होना निश्चित प्राय है।

आगम संहिता में सात्वत, पौष्कर तथा जयाख्य संहिता को त्रिरत्न कहा गया है। त्रिरत्नों की कल्पना बौद्धों में भी है। इनमें बुद्ध, धर्म और संघ को त्रिरत्न माना गया है। त्रिरत्न की इस साधन परम्परा में सन्तों ने ज्ञान, योग, क्रिया तथा चर्या नामक उपासना श्रेणियों का विभाजन किया है। जयाख्यसंहिता में प्रथम पटल से चतुर्थ पटल तक ज्ञान का वर्णन माना जाता है। पञ्चम, द्वादश, चतुर्दश तथा षोडश से लेकर तैंतीसवें पटल तक मन्त्र, यौगिक क्रियायें तथा उनके प्रयोगों का निरूपण है जिन्हें हम योगपाद कह सकते हैं। तेरह,

१. जयाख्यसंहिता अंग्रेजी, भूमिका, पृ. ३४.
२. क्रियाधिकार, ३०, ३१.
३. जयाख्यसंहिता, पटल ४.
४. जयाख्यसंहिता, १ (अधिकः पाठः) श्लो. १०८.

चौदह, पन्द्रहवाँ, बीसवाँ तथा इक्कीसवें का कुछ अंश क्रिया से सम्बन्ध रखते हैं जिनमें बाह्ययाग तथा प्रतिष्ठा संस्कारों की चर्चा है जिसे क्रियापाद कहा जा सकता है। सोलह, अट्ठारह, सत्रह, बाईस, पच्चीस, इक्कीसवें का कुछ अंश दीक्षा, आचार, श्राद्ध, प्रेत, प्रायश्चित्त व्रतादि का निरूपण करते हैं। इनमें जप, मुद्रा, ध्यान तथा न्यासादि का भी निरूपण है जिसे हम चर्यापाद कह सकते हैं।

यादवाद्रि (मेलकोटे) में सात्वतसंहिता के अनुसार, श्रीरंगम् में पौष्करसंहिता के अनुसार तथा हस्तिशैल में जयाख्यसंहिता के अनुसार आराधन-क्रम प्रचलित है-

सात्वतं यदुशैलेन्द्रे श्रीरङ्गे पौष्करं तथा।
हस्तिशैले जयाख्यं च साम्राज्यमधितिष्ठति।।[1]

जयाख्यसंहिता का उपबृंहण पाद्मसंहिता में किया गया है। पाद्मसंहिता के ऊपर श्रीपेड्डण्ण ने पाञ्चरात्र प्रदीपिका नामक एक भाष्य का प्रणयन किया है।[2] ध्यातव्य है कि यूनाइटेड किंगडम के डॉ. जी.डी. फ्लड बाथ ने आस्ट्रिया के वियना विश्वविद्यालय में अन्तर्राष्ट्रीय संस्कृत अध्ययन संघ के तत्त्वावधान में २७ अगस्त से २ सितम्बर, १९९० तक चलने वाले सत्र में जयाख्यसंहिता के कर्मकाण्ड, जगत् तथा दैवी शरीर आदि से सम्बन्धित एक निबन्ध पढ़ा था जिसका सार-संक्षेप उपलब्ध हुआ किन्तु, पूर्ण निबन्ध प्राप्त न हो सकने के कारण उसका विवेचन सम्भव नहीं हो सका है।

जयाख्यसंहिता का सार-संक्षेप-

पाञ्चरात्रागम के रत्नत्रय में अन्यतम जयाख्यसंहिता, श्रीएम्बार कृष्णमाचार्य द्वारा सम्पादित १९३१ ई. में बड़ौदा ओरियेण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा से देवनागरी लिपि में प्रकाशित है। गायकबाड़ ओरियेण्टल सिरिज के ५४वें प्रसून के रूप में प्रकाशित जयाख्यसंहिता में लगभग ४५०० श्लोक हैं।

जयाख्य संहिता में कुल तैंतीस पटल हैं। प्रथम पटल शास्त्रावतरण के नाम से विख्यात है। संहिता का प्रारम्भ पौराणिक कथा शैली में किया गया है। सर्वप्रथम मंगलश्लोक के माध्यम से शास्त्र के प्रयोजन का निरूपण है, इसका उद्देश्य विषय-वासनाओं में लिप्त लोगों का उद्धार करना है।[3] इसके पश्चात्, गुरु-शिष्य परम्परा का निरूपण है। विमल प्रभास क्षेत्र में महर्षि संवर्त अपने पिता के पास उपस्थित होते हैं तथा संसारार्णव से मुक्त होने का उपाय पूछते हैं।[4] और्व अपने पूर्व समय कृतयुग की घटना का उल्लेख करते हुए बताते हैं

१. जयाख्यसंहिता, १, (अधिकः पाठः), श्लो. १२-१३, पृ. ८.
२. The •gama Encyclopaedia (Vol. IV), पृष्ठ ४६.
३. "विषयार्णवमग्नानां समुद्धरणहेतवे", ज.सं.प.१, श्लो० १ बी.
४. "यं ज्ञात्वा न पुनर्जन्म स्यान्मान्यस्य कस्यचित्", वही श्लो. ६.
५. वही, श्लो. १०-१२.

कि, अन्य ऋषियों के साथ उन्होंने बहुत तपस्या की और मुक्ति का साधन जानना चाहा किन्तु, उन्हें उपलब्ध नहीं हुआ। महर्षियों को बड़ा परिताप हुआ। ठीक उसी समय आकाशवाणी हुई कि यज्ञ से, वेदादिगम से मोक्ष नहीं हो सकता। स्वर्ग की स्थिति भी स्थिर नहीं है अतः, जब तक सर्वव्यापी निरंजन, शुद्ध-बुद्ध परतत्त्व का ज्ञान नहीं होता तब तक मोक्ष सम्भव नहीं है।[१] इसके पश्चात्, उसी अव्यक्त वाणी ने विष्णु को अक्षर, अक्षोभ्य, सनातन तथा सभी प्राणियों की गति बताते हुए परमतत्त्व का विवेचन किया।[२] परस्पर विचारोपरान्त हम लोग महर्षि शाण्डिल्य के समीप गये। महर्षि शाण्डिल्य का आश्रम नाना सुन्दर पुष्पों से सुशोभित, फल-द्रुमों से निसेवित तथा प्रकृति के सौन्दर्य से भरपूर गन्धमादन पर्वत पर था।[३] उन्हेंाने सभी महर्षियों का स्वागत सत्कार किया और पूछे जाने पर उन्होंने यह कहा कि, यह ज्ञान-शास्त्र का सारभूत सार है। परमरहस्यमय है तथा अनाधिकारी को इसका उपदेश करना निषिद्ध है।

गुरु-शिष्य परम्परा से बदरी-आश्रम में महर्षिनारद से शाण्डिल्य को यह ज्ञान प्राप्त हुआ तथा नारद को यह ज्ञान साक्षात् विष्णु से ही प्राप्त हुआ था। इस ज्ञान का उपदेश सभी संशय से रहित तथा गुरु परम्परा से इस शास्त्र का ज्ञान फलप्रद होता है। आचारविहीन तथा श्रद्धा, भक्ति से रहित व्यक्ति को इस ज्ञान का उपदेश नहीं करना चाहिए।[५] इसके उपरान्त, गुरु की महिमा तथा भक्ति का श्रेयस्कर साधन बताते हुए महर्षि नारद ने अपना वक्तव्य बन्द किया तथा उपस्थित महर्षियों ने तत्त्व जिज्ञासा के कारण शिष्यत्व भाव अंगीकार किया।

महर्षि शाण्डिल्य ने और्व आदि उपस्थित मुनियों को विष्णुहस्त से सिर पर स्पर्श करके सन्तुष्ट भाव से उपदेश देना प्रारम्भ किया।[६] उन्होंने बताया कि, कृतयुग में पौष्करकल्प में काम-क्रोध से विनिर्मुक्त पितामह को भगवान् विष्णु ने इस शास्त्र का उपदेश किया था।[७] उस समय धर्म की अभिवृद्धि तथा अधर्म का नाश हो गया था। प्रश्नकर्ता नारद थे और उत्तरदाता साक्षात् विष्णु। अपने कल्याण तथा भक्तों के विजय के लिए अमृत गर्भिणी संहिताओं से सार एकत्रित करके भगवान् विष्णु ने अनुष्टुप् छन्द में परमतत्त्व का उपदेश किया।[८]

१. वही, श्लो. १५-१६.
२. वही, श्लो. २१-२३.
३. वही, श्लो. ३१-३२.
४. ज.सं.पं.१, श्लो. ४४.
५. वही, श्लो. ५३-५६.
६. "दत्तो मूर्ध्नि ततस्तेषां मुनीनां भावितात्मनाम्।
विष्णुहूतश्च (?) तुष्टेन मुनिना ब्रह्मवेदिना।।" - वही, श्लो. ६८.
७. वही, श्लो. ७०-७१.
८. वही, श्लो. ७२-७४.

शेष प्रथम से लेकर एक सौ तिरसठ श्लोकों तक प्रक्षिप्तांश माना जाता है। इसमें त्रिरत्न[१] उनकी टीकाओं और उनके मूल शास्त्रों तथा कहा उनका अधिक समादर होता है, उनका उल्लेख किया गया है। कांची के हस्तिशैल[२] तथा वरद के मन्दिर और वहाँ किये जाने वाले महोत्सवों का विशद वर्णन तथा उसकी स्तुति की गयी है।[३]

द्वितीय पटल का नाम ब्रह्मसर्गाख्यान है। जब ऋषियों ने शाण्डिल्य से पुनः सभी आख्यान विस्तारपूर्वक वर्णन करने के लिए निवेदन किया तब महर्षि शाण्डिल्य ने उनके समक्ष नारदकृत भगवान् की स्तुति का निरूपण किया। उन्होंने बताया कि, महर्षि नारद ने भगवान् के प्रणव तथा त्रिमात्र रूप[४] के दर्शन के लिए एवं लोक की सृष्टि की जिज्ञासा के लिए यह प्रार्थना की।[५] शाण्डिल्य ने बताया कि, भगवान् ने महर्षि नारद को अपना सकल तथा निष्कल दोनों ही स्वरूप प्रकट किया।[६] भगवान् ने बताया कि, प्रलय मेरी रात्रि है तथा सृष्टि मेरा दिन है। इनकी अवधि दिव्य सहस्रयुगों की है।[७] उन्होंने बताया कि, ज्ञानयोग में अवस्थित होकर अपने महिमामय जलराशि में अपने अन्तःकरण से विज्ञप्ति मात्र रूप वाला महान् प्रभा से युक्त अपनी नाभि से एक स्वर्ण पद्म आविर्भूत किया और उसी में चतुर्मुख ब्रह्मा की सृष्टि हुई।[८] चतुर्मुख ब्रह्मा में अनेक विद्याओं का समावेश था। रजोगुण के उद्रेक से उनमें (ब्रह्मा में) 'अस्मि' ऐसे ज्ञान का उद्भव हुआ।[९] इसके अनन्तर, चेतन, अचेतन, देव, पशु, मनुष्य तथा स्थावर जंगमात्मक जगत् की सृष्टि की, किन्तु रजोगुण के प्रकर्ष से ब्रह्मा में सत्त्वगुण का पराभव हो गया। अस्तु, उनमें (ब्रह्मा में) जगत् संधारण करने का सामर्थ्य नहीं था अतः, मैंने (भगवान् ने) जल के भीतर जाकर पृथ्वी का संधारण करने के लिए योग निद्रा का आश्रय लिया।[१०]

---

१. "सात्वतं पौष्करं चैव जयाख्यं तन्त्रमुत्तमम्", वही, प्रक्षिप्तांश, श्लो. २४.
२. "हस्तिशैले जयाख्यं च साम्राज्यमधितिष्ठति"
"हस्तिशैलस्य माहात्म्यं वरदस्य कृपारसम्" - ज.सं.पं.१, प्रक्षिप्तांश, १३ ए, २१ बी.
३. वही, श्लो. १३८-१४०.
४. वही, पटल २, श्लो. २३.
५. वही, श्लो. २५-२६.
६. वही, श्लो. २८.
७. वही, श्लो. ३२.
८. वही, श्लो. ३४-३६.
९. वही, श्लो. ३९.
१०. ज.सं.प.२, श्लो. ४४ बी-४५ ए.

ब्रह्मा के उत्पन्न होने में हुए आयास के कारण दो स्वेद बिन्दुओं का प्रादुर्भाव हुआ जो पद्मनाल का आश्रय लेकर उदरस्थ हो गये तथा उनसे मधु तथा कैटभ नामक दो दैत्यों की उत्पत्ति हुई।[1] इन्होंने (दैत्यों ने) वेद का अपहरण कर लिया जिससे जगत् में अधर्म की स्थिति पैदा हो गयी।[2] पुनः देवताओं तथा ऋषियों के उद्‌बोधन से उद्‌बुद्ध ब्रह्मा ने भगवान् की स्तुति की। भगवान् ने प्रकट होकर अपने विद्यामय रूप से पाताल लोक में छिपाये गये वेद का उद्धार किया।[3] इस विद्यामय रूप का ब्रह्मा में समावेश हो जाने के कारण ब्रह्मा में वेद की अवधारणा हुई।[4]

भगवान् ने मायामय रूप धारण करके युद्धोन्मत्त दोनों दानवों से अनेक सहस्र वर्षों तक युद्ध किया।[5] उन्हें अजेय समझकर मन्त्रमय रूप से उनका संहार किया, उन्हीं के मेद से पूरी वसुन्धरा व्याप्त हो गयी तभी से इसे 'मेदिनी' कहते हैं।[6]

तृतीय पटल का प्रारम्भ नारद के प्रश्न से होता है। उन्होंने प्राधानिक सृष्टि के सन्दर्भ में भगवान् से प्रश्न किया। भगवान् ने प्रधान का लक्षण करते हुए कहा कि जो एक है, अनादि है, अज है, अव्यक्त है तथा सत्त्व, रज, तमः आदि त्रिगुणों की साम्यवस्था है उसी से यह तत्त्वात्मक जगत् उत्पन्न होता है।[7] पुनः भगवान् ने गुणों की वैषम्यावस्था के आधार क्रमशः महत् अहंकारादि का वर्णन किया। नारद के पुन: शंका करने पर कि, जड से सृष्टि की उत्पत्ति कैसे संभव है? उत्तर में भगवान् ने 'बीज' का उदाहरण दिया जिससे अंकुर आदि उत्पन्न होते हैं।[8] नारद ने पुनः प्रश्न किया कि, अचेतन चेतन कैसे हो जाता है? इसके उत्तर में भगवान् ने पुनः कहा कि, ब्रह्म में स्थित तथा उससे अभिन्न जो चिद्रूपात्मक तत्त्व हैं उसी के स्फुरण हैं, उसी के कारण अचित् भी चित् रूप में

---

१. वही, श्लो. ४६.
२. वही, श्लो. ५५-५६.
३. वही, श्लो. ६५.
४. वही, श्लो. ६६.
५. वही, श्लो. ६८-६९.
६. ऊरुभ्यां मर्दितौ चैव ययुर्निष्कण्टकास्सुराः।
तदुद्भूतेन भेदेन परिपूर्णा वसुन्धरा।।७२।।
ततः प्रभृति कालाच्च मेदिनीति उच्यते।" ७३ए।
७. "अनादिमजमव्यक्तं गुणत्रयमयं द्विज।
विद्धि प्रदीपस्थानीयं भिन्नमेकात्मलक्षणम्।।" - ज.सं.प. ३, श्लो. २.
८. ज.सं.प. ३, श्लो. १०-११.

भासित होता है।[१] उन्होंने बताया कि, इस चित् तथा अचित् के संयोग को ही बन्धन तथा वियोग को मोक्ष कहते हैं।[२]

चतुर्थ पटल की अवतरणिका नारद के प्रश्न से हुई है। नारद ने भगवान् से शुद्धसर्ग के विषय में प्रश्न किया है जिसके उत्तर में भगवान् ने यह कहा है कि, सृष्टि के आदि में वसुदेव थे। वह सर्वव्यापक, चित्सामान्य तथा परमानन्द स्वरूप थे।[३] एकमात्र उन्हीं की सत्ता थी। उन्होंने स्वतः ही अपने दीप्ति को क्षोभित करके विद्युत गति से भगवान् अच्युत की सृष्टि की।[४] अच्युत से अनन्त नामक पुरुष की उत्पत्ति हुई। अनन्त की तुलना समुद्र के बुद्बुद तथा मेघदल से की गयी है। प्रथम उपमा में वासुदेव समुद्र है और अच्युत लहर है। दूसरे में वासुदेव समुद्र हैं, अच्युत सूर्य हैं और बादलों का बनना मेघ है।[५] वही वासुदेव सभी देवताओं में अनुस्यूत हैं। उन्हीं की संज्ञा पुरुष है। वासुदेव के ही अंश से सभी अवतारों की सृष्टि हुई है। पुरुष, सत्य, अच्युत ये सभी वासुदेव की अभिव्यक्तियाँ हैं। वे शान्त, शुद्ध, संवित्स्वरूप तथा अन्तर्यामी हैं।[६] जिस प्रकार स्वच्छ शीशे में प्रतिबिम्बित आकाश शीशे से भिन्न नहीं प्रतीत होता और जिस तरह दर्पणगत प्रतिबिम्ब दर्पण से अलग नहीं किया जा सकता उसी प्रकार ये सभी अभिव्यक्तियाँ वासुदेव से भिन्न नहीं हो सकती।[७]

नारद ने पुनः श्रीभगवान् से आग्रह किया है कि, वे अपना सूक्ष्म तथा स्थूल स्वरूप निरूपित करें। भगवान् ने उत्तर में यह कहा है कि, मैं अपने स्थूल शरीर में सर्जक, रक्षक तथा विनाशक (ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश) हूँ। अपने सूक्ष्म रूप में मैं सभी प्राणियों के हृदय में रहते हुए भक्तों के ऊपर अनुग्रह करने वाला हूँ।[८] अपने पर रूप में जो सर्वव्यापक है, मैं परमानन्द होकर सभी प्राणियों में उसी प्रकार व्याप्त हूँ जिस प्रकार वृक्ष में रस व्याप्त रहता है।[९]

---

१. वही, श्लो. १४.
२. वही, श्लो. १७-२८.
३. "यत्सर्वव्यापकं देवं परमं ब्रह्म शाश्वतम्।
चित्सामान्यं जगत्यस्मिन्परमानन्दलक्षणम्।।" वही, पटल ४, श्लो. २.
४. वही, श्लो. ४.
५. ज.सं.प. ४, श्लो. ५-६.
६. वही, श्लो. १३-१४.
७. वही, श्लो. १८.
८. वही, श्लो. २३-२४.
९. वही, श्लो. २५.

नारद ने पुनः प्रश्न किया है कि, संसार की सृष्टि, स्थिति तथा विनाश में जिस प्रकार आप प्रवृत्त रहते हैं वह मुझे विस्तारपूर्वक बताइए। श्रीभगवान् ने यह उत्तर दिया है कि, योगवीर्य से मैं अपने भक्तों को मोक्ष प्रदान करता हूँ। ये मन्त्र मेरे सकल तथा निष्कल दोनों ही प्रकार के स्वरूपों से सम्बन्ध रखते हैं। सकल सम्बन्ध रखने वाले मन्त्र भोग तथा निष्कल सम्बन्ध रखने वाले मन्त्र मोक्ष से सम्बन्ध रखते हैं।[१] यह मन्त्रशक्ति दोषों को नष्ट करने वाली, विश्व की रक्षा करने वाली तथा जीवात्मा द्वारा पूर्वोपार्जित कर्म बन्धन को नष्ट करके भक्तों को शीघ्रातिशीघ्र मुक्ति प्रदान करती है।[२]

नारद ने पुनः भगवान् से मन्त्र तथा उसके प्रयोग के विषय में जिज्ञासा की है। उसका प्रश्न है कि, किस प्रकार मन्त्रवीर्य से मोक्ष प्राप्ति होती है?[३] उत्तर में भगवान् ने कहा कि, उस मन्त्र के अभ्यास से मोक्ष प्राप्त करने के लिए ब्रह्म के सम्बन्ध में सामान्य ज्ञान का होना आवश्यक है क्योंकि बिना उसको जाने अन्य किसी ज्ञान में प्रवृत्ति नहीं हो सकती।[४] ज्ञान दो प्रकार का होता है- सत्ताख्य तथा क्रियात्मक।[५] क्रियात्मक ज्ञान दो प्रकार का होता है- नियमलक्षण तथा यमलक्षण।[६] इनके अभ्यास से धीरे-धीरे मनुष्य शुद्ध ज्ञान को प्राप्त कर लेता है। चौवालिस से उन्चास कारिका तक यम के विभिन्न अंगों का निरूपण किया गया है। इसी प्रकार क्रियाख्य तथा सत्ताख्य ज्ञान मनुष्य को प्राप्त होता है।

ब्रह्म का यह प्रारम्भिक ज्ञान जीव को ब्रह्ममय तथा अमरत्व प्रदान करता है।[७] जिनको इस प्रकार का ज्ञान नहीं होता वे अविद्या के बन्धन में बंधे रहते हैं और विभिन्न योनियों में उत्पन्न होते हैं। अविद्या का स्वरूप त्रिगुणात्मक होता है।

नारद ने पुनः प्रश्न किया है कि, ज्ञान आत्मस्वरूप है तथा माया उसकी रंजिका?[८] फिर, वह कौन-सा उपाय है जिसके करने से पुनर्जन्म नहीं होता? उत्तर में साठ से एक सौ अठारह कारिका तक जीव के परम प्राप्तव्य परब्रह्म का निरूपण किया गया है। इसमें प्रसेधात्मक तथा निषेधात्मक दोनों ही प्रकार की प्रक्रियाओं का उल्लेख है। एक सौ अठारहवें से एक सौ बत्तीस तक विभिन्न

१. वही, श्लो. ३०.
२. वही, श्लो. ३१-३३.
३. ज.सं.प. ४, श्लो. ३४.
४. वही, श्लो. ३५ बी - ३६ ए.
५. वही, श्लो. ४०.
६. वही, श्लो. ४२.
७. वही, श्लो. ५१ बी - ५२ ए.
८. वही, श्लो. ५९ बी - ६० ए.

प्रकार के समाधियों, उपासनाओं तथा उपायों का उल्लेख है जिससे जीव को परम ज्ञान की प्राप्ति होती है। साधक को यह उपदेश दिया गया है कि, अखिल ब्रह्माण्ड उसकी अभिव्यक्तियाँ हैं अतः साधक को उसके विश्वरूप का ध्यान करना चाहिए।[१]

पञ्चम पटल का नाम "ब्रह्मज्ञानोत्पत्त्याख्यान" है। नारद के प्रश्न से ही इस पटल का भी प्रारम्भ होता है। नारद ने श्रीभगवान् से प्रश्न किया है कि, वह कौन-सा उपाय है जिससे अन्तःकरण में स्थित ज्ञेय की प्राप्ति हो जाती है। श्रीभगवान् ने कहा है कि, सभी उपाधियों से विनिर्मुक्त तथा अत्यन्त निर्मल ज्ञान की प्राप्ति योगाभ्यास के द्वारा प्राप्त की जा सकती है।[२] इसको प्राप्त करने का दूसरा साधन मन्त्राराधन है। मन्त्र के अनुग्रह से परम वैराग्य का अभ्युदय होता है।[३] मन्त्र के द्वारा ही ब्रह्म का ज्ञान होता है। मन्त्र सर्वसिद्धिदायक है, सभी विघ्नों को दूर करने वाले एवं सभी अच्छी वस्तुओं को प्रदान करने वाले हैं। मन्त्र राजसुख द्वारा उत्तरसिद्धि देने वाले हैं।[४] उत्साही साधक को परब्रह्म की ज्ञान की प्राप्ति के लिए किसी योग्य गुरु के पास आतुर भाव से जाकर शरणागत होना चाहिए।[५] ऐसा करने से साधक को शान्तभाव तथा सामरस्य की अनुभूति होती है। मन्त्र-जप से वह मोक्ष प्राप्ति की शक्ति का आनन्द प्राप्त कर लेता है। सर्वप्रथम यह ज्ञान के रूप में प्रादुर्भूत होता है और अन्त में सर्वोपमानरहित, इन्द्रियों से न ग्रहण करने योग्य बाह्यानुभूति के रूप में परिणत हो जाता है।[६] ब्रह्मज्ञान के दो उपायों में योगसाधना दुरूह तथा दुःसाध्य है किन्तु, मन्त्राभ्यास सुगम तथा सुबोध मार्ग है।[७]

षष्ठ पटल भी नारद तथा श्रीभगवान् के प्रश्नोत्तर के रूप में निरूपित किया गया है। इसे 'मुख्यमन्त्रोद्धार' नाम से अभिहित किया गया है। नारद ने मन के चंचल स्थिति के नियन्त्रण के विषय में प्रश्न किया है।[८] श्रीभगवान् ने उत्तर में यह कहा है कि मोक्ष की प्राप्ति मन्त्र से होती है अतः, सर्वप्रथम साधक को शुद्ध, समतल भूमि को गोमय से लिप्त करना चाहिए। इसके अनन्तर,

१. ज.सं.प. ४, श्लो. १२७-१३०.
२. वही, प. ५, श्लो. २.
३. जयाख्यसंहिता, ५/१४.
४. तत्रैव, ५/३१-३६.
५. वही, श्लो. ८.
६. वही, श्लो. ११-३०.
७. वही, श्लो. ३१-४७ ए.
८. वही, प. ६, श्लो. १.

पंचगव्य सेचनोपरान्त चन्दन, धूपादि से उसे सुगन्धित करना चाहिए। इसकी लम्बाई-चौड़ाई चौकोर एवं दो हाथ की होनी चाहिए। इसके ऊपर स्वच्छ बालू का विकीर्ण करना चाहिए और इस पर वर्णमाला के अक्षरों का अंकन किया जाना चाहिए।[1] मध्य में एक गोल चक्र बनाकर उसे आठ लकीर (अर) लगानी चाहिए। उसके मध्य में 'ओम्' होना चाहिए और इन प्रत्येक में सभी अक्षरों को लिख देना चाहिए।[2] अक्षरों में देवताओं के विभिन्न स्वरूपों की परिकल्पना करनी चाहिए। मण्डलाकार वृत्त में भगवान् को अपने समक्ष उपस्थित मानते हुए साधक को पूजा करनी चाहिए। भगवान् की अन्य आविर्भूतियाँ ह्रस्व अकार से परिलक्षित होती है। इसका आरम्भ ह्रस्व आकार से लेकर 'क्षकार' तक रहता है।[3]

इन अक्षरों के मेल से मन्त्र का निर्माण होता है जो भगवान् का साक्षात् तथा प्रमुख स्वरूप है। इसी मन्त्रमूर्त्ति रूप भगवान् को उपस्थित मानकर अर्घ्य, आचमनादि समर्पित किया जाता है। सम्पूर्ण क्रियायें मानसिक क्रियायें होती हैं।[4]

इसके अनन्तर मन्त्रों का प्रादुर्भाव, उनका मूल, उनकी शक्तियाँ तथा उनके प्रतीकात्मक सन्दर्भों का विशद वर्णन उल्लिखित है और यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया गया है कि, इन्हीं मन्त्रों की साधना से मोक्ष की प्राप्ति संभव है।[5]

सप्तम पटल का नाम 'उपकरणमन्त्रोद्धार' है। श्रीभगवान् ने महर्षि नारद से कहा है कि मन्त्रों के लक्षण जाने बिना मन्त्र पूजन से कोई लाभ नहीं होता।[6] आधारमन्त्रों के साथ-साथ निम्नलिखित मन्त्रों का उल्लेख किया गया है। प्रत्येक मन्त्र रहस्यवादी भाषा में उल्लिखित है। उनमें प्रत्येक मन्त्रों में यह उपदेश दिया गया है कि उनका ध्यान तथा जप कैसे करना चाहिए।

आधारशक्तिमन्त्र[7], कूर्ममन्त्र[8], अनन्तमन्त्र[9], धरामन्त्र[10], क्षीरोदमन्त्र[11],

---

१. ज.सं.प. ६, श्लो. ५-९ ए.
२. वही, श्लो. १०-३२ ए.
३. वही, श्लो. ३२ बी - ५८.
४. वही, श्लो. ५९-२२१ ए.
५. वही, श्लो. २२१ बी - २५०.
६. वही, प. ७, श्लो. १.
७. ज.सं.प. ७, श्लो. २-३.
८. वही, श्लो. ४-६.
९. वही, श्लोक. ७-९ ए.
१०. वही, श्लो. ९ बी-११.
११. वही, श्लो० १९ बी-२६.

पद्ममन्त्र[१], धर्माद्यासनमन्त्र[२], क्षत्रपालमन्त्र[३], श्यदीनां पद्मनिध्यन्तानां मन्त्राः[४], गणेशमन्त्र[५], वागीश्वरीमन्त्र[६], गुरुमन्त्र[७], पितृमन्त्राः[८], पूर्वसिद्धमन्त्र[९], लोकेशमन्त्राः[१०], वज्रद्यायुद्धमन्त्र[११], विष्वक्सेनमन्त्र[१२], औपचारिकमन्त्र[१३], आवाहने विनियोक्तव्य मन्त्र[१४], पाद्याद्येषूपचारेषु विनियोज्यो मन्त्र[१५], विष्णुगायत्री[१६], प्रसादने विनियोज्यो मन्त्रः[१७], विसर्जने विनियोक्तव्यो मन्त्रों[१८] का निरूपण है।

अष्टम पटल का नाम 'मुद्राबन्धन' है। श्रीभगवान् ने मन्त्रों के ही क्रम से मुद्राकोशों का निरूपण किया है। ये मुद्रायें जप में सहायिका होती हैं तथा ये हस्तादि विभिन्न अवयवों के द्वारा निर्मित होती हैं। इस पटल में अट्ठावन मुद्राओं का उल्लेख है। प्रधानतया इनका सम्बन्ध मन्त्रों से ही जोड़ा गया है तथा एक मन्त्र का प्रयोग कितना प्रभाव डालता है? इसका भी निरूपण है।[१९] मुद्रा का विस्तृत स्वरूप आगे देखा जा सकता है।

नौवें पटल का नाम 'स्नानविधि' है। अभिषिक्त होकर ही भक्त होम तथा याग का अधिकारी होता है।[२०] स्नान दो प्रकार का होता है- सामान्य विधि स्नान तथा विशेषविधि स्नान। 'सामान्य विधि स्नान' को लौकिक स्नान कहते

---

१. वही, श्लो. १४-१९ ए.
२. वही, श्लो. १२-१३.
३. वही, श्लो. २७-२८.
४. वही, श्लो. ३०-३४.
५. वही, श्लो. ३९-४१.
६. वही, श्लो. ४८-५३.
७. वही, श्लो. ५९-६२.
८. वही, श्लो. ६३-६४.
९. वही, श्लो. ६५-६६.
१०. वही, श्लो. ६७-७७.
११. वही, श्लो. ७८-८६.
१२. वही, श्लो. ८७-९१ ए.
१३. वही, श्लो. ९१ बी - ९२ ए.
१४. वही, श्लो. ९२ बी - १०१ ए.
१५. वही, श्लो. १०१ बी-१०३.
१६. वही, श्लो. १०४-१०६.
१७. वही, श्लो. १०७-१०९.
१८. वही, श्लो. ११०-१२४.
१९. "हिंसकानां विघाताय सर्वविघ्नोपशान्तये।
सर्वकार्यार्थसिध्यर्थं मुद्राकोश इहोदितः।।" - ज.सं.प. ८, श्लो. ५.
२०. ज.सं.प. ९, श्लो. १.

हैं तथा विशिष्ट विधि स्नान को मन्त्र संस्कार कहते हैं।[1] सामान्यविधि स्नान के पूर्व शौचादि की क्रियाओं का सम्यक् पालन आवश्यक है। सामान्यविधि स्नान से शरीर शुद्धि होती है। यह स्नान जल से किया जाता है।[2] विशेषविधि स्नान मन्त्रस्नान कहलाता है। इसमें मुद्राओं का भी समावेश होता है। इस प्रकार के स्नान से आध्यात्मिक तथा मानसिक शुद्धि होती है जो वाह्यस्नान से नहीं होती। इनमें पवित्रधारणा, मूलमन्त्र का विनियोग, तीर्थ तथा प्रसिद्ध देवनदियों की परिकल्पना की जाती है।[3] इस प्रकार के स्नान के बाद साधक ध्यान, न्यास तथा तर्पण आदि करने के पश्चात् मन्त्र जप प्रारम्भ करता है। ये सभी स्नान प्रायः जल से किये जाते हैं। जल के अभाव में केवल मन्त्रस्नान भी विहित है। मन्त्रस्नान की अवस्था में हस्तपादादि प्रक्षालनानन्तर साधक आचमन करता है। इसके पश्चात् मूलमन्त्र का जप प्रारम्भ करता है।[4] संहिता का मानना है कि मन्त्रस्नान जलस्नान की अपेक्षा सहस्रगुना ज्यादा लाभदायक है। यह अवस्था तब होती है जब जल अभिमन्त्रित न हो।[5] एक तीसरे प्रकार का स्नान होता है जो इन उपर्युक्त दोनों विधियों से उत्कृष्ट है तथा किन्हीं विशेष परिस्थितियों में प्रयुक्त होता है। इस प्रकार के स्नान में साधक ध्यानावस्थित होकर मन्त्रमूर्ति भगवान् श्रीविष्णु का स्मरण करता है और उनके चरण कमलों से गिरती हुई गंगधारा को अपने शिर से ब्रह्मरन्ध्र द्वारा पूरे शरीर में प्रविष्ट होकर बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों प्रकार के मलों का अपनयन करता है।[6]

दसवाँ पटल 'समाधिस्थापन' नाम से अभिहित है। श्रीभगवान् का कथन है कि, स्नान के अनन्तर अपने बैठने योग्य शुद्ध तथा निर्जन स्थान का चुनाव करना चाहिए। इसके बाद, मौन होकर गुरु द्वारा प्रदत्त मन्त्र के माध्यम से अपने हृदय में स्थित भगवान् विष्णु का स्मरण करना चाहिए। इसके पश्चात्, वाह्य उपकरणों से स्थान, आसन तथा अन्य पदार्थों की शुद्धि करनी चाहिए।[7] अपने जागतिक स्वरूपों पर ध्यान लगाते हुए साधक को पंचमहाभूतों पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए और विशेष रूप से यह अवधारणा करनी चाहिए कि, महाभूतों से साधक का अभेद सम्बन्ध है। यही क्रिया पंचमहाभूतों के सूक्ष्म स्वरूपों से

१. वही, श्लो. २-३ ए.
२. वही, श्लो. ३ बी - १५ ए.
३. वही, श्लो. १५ बी - ४४ ए.
४. वही, श्लो. ४४ बी - ६०.
५. वही, श्लो. ६१-६५.
६. वही, श्लो. ६६-७२ ए.
७. ज.सं.व. १०, श्लो. १-२२.

करनी चाहिए।[1] ध्यान की प्रत्येक अवस्थाओं से ऊपर उठते हुए तथा उनमें सफलता प्राप्त करते हुए जीव कल्पनालोक से विभिन्न स्तरों पर ऊपर उठता हुआ कैवल्य की स्थिति प्राप्त कर लेता है।[2] इसके अनन्तर, उसका तेजोमय शरीर यह अनुभव करने लगता है कि वह शक्ति सम्पन्न है तथा सार्वभौम सत्ता की उपस्थिति हो गयी है। यह सत्ता आत्ममन्त्र के जप से आहूत मानी जाती है।[3]

ग्यारहवें पटल को 'मन्त्रन्यासविधिपटल' कहते हैं। यदि साधक मन्त्रजप की अवस्था में न्यासध्यान का अभ्यास करता है तो उसे महान् आध्यात्मिक तथा लौकिक उपहार प्राप्त होते हैं।[4] इस पटल में क्रमशः न्यासविधि का उपदेश किया गया है जिससे साधक अपने में उच्च से उच्चतर शक्तियों का अनुभव प्राप्त करता जाय।[5] न्यास का अभ्यास छिपाकर तथा एकान्त में करना चाहिए।[6] देहन्यास के पूर्व हस्तन्यास का विशद विवेचन करते हुए कहा गया है कि मूलमन्त्र का अङ्गुष्ठ में, नेत्रमन्त्र का हस्त के अग्रभाग में, नृसिंहमन्त्र का दक्षिणहस्त में, कपिलमन्त्र का वामहस्त में, न्यास करना चाहिए। इसी भाँति वाराह, कौस्तुभ, पद्म, शङ्ख, चक्र, गदा, गरुड, पाश, अङ्कुश आदि मन्त्रों का न्यास भी दोनों हाथों की विभिन्न अङ्गुलियों एवं भागों में करना चाहिए।[7] सप्ताक्षर तथा उपाङ्गमन्त्रों का न्यास भी इसी भाँति करना विहित है। देह या अङ्गन्यास के सम्बन्ध में यह निर्देश है कि सर्वाग्र सिर से पैर पर्यन्त मूलमन्त्र का व्यापक न्यास करके मूर्तिमन्त्र से सम्पूर्ण अङ्गन्यास करना चाहिए।[8] तथा इसके साथ मूलमन्त्र का जप भी विहित है। इस पटल में सत्ताइस न्यासों का उल्लेख है। न्यास के साथ ही साथ साधक को मुद्रा भी प्रदर्शित करना चाहिए और साथ ही ध्यान का अभ्यास भी करना चाहिए।[9]

बारहवें पटल का नाम 'मानसयागाख्यान' है। श्रीभगवान् का कथन है कि उपर्युक्त वर्णित प्रक्रियाओं के अभ्यास के अनन्तर साधक में एक विशेष प्रकार की चेतना का उदय होता है। वह निरन्तर अपने शरीर में भगवान् की उपस्थिति का बोध करता है और शान्त भाव से उनकी मानस पूजा करता है।

मानसयाग में हृत् पद्म पर भगवान् के जिस आसन की भावना की जाती है उसमें दिशा-देश के अनुसार अग्निकोण में धर्म की, नैर्ऋत्य कोण में ज्ञान की

१. ज.सं.प. १०, श्लो. २३-५७
२. वही, श्लो. ५८-७७.
३. वही, श्लो. ७८-१०३.
४. वही, प. ११, श्लो. १-३.
५. वही, श्लो. ४-७ ए.
६. वही, श्लो. ७-८.
७. जयाख्यसंहिता, ११/१-१६.
८. जयाख्यसंहिता, ११/१७-१८.
९. ज.सं.प. ११, श्लो. ७ बी-९.
१०. वही, श्लो. ३८ बी - ४४ ए.

वायव्य कोण में वैराग्य तथा ईशान कोण में ऐश्वर्य की कल्पना करना निर्दिष्ट है।[1] उक्त चार पीठों में पुरुषाकार, परमोत्साहित समन्वित पूर्वादि कोणों के क्रमानुसार अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य- इन चारों की बन्धूक कुसुम के समान उज्ज्वल आकृति की भावना करते हुए ईशान के मध्य में अधर्म की पूर्व तथा अग्नि के मध्य अज्ञान की, दक्षिण तथा पश्चिम के मध्य में अवैराग्य की, वायव्य और पश्चिम के मध्य में अनैश्वर्य की भावना करनी चाहिए।[2] इसी भाँति ईशान तथा पूर्व दिशा के मध्य में ऋग्वेद, दक्षिण तथा अग्निकोण के मध्य यजुर्वेद, दक्षिण-पश्चिम के मध्य सामवेद, पश्चिम तथा उत्तर के मध्य अथर्ववेद की भावना का विधान करना कहा गया है।[3] चतुर्युग- सतयुग, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग- की भावना आग्नेयादि कोणों के मध्य करते हुए वृष नराकृति कृष्ण की कल्पना करना निर्दिष्ट है।[4]

इसी भाँति नाभि देश से आरम्भ कर हृदयपर्यन्त क्षेत्र में श्वेतपद्म, सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि की भावना करते हुए पृष्ठभाग में पक्षिराज गरुड तथा वाराह की भावना मन्त्र द्वारा विहित है।[5] आधारशक्ति से शुरु कर परम पद पर्यन्त पञ्चमहाभूतों की आधार शक्ति में, तन्मात्राओं की कालाग्नि में, वाणी की अनन्त में, श्रोत्रादिकों की भूमि में, मन की क्षीर सागर में, अहंकार की अनन्तकमल दल में, सोलह धर्मादिकों- धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य की भावना बुद्धि में करना अभिहित है।[6]

भक्त इस प्रकार की पूजा में अपने ही शरीर को आधार बनाकर मूलाधार से लेकर सहस्रदल पर्यन्त अनन्त शक्तियों का क्रमशः आधान करता है। वह यह अनुभव करता है कि, समस्त भूमण्डल भगवान् विष्णु का कमलासन है, उसमें विश्व के समस्त सूक्ष्म पदार्थ समाहित हैं। स्वयं को इनके मध्य स्थित मानता हुआ यह परिकल्पना करता है कि, भगवान् विष्णु स्वतः ही अपने मन्त्रात्मक मूर्ति में वैकुण्ठ से अवतरित हो गये हैं और वहाँ लक्ष्मी तथा अन्य सेविकाओं के साथ उनकी पूजा की जायेगी।[7] इस प्रकार की पूजा को किस प्रकार स्थिर रखा जाय? इसके लिए यह निर्देश दिया गया है कि मुद्रा तथा मन्त्रों का निरन्तर अभ्यास किया जाना चाहिए।[8] इसके पश्चात्, मानस याग

११. जयाख्यसंहिता, १२/४-५.
१. तत्रैव, १२/७-९.
२. तत्रैव, १२/९-११.
३. तत्रैव, १२/१२.
४. तत्रैव, १२/१३-१५.
५. तत्रैव, १२/१६-१८.
६. तत्रैव, १२/१-५०.
७. तत्रैव, श्लो. ५१-५८.

की विभिन्न प्रक्रियाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन दिया गया है।[1] ये सभी पूजायें मनः कल्पना द्वारा भक्त के हृदय में की जाती है।

इसके पश्चात् विशेष पूजन का विधान है। इस प्रकार की पूजा में भगवान् विष्णु की उपस्थिति का अनुभव करते हुए उनकी मानसिक भावना पूजा का विधान है।[2]

इसके अनन्तर, इस पटल का उपसंहार 'मानसहोम' से किया गया है। 'मानसहोम तथा भगवत्प्रार्थना' भी मानसिक पूजा का एक अंग है।[3]

त्रयोदशपटल का नाम 'बाह्ययागाख्यान' है। उपर्युक्त प्रकार की पूजा पूर्ण होने के पश्चात् साधक बाह्ययाग की ओर प्रवृत्त होता है।[4] यद्यपि महर्षि नारद ने यह आपत्ति की है कि, जब मानसयाग हो चुका तो बाह्ययाग की क्या आवश्यकता है? उत्तर में यह निर्दिष्ट है कि बहुत जन्मों से अर्जित वासना इतनी दृढ होती है कि उसके द्वारा अन्तःकरण मलिन हो जाता है। फलतः चित्त मानसयागार्थ एकाग्र नहीं हो पाता इसलिए अन्तःकरण की शुद्धि, चैतन्य हेतु तथा बाह्य वासना को नष्ट करने के लिए बाह्ययाग की आवश्यकता होती है। बाह्ययाग का वर्णन इस पटल में अत्यन्त विस्तार से किया गया है। सर्वप्रथम मण्डल, विन्यास की प्रक्रिया की जाती है।[6] अर्घ्यदान में प्रयुक्त होने वाली सामग्री एकत्रित की जाती है और उसे पूर्णतया तैयार किया जाता है।[7] भगवान् विष्णु का मन्त्रों से आवाहन किया जाता है। यह आवाहन उसी मण्डल में होता है तथा उसी के अनुरूप ध्यान भी किया जाता है[8] इसके पश्चात् पुष्प तथा नैवेद्यादि भगवान् तथा उनके पार्षदों को समर्पित किये जाते हैं।[9] इन पूजाओं के लिए उपयुक्त पात्रों की भी आवश्यकता पड़ती है यथा- धूपपात्र।[10] इसमें घण्टा भी प्रयोग में लाया जाता है। इन सारी प्रक्रियाओं के लिए समुचित विधान तथा उसका प्रयोग भी आवश्यक है। यह भी जानना आवश्यक है कि, किस अवस्था में किन-किन प्रक्रियाओं में किन-किन मन्त्रों का प्रयोग किया जाना चाहिए यथा मधुपर्कादि। इसके पश्चात्, भगवान् विष्णु की स्तुति की जाती है तथा बाह्ययाग के परिसमापन का क्रम किया जाता है।[11]

---

१. ज.सं.प. १२, श्लो. ५९-१०७.
२. वही, श्लो. १०८-११४.
३. वही, श्लो. ११५-१३७ ए.
४. वही, प. १३, श्लो. १-४ ए.
५. वही, श्लो. ४ बी. - १० ए.
६. वही, श्लो. ११-६३ ए.
७. वही, श्लो. ६३ बी - ७५.
८. वही, श्लो. ७६-१६९ ए.
९. वही, श्लो. १६९ बी - १८५ ए.
१०. वही, श्लो. १८५-१९६.
११. वही, प. १३, श्लो. १९७-२३६.

चतुर्दशपटल का नाम 'जपविधान' है। नारद के प्रश्नों से इस पटल का प्रारम्भ होता है जिसमें उन्होंने श्रीभगवान् से जपयज्ञ के विषय में प्रश्न किया है। इसके उत्तर में श्री भगवान् ने यह बताया है कि, कुम्भ अथवा मण्डलादि में भगवान् विष्णु की पूजा द्वारा उन्हें आहुत तथा सन्तुष्ट करके उन्हें मन्त्रजप के द्वारा सन्तुष्ट करना चाहिए। जप तीन प्रकार का होता है- अक्षमाला द्वारा वाचिक, उपाशुं तथा मानसिक- इन प्रत्येक का क्रमशः अलग-अलग महत्त्व है। उसका निर्धारण साधक की प्रवृत्ति के आधार पर किया जाता है।[१] अक्षमाला के स्वरूप का वर्णन करते हुए उसे धातृफल अथवा बदरी (बेर) फल के आकार का बताया गया है। इसी में विभिन्न प्रकार के सूत्रों, मणियों तथा मेरु आदि की कल्पना की गयी है। इतना ही नहीं, इसके विभिन्न प्रकार के प्रयोगों तथा अक्षसूत्र मुद्राओं का भी निरूपण किया गया है। जपसंख्या का निर्धारण तथा मेरुलंघन का भी निर्धारण किया गया है।[२] इस निरूपण के उपरान्त कौन-सा मन्त्र किस अधिकारी को जपना चाहिए? तथा जप का काल क्या होना चाहिए? आदि बातों का उल्लेख करते हुए निरूपण किया गया है कि, प्राचीन अक्षसूत्र को त्यागकर उसका पुनर्नवीनीकरण करना चाहिए।[३]

पंचदशपटल का नाम 'अग्निकार्यविधान' है। जपकार्य के पूर्ण होने के पश्चात् श्रीभगवान् के उपदेशानुसार पुष्प, धूप, गन्ध तथा अर्घ्य से भगवान् की पूजा की जाती है। इसके पश्चात्, अग्नि के मध्य प्रभु का संतर्पण किया जाता है।[४]

अग्न्याध्यान के लिए कुण्ड निर्माण किया जाता है। प्रतिमा के उत्तर दिशा में इसका (कुण्ड का) निर्माण किया जाना चाहिए। कुण्ड निर्माण के साथ ही विभिन्न दिशाओं में निर्मित कुण्ड फलों का भी निरूपण किया गया है। होम संस्कार के अनुसार कुण्डों का माप (लम्बाई, चौड़ाई, गहराई) आदि तथा उसका प्रतीकात्मक स्वरूप विस्तार से वर्णित किया गया है।[५] कुण्डनिर्माणानन्तर मन्त्रविधि से उनमें पवित्र पावक का आधान किया जाना चाहिए। अनन्तर, अग्नि तथा उससे सम्बन्धित पात्र पवित्र किये जाने चाहिए। इसमें हवन में प्रयुक्त होने वाले विभिन्न पात्रों का नाम तथा उसका संक्षिप्त स्वरूप बताया गया है।[६]

---

१. ज.सं.प. १४, श्लो. १-५ ए.
२. वही, श्लो. ५ बी - ७६ ए.
३. वही, श्लो. ७६ बी - ९५ ए.
४. ज.सं.प. १५, श्लो. १-२४.
५. वही, श्लो. २ बी - ५८ ए.
६. वही, श्लो. ५८ बी - १६१ ए.

इसके पश्चात् होम कार्य का विधान करना चाहिए। इसके अन्तर्गत होम में प्रयुक्त द्रव्य, उनकी मात्रा तथा उनके गुणों का निरूपण किया गया है। इसी स्थल पर प्रयुक्त होने वाले मन्त्र तथा होम से प्रादुर्भूत होने वाले लाभों का विशद वर्णन किया गया है।[१] नारायण तथा लक्ष्मी को उद्देश्य करके ये होम कार्य किये जाते हैं अतः, प्रत्येक के लिए कितने होम विहित हैं? किस मन्त्र का जप आवश्यक है? आदि बातों का सम्यक् निरूपण है। होम क्रिया से निकलने वाले विभिन्न प्रकार के अर्चियों (लौ) के आधार पर होने वाली उपलब्धियों की चर्चा की गयी है। कुछ विशेष प्रकार की अग्नि ज्वालाओं में हवन का निषेध किया गया है[२] किन्तु, यह भी प्रतिपादन किया गया है कि शुभ मुहूर्त्त में किए जाने वाले हवन सदा सिद्धिदायक ही होते हैं।[३]

हवन के पूर्ण हो जाने के पश्चात्, उत्तरांग का विधान निर्दिष्ट है जिसके अन्तर्गत मुद्रा प्रदर्शन, प्रार्थना तथा विसर्जनादि का निरूपण है। होम संस्कार के अवसर पर आहूत तथा उपस्थित देवताओं की स्मृति बनी रहे इस हेतु भस्म से तिलक करना चाहिए और अपने विचार में भगवान् का सदा स्मरण रखना चाहिए। इन सभी उपदेशों को किसी सुयोग्य व्यक्ति के समक्ष ही प्रकट करना चाहिए।[४]

सोलहवाँ पटल नारद के प्रश्न से प्रारम्भ होता है जिसमें नारद की दीक्षा विषयक जिज्ञासा का श्रीभगवान् ने समाधान किया है। नारद का प्रश्न है कि, व्रती, युवा, साधक, आचार्य, स्त्री तथा बच्चे आदि को किस प्रकार दीक्षा दी जानी चाहिए? कृपया इसका निरूपण करें?[५] श्रीभगवान् ने नारद के प्रश्न पर शिष्य दीक्षा विधान का सम्यक् निरूपण किया है और उसमें प्रयुक्त होने वाले मन्त्रों का निर्देश दिया है।[६] इसके अनन्तर, शिष्य के गुणों तथा लक्षण का निरूपण है।[७] पुनः श्रीभगवान् ने संक्षेप में सामान्या, मध्यमा तथा अतिविस्तरा नामक तीन प्रकार की दीक्षाओं का उल्लेख किया है।[८]

---

१. ज.सं.प. १५, श्लो. १६१ बी - १९७.
२. वही, श्लो. १९८-२१५ ए.
३. वही, श्लो. २१४ बी - २२२.
४. ज.सं.प. १५, श्लो. २२३-२६४.
५. ज.सं.प. १६, श्लो. १-२.
६. वही, श्लो. ३-५०.
७. वही, श्लो. ५१-५३.
८. वही, श्लो. ५४-६१ ए.

किसी भी प्रकार के शिष्य को दीक्षा में विशिष्ट मन्त्रों द्वारा तत्त्वों का आवाहन किया जाता है।[1] शिष्य-दीक्षा के लिए शुभ मुहूर्त का निर्धारण किया जाता है जिनमें द्वादशी तथा दशमी को श्रेष्ठ माना जाता है। स्नान तथा आचमन के अनन्तर अन्य समुचित संस्कारों से सुसंस्कृत होकर पुष्प, अर्घ्य आदि का संकलन किया जाता है। कलशादि की स्थापना के पश्चात्, सर्वांग संस्पर्श तथा शिष्य में मन्त्रमय शरीर का आधान कर त्रिमूर्ति भगवान् के निकट प्रार्थना की जाती है।[2]

शुद्धवस्त्र के साथ शिष्य का नेत्रमन्त्र के जप सहित नेत्र बन्धन कर दिया जाता है। इसके बाद, शिष्य को मण्डल के अन्तर्गत प्रवेश कराया जाता है जहाँ वह भगवान् की उपस्थिति में वह पुष्पांजलि समर्पित करता है तथा उसका नामकरण किया जाता है।[3] इसके पश्चात् मायासूत्र का विधान किया जाता है जो प्रतीक रूप मे जागतिक जीवन का निरूपण करता है जिसमें तत्त्वों की परिकल्पना की जाती है। इसके पश्चात्, वह होम, बलि तथा अनेक प्रकार के संस्कारों में युक्त किया जाता है या सहायक होता है। ये कार्य शुभाशुभ के परिज्ञान तथा अशुभ की शान्ति के लिए किए जाते हैं।[4]

शिष्य दीक्षा की यह क्रिया दो या तीन दिन चलती है। अतः प्रत्येक रात कुछ न कुछ संस्कार किये जाते हैं। प्रथम रात्रि के संस्कार के पश्चात् रात्रि में देखे गये स्वप्नों को अप्रभावी करने के लिए कुछ संस्कारों का विधान किया जाता है। इसके पश्चात्, पुनः दीक्षा संस्कार बन्द नेत्र तथा जुड़े हाथों से प्रारम्भ किया जाता है।

कुछ संस्कारों के पूर्ण हो जाने के पश्चात्, जिनका सम्पादन गुरु तथा शिष्य दोनों मिलकर करते हैं उपदेश का कार्य होता है।[5] जब इस प्रकार का संस्कार पूर्ण हो जाता है तो शिष्य स्वयं ही कुम्भस्थ देवता का जिसका आवाहन पहले ही किया जा चुका है, पूजन करता है। तत्पश्चात्, वह गुरु का पूजन भी उसी श्रद्धा भक्ति से करता है।[6]

---

१. ज.सं.प. १६, श्लो. ६१ बी - ८८.
२. वही, श्लो. ८९-१२४ ए.
३. वही, श्लो. १२४ बी - १२७ ए.
४. वही, श्लो. १२७ बी - १९५.
५. वही, श्लो. १९६-३३६ ए.
६. वही, श्लो. ३३६ बी - ३४२ ए.

दीक्षा संस्कार के पूर्ण होने के अवसर पर ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता है। द्वितीय रात्रि जागरण में बितायी जाती है, अवभृथ स्नान कराया जाता है, तत्पश्चात्, सोमपान कराया जाता है।[१] इसके पश्चात्, तीसरे दिन प्रातः काल गुरु की विधिवत् पूजा की जाती है।[२] इन सभी कार्यों के सम्पादन करने से गुरु तथा शिष्य दोनों को महान् पुण्य की प्राप्ति होती है।[३]

सत्रहवाँ पटल शिष्य के भेदों का निरूपण करता है। नारद के प्रश्न के साथ इस पटल का प्रारम्भ होता है जिसमें चार प्रकार के शिष्यों का उल्लेख है।[४] प्रथम समयी का लक्षण है कि जिसमें मन्त्र के प्रति परम भक्ति हो, जितेन्द्रिय हो, सत्य वक्ता हो, दृढव्रत हो, पवित्र हो आदि।[५]

दूसरे प्रकार का शिष्य 'पुत्रक' के नाम से प्रख्यात है। पुत्रक के लक्षण का निरूपण करते हुए यह बताया गया है कि, जिसने मण्डल पूजा समाप्त करके विष्णु की पूजा प्रारम्भ कर दी हो।[६]

तीसरे प्रकार के शिष्य को 'साधक' कहते हैं। 'साधक' वह शिष्य है जो गुरु सुश्रूषा में रत हो, दृढ श्रद्धा वाला हो तथा मन्त्र जप आदि द्वारा अभीष्ट सिद्धि को प्राप्त करता हो। इसी में साधक के दैनिक आचार का भी सम्यक् निरूपण किया गया है।[७]

चौथे प्रकार का शिष्य 'आचार्य' नाम से अभिहित है। यह वह शिष्य है जिसे गुरु यह जान लेने के पश्चात् कि इसने मन्त्र सिद्धि प्राप्त कर ली है, स्वयं उसका अभिषेकादि का सम्पादन करता है।[८]

अष्टादश पटल में अभिषेक विधि का निरूपण है। अभिषेक संस्कार कराने वाला विभिन्न प्रकार के पुरुषों का निरूपण विकल्प क्रम से किया गया है। विकल्प क्रम का अभिप्राय है सर्वप्रथम ब्राह्मण, उसके न मिलने पर क्षत्रियादि क्रम से अभिषेक कराने का अधिकार प्राप्त है। सामान्य प्रक्रिया के निरूपण के पूर्व विभिन्न प्रकार के शिष्यों में से प्रत्येक को अपने-अपने वर्ग के अनुसार

---

१. ज.सं.प. १६, श्लो. ३४२ बी - ३५९.
२. वही, श्लो. ३६०-३६७.
३. वही, श्लो. ३६८-३६९.
४. वही, पटल १७, श्लो. १-२.
५. वही, श्लो. ३-११.
६. वही, श्लो. १२-१६.
७. वही, श्लो. १७-४५.
८. वही, श्लो. ४६-६२.

सम्मान तथा व्यवहार प्रदान करने के पश्चात् उन्हें उसी प्रकार से अभिषिक्त किया जाता है जिस प्रकार से सेनानायक, महामात्य, राजकुमार तथा राजा का अभिषेक किया जाता है।[२]

विभिन्न प्रकार की प्रक्रियाओं के वर्णनोपरान्त 'आचार्य' लक्षण वाले शिष्य के दीक्षा का विधान किया गया है। अन्य शिष्यों के अभिषेक से इसका अन्तर यह है कि इसमें घड़ों की संख्या में भेद होता है।[३]

जिस शिष्य को आचार्य लक्षण प्रदान किया जाता है उसे अपने व्यवहार का सम्यक् ज्ञान कराया जाता है। यह कार्य उपदेश द्वारा किया जाता है।[४] इस विशेष उपदेश के समापन के अवसर पर आचार्य लक्षण वाले शिष्य को 'विष्णुहस्त' प्रदान किया जाता है। तत्पश्चात्, वह अपने गुरु का पादोदक पान करता है।[५]

पटल का समापन विभिन्न प्रकार के शिष्यों के विशेष अभिषेक प्रक्रिया, तथा इस प्रक्रिया से प्राप्त होने वाले श्रेयादि के फल प्राप्ति के साथ हो जाता है।[६]

उन्नीसवें पटल का नाम 'मन्त्रसिद्धि' पटल है। अभिषेक की पूर्णता के पश्चात् शिष्य अपने गुरु से दीक्षा मन्त्र के अभ्यास की अनुमति लेता है। बारह वर्ष तक अनवरत तथा धैर्यपूर्वक प्रयत्न करने के पश्चात् उसे मन्त्र जप में सिद्धि प्राप्त होती है।[७] नारद ने भी भगवान् से प्रश्न किया है कि, दीक्षित शिष्य को जप में सफलता प्राप्त हो रही है, इसका परिज्ञान कैसे होता है? श्रीभगवान् सचेत करते हैं कि, प्रथम तीन वर्षों में निश्चित रूप से मन्त्र जप में अनेक प्रकार की कठिनाईयाँ उपस्थित होती हैं किन्तु, यदि साधक इन तीन वर्ष के काल को पूर्ण कर लेता है तो उसे मंत्र साफल्य के स्पष्ट चिह्न दिखायी पड़ने लगते हैं। उदाहरण के लिए, शिष्य इस प्रत्याशा में जप करता रहेगा कि सातवें वर्ष की समाप्ति के बाद स्वयं राजा उसके समक्ष उपस्थित होगा। अनवरत अभ्यास के फलस्वरूप दश वर्षों में वह आश्चर्यजनक कार्य करने व सुनने के सक्षम हो

---

१. ज.सं.प. १८, श्लो. १-१९.
२. वही, श्लो. २२-३५.
३. वही, श्लो. ३६-६९ ए.
४. वही, श्लो. ६९ बी - ८२ ए.
५. वही, श्लो. ८२ बी - ८६ ए.
६. वही, श्लो. ८६ बी- ९३ ए.
७. ज.सं.प. १९, श्लो. १-२.

जायेगा।[1] इस चेतावनी के साथ इस पटल का समापन होता है कि, साधक को इन चिह्नों का प्रकाशन नहीं करना चाहिए।[2]

बीसवें पटल का नाम 'प्रतिष्ठाविधान' है जो नारद के प्रश्न से प्रारम्भ होता है। मन्त्र जप के अभ्यास के लिए बिम्ब निरूपण की प्रक्रिया बतायी गयी है। इससे पूजा में सहायता प्राप्त होती है अतः, नारद इन विधानों को जानना चाहते हैं।[3] उन्होंने बताया है कि, मूर्तियों के निर्माण में विभिन्न प्रकार के प्रयोग किये जाते हैं जिनमें चित्रनिर्माण, तूलिकाप्रयोग आदि का विस्तृत विधान है किन्तु, प्रधानता आकार-प्रकार के लम्बाई-चौड़ाई की है। ये निर्धारित माप कभी भी उपेक्षित नहीं किये जाने चाहिए।[4] यद्यपि मूर्ति निर्माण के अनेक विकल्प हैं जैसे- स्वर्ण, पत्थर, चांदी आदि[5] किन्तु, इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि, यदि मूर्ति को घर में रखना हो तो सामग्री चयन में विशेष अवधानता रखनी चाहिए।[6]

पीठ-निर्माण, नींव तथा मन्दिर का आधार अत्यन्त सावधानी से बनाया जाना चाहिए।[7] मन्दिर निर्माण की कला पर विशेष विचार किया गया है। उनके आकार, उनके निर्माण की विधि, आधार शिला, द्वार, मण्डप तथा कौस्तुभ आदि विभिन्न प्रकार के मन्दिरों का स्वरूप विस्तृत रूप से विवेचित है।[8]

मूर्त्ति निर्माण के पश्चात् पूजा प्रारम्भ करने के पूर्व मूर्त्ति की प्रतिष्ठा का विधान है। इसके लिए मुहूर्त्त का निर्धारण तथा प्रतिष्ठा संस्कार में प्रयोग होने वाले विभिन्न प्रकार के सामग्रियों का चयन तथा एकत्रीकरण विशद रूप से वर्णित है।[9] प्रतिष्ठा संस्कार के अन्तर्गत स्नपन क्रिया, नेत्रोन्मिलन क्रिया, कौस्तुभमोचन क्रिया तथा मन्त्र न्यासादि की क्रिया का निरूपण तब तक विशेष रूप से किया गया है जब तक मूर्त्ति की प्रथम पूजा प्रारम्भ नहीं हो जाती।[10]

---

१. ज.सं.प. १९, श्लो. १३-३३
२. वही, श्लो. ३४-३६ ए.
३. वही, पटल २०, श्लो. १-२.
४. वही, श्लो. ३-६६ ए.
५. वही, श्लो. ६६ बी - ६७.
६. ज.सं.प. २०, श्लो. ६८-६९.
७. वही, श्लो. ७०-९९.
८. वही, श्लो. १००-१३१ ए.
९. वही, श्लो. १३१ बी - १३८ ए.
१०. वही, श्लो. १३८ बी - १८७.

पीठ निर्माण के पश्चात् मूर्त्ति को ग्राम से होकर ले जाया जाता है तथा उसका शयनाधिवास कराया जाता है। उसके अनन्तर, मूर्त्ति को विभिन्न प्रकार के सम्मानों से सम्मानित किया जाता है। तदनन्तर, आचार्य उसकी प्राण प्रतिष्ठा करता है।[1] इसके पश्चात्, ब्राह्मणों की उपस्थिति में मूर्त्ति की पूजा की जाती है, रत्नन्यास होता है, उसके ऊपर पीठ की स्थापना की जाती है तथा मूर्त्ति को उस पर जड़ दिया जाता है।[2]

इतनी क्रिया पूर्ण हो जाने के पश्चात् मूर्त्ति में भगवता का आधान होता है तथा वे सभी मन्त्रों से अभिमन्त्रित होते हैं और यह विहित हो जाता है कि अब से की जाने वाली पूजायें तथा प्रार्थनाएँ उसी की हो रही हैं।[3] पूर्णाहुति का संस्कार चार दिनों तक चलता है। इसके पश्चात् महोत्सव मनाया जाता है। कपड़े पर बनी या काष्ठ आदि की बनी मूर्त्तियों में भी प्रतिष्ठा का यही विधान है। कतिपय तकनीकी प्रक्रियायें छोड़ दी जाती हैं। जो मूर्तियाँ स्थापना के पश्चात् टूट जाती हैं उनके हीनांग पूर्ति आदि का भी सम्यक् निरूपण किया गया है। पटल का समापन विभिन्न मन्त्रों के प्रयोगों के विकल्प का निर्णय तथा प्रतिष्ठा में उनके प्रयुक्त होने का विवरण भी है, साथ ही, यह विधान किया गया है कि प्रतिष्ठित मूर्त्ति को युद्ध तथा प्राकृतिक आपदाओं से सुरक्षित रखने के लिए अत्यन्त सावधानी बरतनी चाहिए।[4]

इक्कीसवें पटल का नाम 'पवित्रविधान' है। नारद ने प्रश्न किया है कि, यदि साधक की जप अर्चन आदि क्रियायें लुप्त हो जाय तो क्या करना चाहिए? भगवान् ने उत्तर में यह कहा है कि, उसके लिए 'पवित्रारोपण' संस्कार करना चाहिए। उसके बाद उन्होंने यह व्याख्या की है कि, पवित्रारोपण प्रक्रिया में क्या-क्या किया जाना चाहिए? कैसे पवित्र सूत्र का निर्माण होगा, कैसे उसकी पूजा की जायेगी? और किस प्रकार भगवान् के विभिन्न स्थानों पर उसका समर्पण किया जायेगा?[6] भगवान् को प्रसन्न करने के लिए की जाने वाली प्रार्थनाओं के साथ ही साथ गुरु की पूजा, ब्राह्मणों को दान देना, मालाओं का उतारना, उनका वितरण तथा प्रसाद आदि का वितरण किया जाना चाहिए।[7]

---

१. ज.सं.प. २०, श्लो. १८८-२५१ ए.
२. वही, श्लो. २५१ बी - ३३०.
३. वही, श्लो. ३३१-३४२.
४. वही, श्लो. ३४३-३८६.
५. वही, पटल २१, श्लो. १-२.
६. वही, श्लो. ३-६८.
७. वही, श्लो. ६९-१०७.

यह सब कर लेने के पश्चात् साधक को तपश्चर्या व्रत धारण करना चाहिए जिससे वह पवित्रारोपण की प्रक्रिया को उपयुक्त सिद्ध कर सके। इस व्रत के अन्तर्गत मन्त्र जप का विधान है अतः, नारद ने भगवान् से मन्त्र के विषय में जिज्ञासा की है और श्रीभगवान् ने मन्त्र का उपदेश किया है, उसके उच्चारण तथा अन्य मन्त्रों के साथ उसके प्रयोग का विधान बताया है। पटल का समापन महामन्त्र की प्रशंसा से होता है।[१]

बाइसवें पटल का नाम "वैष्णवाचार" है। नारद यह जानना चाहते हैं कि, जो वैष्णव सन्यासी या यति हो जाते हैं उनके लक्षण क्या हैं?[२] श्रीभगवान् का कथन है कि भागवत धर्म में निष्ठा की समानता होते हुए भी वैष्णव सन्यासियों के विभिन्न प्रकार हैं। स्वाभाविक आधार पर भी पूर्व जन्म के किये गये कर्मों के अनुसार उनके स्वभाव का निरूपण किया जाता है। इनके भेद क्रमशः यति, एकान्ति, वैखानस, कर्मसात्वत, शिखी, आप्त, अनाप्त, आरम्भि तथा सम्प्रवर्ति हैं।[३] ये सभी बाह्य प्रतीकों तथा क्रियाओं से भिन्न प्रतीत होते हैं। सन्यासियों का एक दूसरा समूह भी है जिन्हें आध्यात्मिक आधार पर निश्चित किया गया प्रतीत होता है। वे हैं- योगी, जपनिष्ठ, तापस, शास्त्रज्ञ तथा शास्त्रधारक।[४] श्री भगवान् ने नारद से इन सभी प्रकार के सन्यासियों को सम्यक् सम्मान देने का अनुरोध किया है तथा यह निरूपित किया है कि इन सभी को याग तथा पूजा का अधिकार है। इनके दर्शन मात्र से ही पापक्षय की प्राप्ति हो जाती है।[५]

नारद ने दिन के पञ्चकाल सम्बन्धी जिज्ञासा की है जिस पर भगवान् ने उन्हें निम्नांकित पञ्चकाल बताया है- अभिगमन, इज्या, उपादान, स्वाध्याय तथा योग। नारद ने पुनः भगवान् के पूजा के विभिन्न अंगों के विषय में जिज्ञासा की है जिनका निम्नांकित रूप से श्री भगवान् ने क्रमशः निरूपण किया है- अभिगमन, भोग, पूजा, घृतदान तथा अन्यनैवेद्य (पशु भी - श्लोक ७७), सम्प्रदान और वह्निसंतर्पण, पितृयाग तथा प्राणाग्निहवन।[६]

तेईसवें पटल का नाम 'श्राद्धविधान' है। नारद के श्राद्ध विषयक प्रश्न से इस पटल का प्रारम्भ होता है। श्रीभगवान् का कथन है कि, दीक्षित तथा

१. ज.सं.प. २१, श्लो. १०८-२३२.
२. वही, प. २२, श्लो. १-२.
३. वही, श्लो. ३-३७.
४. वही, श्लो. ३८-५६.
५. वही, श्लो. ५७-६४ ए.
६. वही, श्लो. ६४ बी - ८०.

अदीक्षित सभी व्यक्तियों का यह परम पुनीत कर्तव्य है कि, वे नित्य श्रद्धा तथा सावधानी से श्राद्धक्रिया सम्पादित करें।[1] इसके पश्चात्, श्राद्ध के लिए उपयुक्त अवसर का उल्लेख है।[2] श्राद्ध के पूर्व श्राद्ध के लिए सभी आवश्यक सामग्रियों का संकलन कर लेने के पश्चात्, ब्राह्मणों को निमन्त्रण देना, उन्हें आसन तथा समुचित सत्कार देना, उनकी उपस्थिति में पितरों के लिए हवन तथा नैवेद्य निवेदित करना, ब्राह्मण भोजन कराना, उपस्थित लोगों को प्रसाद तथा भोजन देना और इसी प्रकार के औपसंहारिक क्रियाओं का उल्लेख किया गया है।[3]

नारद के इस प्रश्न पर कि और्ध्व दैहिक के श्राद्ध का क्या विधान है? श्रीभगवान् यह उत्तर देते हैं कि, दैनिक श्राद्ध की अपेक्षा इसका विस्तार कुछ अधिक होता है, कुछ अधिक मन्त्रों का प्रयोग किया जाता है तथा यह क्रिया ग्यारह दिन तक चलती है।[4] प्रथम वार्षिक श्राद्ध द्वारा प्रेत पितरों में समाविष्ट हो जाता है। वार्षिक श्राद्ध का विवरण विशेष तथा आवश्यक विस्तार के साथ निरूपित किया गया है।[5] अन्त में सामान्य श्राद्ध का विधान तथा उसके मन्त्र का निरूपण है।[6]

गुरु के लिए विशेष श्राद्ध का विधान बताया गया है तथा प्रत्येक प्रकार के श्राद्ध की प्रशस्ति गायी गयी है।[7]

चौबीसवें पटल का नाम 'संस्काराख्यान' है जिसे प्रेत संस्कार समझना चाहिए। जब कभी दीक्षित व्यक्ति का निधन होता है तो उसके शव को स्नान कराया जाता है। पुष्प माल्यादि से सजाया जाता है। कुछ अन्य शौच संस्कारों का सम्पादन किया जाता है। उसकी व्यक्तिगत वस्तुओं को लोगों में बांटा जाता है। शव को श्मशान ले जाया जाता है तथा जला दिया जाता है। इस पूरे खण्ड में क्रमशः मृतक के शव के साथ गुरु कौन-सी क्रिया सम्पादित करता है तथा शवाग्नि के अवसर पर किन मन्त्रों का उच्चारण करता है आदि बातें विस्तारपूर्वक वर्णित हैं।[8]

---

१. ज.सं.प. २३, श्लो. १-६.
२. वही, श्लो. ७-१४ ए.
३. वही, श्लो. १४ बी - ६२ ए.
४. वही, श्लो. ६२-१०८.
५. वही, श्लो. १०९-१४६ ए.
६. वही, श्लो. १४६ बी - १४८.
७. वही, श्लो. १४९-१५५.
८. वही, पटल २४, श्लो. १-६१ ए.

चिता पर पूर्णाहुति के पश्चात्, गुरु तत्काल अपने को स्नानादि के द्वारा स्वच्छ करता है क्योंकि शव के स्पर्श करने से वह अपवित्र हो गया रहता है। इस शौच प्रक्रिया में जप, होम आदि का समावेश है।[१] इसके तीन दिन के पश्चात् गुरु श्मशान आता है और मृतक के अस्थियों को एकत्रित करता है तथा उसे किसी पवित्र नदी में छोड़ता है या जमीन के अन्दर गाड़ देता है। दीक्षित व्यक्तियों की अस्थियाँ विकीर्ण नहीं की जाती।[२]

पटल का समापन यह कहकर किया गया है कि, सभी श्रद्धालुओं का दाह संस्कार किया जाना चाहिए। इसी में यतियों के विषय में कुछ विशेष बातें बतायी गयी हैं तथा जिनका देहान्त दूर हुआ है उनकी अनुपस्थिति में उनके श्राद्ध का विधान वर्णित है।[३]

पच्चीसवें पटल का नाम 'प्रायश्चित्तविधि' है। इसमें वैष्णवों द्वारा अविहित कर्म के करने तथा विहित कर्म के न करने से उत्पन्न होने वाले दोषों के मार्जन के लिए प्रायश्चित्त का विधान बताया गया है। श्रीभगवान् का कथन है कि यहाँ विभिन्न प्रकार के पापों तथा उनके कारणों की उपस्थिति सर्वत्र विद्यमान है किन्तु, इनके उपशम के लिए जप, दान, हवन तथा तप अत्यन्त आवश्यक है।[४] इस पटल के अधिकांश भाग में पापों के उदाहरण तथा उनके लिए समुचित प्रायश्चित्त का विधान उल्लिखित है। इस अवसर पर जप हेतु प्रयुक्त होने वाले मन्त्रों तथा दान सामग्रियों का विधान वर्णित है।[५] ये सारे विधान सुन लेने के पश्चात् नारद ने श्रीभगवान् से यह प्रश्न किया है कि, यदि किसी कारण से साधक के घर में स्थित मन्त्रार्चा मूर्ति दूषित हो जाती है तो इसके शुद्धिकरण का क्या विधान है? इस पर श्रीभगवान् ने विस्तारपूर्वक यह बताया है कि, व्रतोपवास, जप, विशिष्ट मण्डल पूजा तथा बारह आचार्यों को दान देने से इसकी शुद्धि हो जाती है।[६]

छब्बीसवें पटल का नाम 'मूलमन्त्रसाधन' है।[७] मुक्ति का मार्ग सम्यक् रूप से जान लेने के पश्चात् नारद ने श्री भगवान् से मुक्ति का मार्ग पूछा है।

१. ज.सं.प. २४, श्लो. ६१-६८ ए.
२. वही, श्लो. ६८ बी -७१ ए.
३. वही, श्लो. ७१ बी - १०५ ए.
४. ज.सं. पटल २५, श्लो. १-४ ए.
५. वही, श्लो. ४ बी - १३१.
६. वही, श्लो. १३२-१६० ए.
७. "ओं क्षीं क्षिःनमः, नारायणाय विश्वात्मने ह्रीं स्वाहा', जयाख्यसंहिता, पृ. ३१.

भगवान् का उत्तर है कि, विशेष विधान तथा क्रिया द्वारा मन्त्रराज के जप से साधक को अनेक उपलब्धियाँ होती हैं तथा उनका भोग प्राप्त होता है। इस साधना में उपयुक्त स्थान की खोज अत्यन्त आवश्यक है जहाँ बैठकर मन्त्र की सिद्धि हो जाय तो उसे समुचित विधान तथा मुद्राओं के साथ हवन करना चाहिए। इससे उसे अतिमानवीय शक्तियों पर नियन्त्रण प्राप्त हो जाता है।[1] इसके अतिरिक्त विष का अप्रभावी होना, दूसरे को वश में करना, दूसरे का त्याग, उसकी इच्छाओं पर अपना नियन्त्रण तथा अनेक प्रकार की अन्य शक्तियों की भी उसे प्राप्ति होती है।[2]

मन्त्रों के ऊपर सिद्धि प्राप्त करने लेने का विधान भी निरूपित है। इनमें शंखमन्त्र तथा चक्रमन्त्र अधिक प्रभावी माने जाते हैं किन्तु, विभिन्न अवसरों पर इनके उपयोग के लिए, विभिन्न प्रकार के होम तथा बलि का विधान वर्णित है।[3] पटल का समापन मन्त्रराज की प्रशस्ति से होता है।[4]

सत्ताईसवें पटल का नाम 'शक्तिमन्त्रसाधन' है। इस पटल में श्रीभगवान् ने लक्ष्मी तथा अन्य शक्तियों को सिद्ध करने के लिए विभिन्न मन्त्रों का उपदेश किया है। सर्वप्रथम उनका निर्देश है कि, आसन, धूप, घण्टा आदि की व्यवस्था तो सभी के लिए समान होती है किन्तु, कुछ विशेष प्रकार के विस्तार भिन्न-भिन्न होते हैं।[5] इसके अनन्तर उन्होंने विशेष रूप से लक्ष्मीमन्त्र के अभ्यास का निरूपण किया है।[6] इसके साथ ही इस मन्त्र की सिद्धि से प्रादुर्भूत होने वाली शक्तियों का निरूपण किया गया है।[7] इसके उपरान्त, कीर्तिमन्त्र तथा उसकी सिद्धि से उत्पन्न होने वाली शक्तियों का निरूपण है।[8] इसी प्रकार जयामन्त्र[9]

---

१. ज.सं.प. २६, श्लो. ९-२१.
२. वही, श्लो. २२-९६.
३. वही, श्लो. ९७-१२१.
४. वही, श्लो. १२२-१३४ ए.
५. वही, पटल २७, श्लो. १-१०.
६. ओं लां लक्ष्म्यै नमः, परमलक्ष्मावस्थितायै लां श्रीं ह्रीं स्वाहा। (लक्ष्मीमन्त्रः) - वही, श्लो. ११-३८ ए.
७. वही, श्लो. ३८ बी - ५७ ए.
८. ओं कां कीर्त्त्यै नमः, सदोदितानन्दविग्रहायै ह्रीं क्रीं स्वाहा। (कीर्तिमन्त्रः) - वही, श्लो. ५७ बी - ९५.
९. ओं जां जयायै नमः, अजितधामावस्थितायै जां ज्रीं स्वाहा। (जयामन्त्रः) वही, श्लो. ९६-२१६ ए.

तथा मायामन्त्र[1] का भी निरूपण किया गया है जिसमें न्यास तथा मुद्रा का विस्तृत विवेचन है। पटल का समापन इन चारों मन्त्रों की प्रशस्ति से है।[2]

अट्ठाईसवें पटल का नाम 'अंगमन्त्रसाधन' है। श्रीभगवान् ने नारद को साधना की उस प्रक्रिया का विवरण बताया है जिसमें साधक भगवान् के अवयवों से अपने अवयवों की क्रमशः तुलना करता है। यह कार्य परिकल्पित रूप में किया जाता है। इससे साधक में विभिन्न प्रकार की शक्तियों का उदय होता है। प्रत्येक अवयव के लिए मन्त्र तथा उससे प्राप्त होने वाली सिद्धियों का उल्लेख किया गया है जैसे - ह्रीं मन्त्र तथा उससे प्राप्त होने वाली सिद्धियों का[3], श्रीं मन्त्र तथा उससे प्राप्त होने वाली सिद्धियों का[4], शिखा मन्त्र तथा उससे उत्पन्न होने वाली सिद्धियों का[5], कवचमन्त्र तथा उसके साधन के प्रकारों तथा उससे प्राप्त होने वाली सिद्धियों का[6], नेत्रमन्त्र तथा उससे प्राप्त होने वाली सिद्धियों का[7] तथा अस्त्रमन्त्र, उसके साधन तथा उससे प्राप्त सिद्धियों का सम्यक् निरूपण किया गया है।[8]

उन्तीसवें पटल को 'वक्त्रमन्त्रसाधन' कहते हैं। पूर्व पटल की भाँति श्री भगवान् ने उसी उत्साह से अपना ध्यान नृसिंहवक्त्रमन्त्र की ओर लगाया है। इस सन्दर्भ में नृसिंहमन्त्र के सहकारी अन्य मन्त्रों का निरूपण किया गया है।[9] इसके पश्चात्, कपिलवक्त्रमन्त्र तथा उनके सहयोगी मन्त्रों का निरूपण है[10] और अन्त में वराहवक्त्रमन्त्र तथा उनके सहयोगी मन्त्रों के निरूपण के पश्चात्, पटल का समापन हो जाता है।[11]

तीसवें पटल का नाम 'परिकरसाधन पटल' है। इस पटल में भगवान् के विभिन्न आयुधों की पूजा तथा प्रार्थना के उपाय बताये गये हैं जिससे उनके

---

१. ओं मां मायायै नमः, मोहातीपदाश्रितायै मां म्रीं स्वाहा (मायामन्त्रः)
२. वही, श्लो. २१६ बी - २१८.
३. ज.सं. पटल २८, श्लो. २-१५.
४. वही, श्लो. १६-४०.
५. वही, श्लो. ४१-७० ए.
६. वही, श्लो. ७० बी - ९८ ए.
७. वही, श्लो. ९८ बी - १२७.
८. वही, श्लो. १२८-१५८ ए.
९. वही, पटल २९, श्लो. २-५८.
१०. वही, श्लो. ५९-११०.
११. वही, श्लो. १११-१८८ ए.

ऊपर अधिकार प्राप्त हो सके। भगवान् के ब्रह्मास्त्रों पर नियंत्रण प्राप्त करने के लिए उनके विभिन्न मन्त्रों का विधान बताया गया है। कौस्तुभमन्त्र तथा माला मन्त्र के साधनों का सर्वप्रथम निरूपण किया गया है।[१] कमलमन्त्र के साधन तथा प्रकार का निरूपण इसके ठीक बाद ही किया गया है।[२] इसी प्रकार शंखमन्त्र के साधन मन्त्र तथा प्रकारों का निरूपण[३], चक्रमन्त्र तथा उसके साधनादि का निरूपण[४], गदामन्त्र तथा उसके साधनों का निरूपण[५], गरुडमन्त्र तथा उसके साधन और सिद्धि का निरूपण[६], पाशमन्त्र तथा उसके सिद्धि का निरूपण[७] तथा अंकुशमन्त्र एवं उसके सिद्धियों का सम्यक् रूप से निरूपण करते हुए इस पटल का समापन किया गया है।[८]

इक्तीसवें पटल में उपांगसाधन का निरूपण किया गया है। भगवान् ने सर्वप्रथम सत्यमन्त्र का निरूपण, उसमें निहित शक्ति तथा उसकी साधना के अभ्यास का विश्लेषण किया है।[९] इसके अनन्तर, क्रमशः वासुदेवमन्त्र तथा उसके साधन के प्रकार[१०], संकर्षणमन्त्र तथा उसके साधन के प्रकार[११], प्रद्युम्नमन्त्र उसके साधन के प्रकार[१२], अनिरुद्धमन्त्र तथा उसके साधन प्रकार[१३] एवं उसी प्रकार सप्ताक्षर मन्त्रों के साधन तथा प्रकार के साथ ही इस पटल को पूर्ण किया गया है।[१४]

बत्तीसवाँ पटल 'साधनविधि' के नाम से अभिहित है। श्रीभगवान् ने उल्लेख किया है कि, मैंने विघ्नेश्वरमन्त्र का एक सामान्य परिचय दिया था, अब मैं यहाँ उसे विस्तृत रूप से विवेचित करूँगा। कैसे इस मन्त्र पर अधिकार प्राप्त किया जाता है? इसके जप का विधान तथा इसके प्रभाव क्या हैं?

---

१. ज.सं.प. ३०, श्लो. ४-३१.
२. वही, श्लो. ३२-४०.
३. वही, श्लो. ४१-४९.
४. वही, श्लो. ५०-६१ ए.
५. वही, श्लो. ६१ बी - ८५.
६. वही, श्लो. ७२ बी - ८५.
७. वही, श्लो. ८९-९९ ए.
८. वही, श्लो. ९९ बी. - ११८ ए.
९. वही, पटल ३१, श्लो. १-८.
१०. वही, श्लो. ९-१४ ए.
११. वही, श्लो. १४ बी - २१.
१२. वही, श्लो. २२-३०.
१३. वही, श्लो. ३१-३८.
१४. वही, श्लो. ३९-४९.

इसका पूरा निरूपण इस पटल के प्रथमांश में किया गया है।[१] अपनी वार्ता का उपसंहार करते हुए श्रीभगवान् ने वागीश्वरीमन्त्र के जप से उत्पन्न होने वाली विभिन्न दैवी शक्तियों का निरूपण किया है।[२] इसी सन्दर्भ में उन्होंने वागीश्वरीमन्त्र के प्रयोग के विधान पर प्रकाश डाला है।[३]

संहिता का अन्तिम पटल तैंतीसवाँ पटल है जिसे 'योगाख्यान' नाम दिया गया है। सर्वप्रथम श्रीभगवान् ने यौगिक साधनों के अभ्यास से अन्तिम लक्ष्य मुक्ति की प्राप्ति के लिए किये जाने वाले प्रक्रियाओं का विशद विवेचन किया है। उपयुक्त एकान्त स्थान का चयन, शान्त वातावरण, आसन का विधान करने के पश्चात् साधक विहित रूप से प्राणायाम क्रिया प्रारम्भ करता है। इस क्रिया को करते हुए उसे ब्रह्म से एकत्व प्राप्त हो जाता है और सर्प के केचुल की भाँति मानव शरीर का परित्याग कर मुक्ति प्राप्त कर लेता है।[४]

नारद ने श्रीभगवान् से प्रश्न किया है कि, साधक को देहपात की अवस्था प्राप्त हो गयी है, उसके लक्षण क्या है?[५] श्रीभगवान् ने इसके उत्तर में मृत्यु के समय होने वाले शारीरिक परिवर्तनों का उल्लेख करते हुए यह निरूपित किया है कि, ऐसे व्यक्ति को ब्रह्मैकत्व प्राप्त हो जाता है।[६]

पटल के समापन के अवसर पर संहिता की प्रशंसा की गयी है, इसे सर्वोत्तम संहिता कहा गया है, यह सर्वोत्कृष्ट ज्ञान को देने वाली है, इसे मूर्ख तथा शठ को नहीं देना चाहिए। धार्मिक तथा दीक्षित व्यक्ति को ही इसका उपदेश किया जाना चाहिए क्योंकि ऐसा ही व्यक्ति संसार रूपी समुद्र को पार करने का प्रबल अभिलाषी होता है।[७]

पाञ्चरात्र के विषय में अध्ययन करने वालों के लिए जयाख्यसंहिता में कुछ विशेष बातें हैं जिनका निर्देश आवश्यक है-

१. जयाख्यसंहिता में श्राद्ध के विषय में व्यापक वर्णन पटल २४ में है। अन्य स्थानों पर इसका समावेश प्रायश्चित्त के साथ किया गया है। अन्तिम पटल तैंतीसवाँ हैं। इसमें भी जन्म, मरण तथा उनके प्रतीकों के विषय में वर्णन किया गया है। इसकी महत्ता इसलिए है कि, इस संहिता में यह विषय अलग से प्रतिपादित है।

---

१. ज.सं.प. ३२, श्लो. १-३६.
२. वही, श्लो. ३७-६५.
३. वही, श्लो. ६६-८४.
४. वही, पटल ३३, श्लो. १-५९.
५. वही, श्लो. ६०.
६. वही, श्लो. ६१-८०.
७. ज.सं.प. ३३, श्लो. ८०-८७.

२. इसमें विशेष प्रकार की प्रायोगिक क्रिया-कलापों का विशेष वर्णन पटल २६ से ३२ तक किया गया है। जैसे गरुडमन्त्र के जप से होनेवाली सिद्धियों का वर्णन है। अप्रत्यक्ष रूप से यह काश्यपसंहिता में वर्णित विवरण की ही पुष्टि करता है।

३. इसमें इक्कीसवें पटल के श्लोक ११६ में उन अवस्थाओं का वर्णन है जब मांस खाना वर्जित है, अन्य स्थितियों में ग्राह्य है।

४. इसमें घृत, पुष्प आदि की जगह पर पटल २२ के श्लोक ७७ में पशुबलि का भी उल्लेख है।

५. पच्चीसवें पटल के १४४ वें श्लोक में १२ आचार्यों का वर्णन है। यदि यह अंश प्रक्षिप्त न माना जाय तो यह मानना पड़ेगा कि, यह कृति बहुत पुरानी नहीं है क्योंकि आचार्य की परम्परा पहले से प्रचलित थी किन्तु, रामानुज के शिष्यों ने उसको पुनः स्थापित किया। जयाख्यसंहिता में उत्पल आदि का उल्लेख है अतः यह अंश सन्देहास्पद प्रतीत होता है।

६. चार स्वतन्त्र कृतियाँ हैं जो जयाख्यसंहिता के आधार पर प्रतीत होती हैं। जैसे- जयोत्तरसंहिता तथा तीन अन्य उत्सवसंग्रह, पूजा संग्रह तथा प्रायश्चित्त आड्यार लाइब्रेरी में उपलब्ध हैं।

जयाख्यसंहिता का तत्त्वदर्शन

तत्त्वमीमांसा के अन्तर्गत सृष्टि प्रक्रिया का भी विवेचन किया जाता है। जयाख्यसंहिता में तत्त्वमीमांसा के अवसर पर यह ध्यातव्य है कि, पाञ्चरात्र आगमों में प्रतिपादित तत्त्वमीमांसा से इस संहिता के तत्त्वमीमांसा में कोई विशेष भेद नहीं है। आगम साहित्य की एक विशेषता है कि, इसमें दर्शन, नीति तथा सृष्टि की प्रक्रियाओं का विवेचन एक दूसरे से इस प्रकार मिश्रित रहता है कि, उसको अलग से देखना कठिन प्रतीत होता है फिर भी जयाख्यसंहिता में वर्णित दार्शनिक तथा सृष्टि सम्बन्धित सिद्धान्तों का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

ब्रह्म-

वेद को प्रमाण मानने के कारण औपनिषदिक ब्रह्म सम्बन्धी विचारधारा आगम संहिताओं में भी अनवच्छिन्न रूप से प्रवाहित हुई है। परब्रह्म के स्वरूप का विवेचन करते हुए यह बताया गया है कि, वह सत् है अर्थात् अपने अस्तित्व के लिए दूसरे की अपेक्षा नहीं रखता क्योंकि उसके अतिरिक्त कोई अन्य सत्ता है ही नहीं। उसका स्वभाव परम ज्ञान तथा अनन्त आनन्द है। वह सर्वव्यापक है तथा उसी को वासुदेव कहते हैं।[१] यही वासुदेव सृष्टि का मूल है। वह आनन्द लक्षण वाला सभी प्रकार की दुर्वृत्तियों से रहित, स्वसंवेद्य, अनौपम्य, सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य, उत्तमोत्तम पथ, सर्वक्रियाविनिर्मुक्त तथा सभी का आश्रय है। वह विश्वात्मा तथा विश्वनियन्ता है।[२] वह न तो सत् है और न असत्।[३] ब्रह्म त्रिगुणात्मक इन्द्रियों द्वारा भाषित है किन्तु, गुणों एवं इन्द्रियों से रहित सर्वव्यापी, अविनाशी, ज्ञान स्वरूप तथा विचित्र है।[४]

ब्रह्म सर्वगत है।[५] वह अपने को विभिन्न शक्तियों से विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त करता है।[६] उदाहरणार्थ- वह प्राणियों में वायु है, वृक्षादि में रस है, वह स्वतः ही काल, शब्द, सूर्यादि कहा जाता है।[७] जिस प्रकार अयोगोलक में अग्नि का निवास होता है और वह अग्नि से अलग होते हुए भी अग्नि रूप होता है उसी प्रकार ब्रह्म सर्वगत रहते हुए भी सबसे भिन्न होता है अथवा जिस प्रकार स्वच्छ दर्पण में प्रतिबिम्बित पदार्थ दर्पण का नहीं होता उसी प्रकार ब्रह्म में प्रतिबिम्बित जगत् भी ब्रह्म का नहीं होता।[८]

---

१. ज.सं.प. ४/ २-३.
२. तत्रैव, ६०-६२.
३. तत्रैव, ४/६३.
४. ज.सं.प. ४/ ६४-६५.
५. तत्रैव, ४/६९-७०.
६. तत्रैव, ११७.
७. जयाख्यसंहिता पटल ४/११६.
८. तत्रैव, ८३-८४.

विश्व में अनुस्यूत रहते हुए भी ब्रह्म जल में स्थित कमलपत्र की भाँति जगत्रूपी जल से असंपृक्त रहता है। परब्रह्म गतिशील तथा स्थिर दोनों ही माना गया है। उदाहरणार्थ- घट में जिस प्रकार घटाकाश निहित होता है तथा घट के हटाये जाने पर घटाकाश भी हटता हुआ प्रतीत होता है जब कि वास्तव में वह हटता नहीं है उसी प्रकार ब्रह्म चल तथा अचल दोनों ही है।[१] ब्रह्म सभी पञ्चभूतों में विद्यमान रहते हुए भी पञ्चभूतों से अलग रहता है। जहाँ कहीं भी आकाश है वहीं वायु भी है। इस प्रकार दोनों समान हैं। उसी प्रकार ब्रह्म भी है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी इसी भाव का प्रतिपादन किया गया है।[३]

परब्रह्म को विश्व की उत्पत्ति, पालन तथा संहार का कारण माना जाता है। विश्व के सम्पूर्ण पदार्थ उसी से आविर्भूत होते हैं तथा उसी में उनका तिरोधान हो जाता है।[४] वह सहस्रों आत्माओं से पूर्ण है, अनेकों बाहु, शिर, पाणि तथा पाद वाला है।[५] वह पूरे ब्रह्माण्ड को आवृत करके स्थित रहता है किन्तु, स्थूल इन्द्रियों से उसका ग्रहण नहीं होता।[७]

व्यापक ब्रह्म जीवमात्र की इच्छा से स्थूल रूप से इस विश्व में प्रकाशित होता है।[८] अपनी योगशक्ति द्वारा इस विश्व की सृष्टि, पालन तथा संहार करता है।[९]

जयाख्य के अनुसार ब्रह्म से अभिन्न ज्ञान की प्राप्ति से ब्रह्म की संसक्ति होती है अतः ज्ञान का अभ्यास करना चाहिए।[१०] इसी संहिता में ज्ञान का लक्षण करते हुए कहा गया है कि, ज्ञान का एक स्वरूप ब्रह्म-सिद्धि-प्रदत्त्व भी है। संहिता का ऐसा कहना समुचित है क्योंकि ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् भवबन्धन नहीं होते।[११] जयाख्यसंहिता में ज्ञान के दो भेद कहे गये हैं- सत्ताख्य ज्ञान तथा क्रियाख्य ज्ञान। क्रियाख्य ज्ञान के साथ सत्ताख्य ज्ञान के अभ्यास से

---

१. जयाख्यसंहिता पटल, ८८-८९.
२. तत्रैव, ९२.
३. गीता, ९/६.
४. तत्रैव, ४, ९४ बी-९५ ए.
५. तत्रैव, ४/१२५.
६. तत्रैव, ४/१२७-१२९.
७. तत्रैव, ४/६४.
८. तत्रैव, ६/ २०६.
९. तत्रैव, ४/२३.
१०. ज्ञानेनतदभिन्नेन परिज्ञातेन नारद। जायते ब्रह्मसंसक्तिस्तमाज्ज्ञानं समभ्यसेत।।
जयाख्यसंहिता, ४/३८.
११. ब्रह्मसिद्धिप्रदं ज्ञानं ब्रूहि तल्लक्षणं प्रभो। यज्ज्ञात्वा न भवेज्जन्म मरणं भवबन्धनम्।।
जयाख्यसंहिता- ४/३९.

धृति की उपलब्धि होती है[1] अर्थात् सत्ताख्य ज्ञान के द्वारा ब्रह्म का ज्ञान होता है। प्रमुख रूप से सत्ताख्य ज्ञान ही यहाँ ब्रह्मज्ञानोत्पत्ति में हेतु है किन्तु, यह सत्ताख्य ज्ञान एकाकी ही ब्रह्म प्राप्ति का साधन नहीं हो सकता। क्रिया ज्ञान पूर्वक क्रिया-आचरण के बिना साक्षात् केवल सत्ताख्य ज्ञान ब्रह्म की प्राप्ति में कारण नहीं हो सकता। स्पष्टतया वर्णित है- **येनाभ्यस्तेन सत्ताख्यं ज्ञास्यामि ब्रह्मसिद्धिदम्।**[२]

पाद्मसंहिता में 'विज्ञान' शब्द की निरुक्ति करते हुए कहा गया है- **"विज्ञानं भगवज्ज्ञानं तज्ज्ञानं मुक्तिरुच्यते"**[३] अर्थात् विज्ञान का अर्थ भगवज्ज्ञान और उसके ज्ञान से मुक्ति है। पाद्मसंहिता में ब्रह्मा श्रीभगवान् से प्रश्न पूछते हैं कि- **इदानीं वद में ज्ञानं ब्रह्मसिद्धिदमच्युत। यज्ज्ञात्वा न पुनर्जन्म मरणं भवबन्धनम्।।**[४] उत्तर में श्रीभगवान् दो प्रकार के ज्ञान को बताते हैं- सत्वाख्य तथा क्रियाख्य।[५] पुनः ब्रह्मा श्री भगवान् से प्रश्न करते हैं कि- **ज्ञानं क्रियात्मकं तावत् वद कीदृग्विधं प्रभो। येनभ्यस्तेन सत्वाख्यं ब्रह्म सिद्धिदम्।।**[६] उत्तर में श्रीभगवान् कहते हैं कि क्रियाख्य का तात्पर्य यम-नियम है जिनसे सत्वाख्य ज्ञान निश्चित रूप से ही प्राप्त हो जाता है और सत्वाख्य के द्वारा ब्रह्म से अभिन्न का बोध हो जाता है।[७] विष्णुतिलकसंहिता का अभिमत है कि, जिसके द्वारा ब्रह्म जाना जाता है उसे ज्ञान कहते हैं अतः सतत् ध्यान स्थित होकर ब्रह्म को जानना चाहिए।[८]

विष्णुसंहिता का कहना है-

ज्ञानेन मोक्षमाप्नोति ज्ञानार्था चेष्यते क्रिया।
केवलं त्विह विज्ञानं धर्मस्यानुग्रहादृते।।[९]

अर्हिबुध्न्यसंहिता का कहना है कि, ब्रह्म के अनुभव की संभावना अनेक जन्मों के अर्जित पुण्य से तथा पापक्षय के पश्चात् विज्ञानशास्त्र के द्वारा

१. ज्ञानं तु द्विविधं विद्धि सत्ताख्यं च क्रियात्मकम्।
सत्ताख्यस्य क्रियाख्येन अभ्यस्तेन भवेद्धृतिः।। जयाख्यसंहिता- ४/४०.
२. जयाख्यसंहिता- ४/४१.
३. पाद्मसंहिता- ज्ञानपाद, २/६.
४. पाद्मसंहिता- ज्ञानपाद, ५/२३.
५. ज्ञानं द्विविधमाख्यातं सत्वाख्यं च क्रियात्मकम्। सत्वाख्यस्य क्रियाख्येन सिद्धिरख्यभिचारिणी।। पाद्मसंहिता- ज्ञानपाद, ५/२४.
६. पाद्मसंहिता- ज्ञानपाद, ५/२५.
७. यमश्च नियमश्चैव क्रियाख्या द्विविधा स्मृता।
ताभ्यां ज्ञानं च सत्वाख्यं प्राप्नोत्येव न संशयः।।
ब्रह्मण्यभिन्नं सत्वाख्यं ज्ञानाज्ज्ञेयमवाप्यते।
ज्ञानान्मुक्तिः परानन्दे परमात्मनि पद्मज।। पाद्मसंहिता- ज्ञानपाद, ५/२६-२७.
८. विष्णुतिलकसंहिता, २/४.
९. विष्णुसंहिता, २९/३४.

पापजाल के विच्छेद से होती है जब सत्, तमस् तथा रजस् इन त्रिगुणों की उपरति होती है। ब्रह्म स्वयं अनुभव किया जाता है। प्रत्यक्षतः "यह ब्रह्म है" यह वाणी के द्वारा नहीं कहा जा सकता अर्थात् ब्रह्म केवल अनुभवगम्य है न कि शब्दवाच्य।[१०]

लक्ष्मीतन्त्र का कहना है कि-

ज्ञानस्वरूपो भगवान् देशकालाद्यभेदितः।
वासुदेवः परं ब्रह्म गुणशून्यं निरञ्जनम्।।[११]

परब्रह्म स्वतः क्रियाशील नहीं होता। सभी कार्य उसकी शक्ति से सम्पादित होते हैं। अद्वैत वेदान्त में इस शक्ति को माया कहते हैं। जयाख्यसंहिता में यही शक्ति लक्ष्मी, कीर्ति, जया, माया आदि नामों से प्रसिद्ध है।[१०] यह त्रिगुणात्मिका होते हुए भी शुद्ध सत्त्वरूपा है। बिना इसके परमात्मा सृष्टि आदि में समर्थ नहीं हो सकता। इतना ही नहीं, ये शक्तियाँ सन्तुष्ट होने पर इहलौकिक सुख समृद्धियाँ प्रदान करती हैं जिसे अभ्युदय कहा जाता है। इन्हीं शक्तियों से सम्पन्न होने पर साधक जरा-मरणादि बन्धनों से मुक्त हो जाता है। यही निःश्रेयस की प्राप्ति है। भगवान् की करुणा अथवा प्रेरणा इन्हीं शक्तियों के माध्यम से साधकों तक पहुँचती है इसीलिए इन शक्तियों को लीलामयी तथा दयामयी कहा गया है। इस प्रकार भगवत्शक्ति स्वतः ही धर्म है क्योंकि धर्म की परिभाषा में महर्षि कणाद ने "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः" ऐसा कहा है और ये शक्तियाँ भुक्ति तथा मुक्ति देनेवाली हैं।

सृष्टि-

जयाख्यसंहिता में सृष्टि के तीन क्रमों का उल्लेख किया गया है। वह क्रमशः ब्रह्मसर्ग, प्राधानिक सर्ग और शुद्ध सर्ग है। शुद्ध सर्ग को इसलिए शुद्ध माना गया है क्योंकि पूर्व के दोनों प्रकार की सृष्टियाँ उतनी शुद्ध इसलिए नहीं हैं कि क्योंकि उसमें सत्त्व, रज, तम नामक गुणों का समावेश रहता है जिनसे अशुद्धता का प्रादुर्भाव होता है। परब्रह्म ज्ञान तथा आनन्द स्वभाव वाला है। वह अपनी ही दीप्ति को क्षोभित करके स्वतः ही अपने को अच्युत के रूप में उत्पन्न

---

१. अनेकजन्मसंसिद्ध पुण्यपादपरिक्षये। निकृते वासना जाले सम्यग्विज्ञानशास्त्रतः।। त्रैगुण्योपरमे तत्तु स्वेनानुभावितुं क्षमम्। साक्षादिदमिति व्यक्तं वाचा वक्तुं न शक्यते।। अहिर्बुध्नसंहिता, २/४१-४२.
२. लक्ष्मीतन्त्र, १४/१.
३. तत्रैव, २/१७-१८.
४. तत्रैव, १/२३.
५. तत्रैव, १/१५.
६. तत्रैव, ६/७३-७६.
७. "लक्ष्मीः कीर्त्तिर्जया माया देव्यस्तस्याश्रितास्सदा" - जयाख्यसंहिता, ६/७७ ए.

करता है। वह अच्युत अपने को सत्य रूप में सर्जित करता है और अन्त में सत्य अपनी ही शक्ति से अपने को पुरुष रूप में अभिव्यक्त करता है। अतः अच्युत, सत्य तथा पुरुष परब्रह्म अथवा वासुदेव के तीन प्रकार की अभिव्यक्तियाँ हैं। ये तीनों वासुदेव की सत्ता का प्रतिनिधित्व करते हैं।[1]

पुरुष परमात्मा सत्-चित् प्रकाशमय है। वही सभी देवों का आश्रय उसी भाँति होता है जिस प्रकार तारागणों का आश्रय आकाश।[2] रामकृष्ण आदि जो लोकरक्षार्थ अवतार होते हैं उन सभी को पुरुष के अंश तथा सत्त्व से उत्पन्न मानना चाहिए।[3]

जयाख्यसंहिता में दूसरे प्रकार की सृष्टि जिस 'प्राधानिक सर्ग' कहा गया है, का विवेचन किया गया है। यह पद्धति सांख्य के सृष्टि क्रम के अनुसार है किन्तु, कहीं-कहीं सांख्य से भिन्नता भी प्रदर्शित की गयी है। सांख्य के अनुसार ही इस संहिता में भी प्रधान या प्रकृति को सृष्टि का मूल कारण माना गया है किन्तु, जहाँ सांख्य दर्शन में प्रकृति स्वतन्त्र है, वहीं संहिता में उसे ब्रह्म के अधीन माना गया है। प्रधान को नित्य, प्रारम्भ रहित, सर्वव्यापक तथा त्रिगुणों से युक्त माना गया है। इसका स्वरूप अनिश्चित है।[4] प्रकृति के गुण अविभक्त हैं। वे क्रमशः एक के बाद दूसरे प्रकट होते रहते हैं। सर्वप्रथम सत्त्व का आविर्भाव होता है। सत्त्व से रज उत्पन्न होता है तथा रज से तम प्रकट होता है। सांख्यदर्शन से संहिता के सिद्धान्त में यहाँ भी भिन्नता है। पाञ्चरात्र सिद्धान्त के अनुसार सत्त्व गुण से सम्पन्न अहंकार प्रकाशात्मा कहलाता है। रजोगुण से सम्पन्न अहंकार विकृतात्मा होता है तथा तमोगुण से सम्पन्न अहंकार भूतात्मा का रूप धारण करता है। इनका यह भी सिद्धान्त है कि, कर्मेन्द्रियाँ

---

१. "स्वादीप्तं क्षोभयित्वा तु विद्युद्वत्स्वेन तेजसा।
प्रकाशरूपी भगवानच्युतं चासृजद्द्विज।।
सोऽच्युतोऽच्युततेजाश्च स्वरूपं वितनोति च।
आश्रित्य वासुदेवं च घर्मो मेघदलं तथा।।
क्षोभयित्वा स्वमात्मानं सत्यं भास्वरविग्रहम्।
उत्पादयामास तदा समुद्रो बुद्बुदं यथा।।
सचिन्मयप्रकाशाख्य उत्पाद्यात्मानमात्मना।
पुरुषाख्यमनन्तं च प्रकाशप्रसरं महत्।।" - तत्रैव ४/४-७.

२. जयाख्यसंहिता, ४/८.

३. ये स्विदाद्यावताराश्च लोकत्राणाधिकारिणः।
सर्वान्विद्धि तदंशांस्तान्सर्वेंऽशास्सत्त्वजास्तथा।। - ज.सं. ४/११.

४. अनादिमजमव्यक्तं गुणत्रयमयं द्विज।
विद्धि प्रदीपस्थानीयं भिन्नमेकात्मलक्षणम्।। - तत्रैव पटल ३, श्लो. २.

५. तत्रैव, ३-४.

राजस अहंकार से उत्पन्न होती हैं जबकि सांख्य मतानुसार मन सहित दश इन्द्रियाँ सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न होती हैं।[1]

नारद ने एक प्रश्न खड़ा किया है। उनका कहना है कि प्रधान जड है। महत् तथा अन्य उत्पादक तत्त्व भी जड है तो, बिना चेतन शक्ति के इनमें कार्यक्षमता कैसे होती है?[2] जयाख्यसंहिता में यह भी प्रतिपादित है कि, ब्रह्म एक दैवी तथा महान् आत्मा है और प्रधान उसी की शक्ति से प्रादुर्भूत है। अतः उसके कार्य करने में किसी प्रकार अवरोधन नहीं है। जिस प्रकार लौह गोलक में निहित अग्नि दाह का काम करती है उसी प्रकार चेतनता आत्मरूप से ब्रह्म में निवास करती है और उसी के प्रभाव से जड पदार्थों में क्रियाशीलता उत्पन्न हो जाती है।[3] जयाख्यसंहिता का यह सिद्धान्त भी सांख्य के सिद्धान्त से भिन्न है क्योंकि सांख्य सत्कार्यवाद मानता है और वह मानता है कि दही दूध का परिणाम है। यह परिणाम प्रकृति में स्वभावतः उत्पन्न होता है। उसके लिए किसी चेतन सत्ता के सहायता की आवश्यकता नहीं है। तीसरे पटल के दूसरे श्लोक से आठवें श्लोक तक सृष्टि के क्रमों का निरूपण है जो निम्नांकित है-

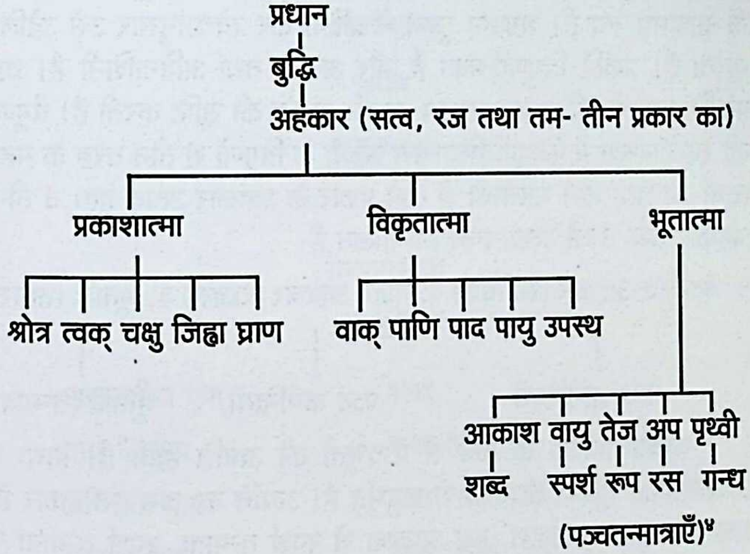

---

१. सांख्यकारिका, २५.
२. ज.सं. पटल ३, श्लो. ९ बी-१०.
३. तत्रैव, ३/११-१२.
४. तत्रैव, ३/१४-१५.

पाद्मसंहिता का उद्घोष है कि भगवान् स्वमन से ही अनन्त शक्तियों की सृष्टि करता है। उनमें सत्त्व, रजस् तथा तमस् से तीन शक्तियाँ जगत् प्रत्यक्ष हैं और आनन्दाख्य चतुर्थी शक्ति भुक्ति-मुक्ति-दात्री है। सत्त्व गुण से चराचर जगत् का पालन होता है। रजोगुण से समस्त संसार की सृष्टि होती है। तमोगुण से उसका संहार होता है। आन्दात्मक शक्ति को स्वीकार वासुदेव-रूप से भक्तों को मुक्त किया जाता है। यह पालन, सृष्टि एवं संहार ब्रह्मा आदि तीन रूपों से सम्पन्न होता है पर वासुदेव रूप से निष्काम उपासकों को मोक्ष प्रदान किया जाता है। परमपुरुष वासुदेव को सर्वापेक्षया प्रमुख माना गया है। अपवर्ग प्रदायक होने के कारण वह वासुदेव नाम से जाना जाता है। ब्रह्मा आदि यहाँ सांसारिक सृष्टि के अन्तर्गत माने गये हैं।[1] विष्णुतिलक संहिता ने भी लगभग इसी प्रकार चार गुण स्वीकार किया है।[2]

पुरुष एवं प्रकृति के संयोग से सृष्टि होती है किन्तु, यहाँ सवाल है कि, दोनों के संयोग में क्या प्रयोजन है? भगवान् की अनादि और अविनाशी माया पुरुष एवं प्रकृति का परस्पर संयोग कराती है। प्रकृति तथा पुरुष भी भगवान् के सत्यमय रूप हैं। भगवान् पुरुष में प्रविष्ट कर स्वेच्छानुसार उसे उद्वेलित करता है। प्रकृति त्रिगुणात्मिका है और अनादि तथा अविनाशिनी है। वही प्रकृति पुरुष में प्रविष्ट कर समस्त चराचर संसार की सृष्टि करती है। त्रैगुण्य की साम्यावस्था में पुरुषाधिष्ठित उस प्रकृति के त्रिगुणों से तीन तरह के महत् तत्त्वों का तथा तीन महत्तत्त्वों से तीन प्रकार के अहंकार उत्पन्न हुए। वे तीनों अहंकार तथा उनसे उत्पन्न तत्त्व निम्नांकित हैं-

१. वैकारिक अहंकार (सात्त्विक) २. तैजस अहंकार (राजस) ३. भूतादि (तामस)

| | |

पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ पञ्च कर्मेन्द्रियाँ भूतादि (तन्मात्रा)

पञ्चतन्मात्राओं के क्रम से पञ्चभूतों की उत्पत्ति होती है। प्रायः ये पञ्चतन्मात्राएँ भूतादि (तामस) से प्रादुर्भूत हैं। उत्पत्ति का क्रम इस प्रकार है- शब्द तन्मात्रा से आकाश, इस आकाश से स्पर्श तन्मात्रा, स्पर्श तन्मात्रा से वायु, वायु से रूप तन्मात्रा उत्पत्ति हुई और रूप तन्मात्रा से अग्नि, अग्नि से रस तन्मात्रा और रस तन्मात्रा से जल का प्रादुर्भाव हुआ। जल से गन्ध तन्मात्रा और उससे पृथ्वी उत्पन्न होती है। आकाश का गुण शब्द, वायु का शब्द तथा

१. पाद्मसंहिता, ज्ञानपाद, ४/१-१०.
२. विष्णुतिलकसंहिता, २/४७-४८.

स्पर्श, अग्नि का शब्द, स्पर्श तथा रूप, जल का शब्द, स्पर्श, रूप और रस, तथा पृथ्वी का गुण शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध है। पुनः इनसे भौतिक तत्त्वों की सृष्टि होती है।[१]

इसे संक्षेप में इस प्रकार देखा जा सकता है-

पुरुषप्रविष्ट प्रकृति
|
महान् (त्रिमहत्तत्त्वयुक्त)
|
अहंकार (त्रिविध)
|
शब्दतन्मात्रा
|
आकाश
|
स्पर्शतन्मात्रा
|
वायु
|
रूपतन्मात्रा
|
अग्नि
|
रसतन्मात्रा
|
जल
|
गन्धतन्मात्रा
|
पृथ्वी

आकाशीय गुण	शब्द
वायु के गुण	शब्द तथा स्पर्श
अग्नि के गुण	शब्द, स्पर्श और रूप
जल के गुण	शब्द, स्पर्श, रूप और रस
पृथ्वी के गुण	शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध

पाद्म में वर्णित महदादि विशेषान्त प्रधान पुरुष हैं। पूर्वोक्त समस्त संहत रूप से सृष्ट पृथग्भूत अनेक वीर्यमान् प्रजा की सृष्टि में स्वयं असमर्थ थे। तब

१. पाद्मसंहिता, ज्ञानपाद, ५/१-१८.

भगवान् के भगवान् वासुदेव के अंशभूत पद्मनाभ से चतुर्भुज ब्रह्मा की सृष्टि हुई। इस प्रकार सृष्टि के आरम्भ में प्रकृति से सम्पूर्ण संसार का प्रादुर्भाव हुआ। अन्त में पुनः ये सब उसी प्रकृति में विलीन हो गये।[1] परमसंहिता को भी पाद्म की भाँति प्रकृति से प्रपञ्चात्मक सृष्टि और उसी में उसका समाविष्ट होना अभीष्ट है।[2]

परमसंहिता का मानना है कि, प्रधान सभी पदार्थों का मूल और प्रकृति इस प्रपञ्च का द्रव्य है। अव्याकृत अविद्या ही व्यक्त होती है। संहिता में एक ही स्थान पर तत्त्वों की गणना की गयी है जो इस प्रकार है- अव्यक्त(१), बुद्धि(२), अहंकार(३), पञ्चभूततन्मात्राएँ(८), मन सहित दस इन्द्रियाँ(१९), और पञ्च महाभूत(२४)। कुल चौबीस तत्त्व मान्य हैं और इनके सूक्ष्म तथा स्थूल दो रूप होते हैं। प्रकृतिस्थ वस्तुओं के साथ समन्वित सभी भाव-पदार्थ त्रिगुण के कारण श्रेष्ठ और अधम रूप में प्रादुर्भूत होते हैं अर्थात् सत्त्व से सम्पन्न श्रेष्ठ, रजस् से सम्पन्न मध्यम तथा तमस् से संयुक्त अधम पदार्थ होते हैं।[3] सत्त्वभाव से सम्पादित भगवदर्चा भगवत्प्रसादिनी, राजस्, भाव से भोग साधक तामस भाव को मोहकारक माना गया है। प्रकृति त्रिगुणात्मिका तथा अनादि कार्यक्षेत्र रूप मानी गयी है। पुरुष के साथ उसका सम्बन्ध व्याप्ति रूप से होता है। पुरुष अनादि, अनन्त और परमार्थ भाव से रहता है। जिस तरह शब्द सम्पूर्ण आकाश में व्याप्त होकर व्यवस्थित रहता है, जिस प्रकार पय में स्नेह और सलिल में रस स्थित रहता है ठीक उसी प्रकार पुरुष तथा प्रकृति में व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है। इसमें जो व्यापक रूप है वही विषयी अर्थात् पुरुष है। अचित् अव्याकृत है, चित् उसकी अपेक्षा परम कहा गया है। इन दोनों में

---

१. पाद्मसंहिता, ज्ञानपाद, ४/१९-२१.

२. प्रसूते प्रकृतिर्भावान् प्रकृतिग्रसते पुनः।
ब्रह्मणः संभवे सृष्टिस्तदपाये तु विप्लवः।।
- परमसंहिता, २/१४.

३. प्रधानमूलमेतेषां प्रकृतिद्रव्यमेव च।
अव्याकृतमविद्या च तदेव व्यक्तमुच्यते।।
अव्यक्तबुद्ध्यहंकारभूतमात्राश्च पञ्च च।
इन्द्रियाणि दशैकं च महाभूतानि पञ्च च।।
स्थूलं सूक्ष्मं द्विधा क्षेत्रक्षेत्रज्ञश्च तथा परः।
इति तत्त्वान्यशेषाणि कीर्तितानि तवानघ।।
त्रिभिरेव गुणैरेते प्रकृतिस्थैस्समन्विताः।
सर्वे भावा भवन्त्येते श्रेष्ठा मध्यास्तथाऽधमाः।। - परमसंहिता, २/४-७.

भिन्नता है फिर भी अभिन्न जैसे दीखते हैं। प्रकृति परम पुरुष के नियोग से संसार की संरचना तथा संहार करती है क्योंकि अचेतन प्रकृति सृष्टि एवं संहार में असमर्थ है अस्तु, परमपुरुष ही सृष्टि और संहार करता है।[१]

सृष्टि के सन्दर्भ में परमात्मा की पाँच शक्तियों का उल्लेख है जो इस प्रकार है- परमेष्ठी, पुमान्, विश्व, निवृत्ति तथा सर्वात्म। ये शक्तियाँ पञ्चोपनिषदाख्य कही गयी हैं। इन्हीं शक्तियों के साथ देव परमव्योम में अवस्थित रहता है। ये शक्तियाँ क्रमशः शब्दादि में समाविष्ट होती जाती है- परमेष्ठी-शब्द में, पुरुष-स्पर्श में, विश्वात्म-तेजस् में, निवृत्ति-रस में और सर्वात्म-गन्ध में स्थित वर्णित है।[२] नारदीय संहिता ने भी इन पाँच शक्तियों का उल्लेख किया है।[३] ये पञ्चात्मक शक्तियाँ सूक्ष्म रूप से स्थित रहती हैं। ये जागतिक प्रपञ्च से अतीत, सनातन और योगगम्य बतायी गयी है। यह सूक्ष्म शरीर मुक्ति का हेतु बताया गया है। प्रकृति के योग से ये शक्तियाँ पञ्चदश रूप में हो जाती है। संक्षिप्त रूप में, त्रिगुण योनि से पाँच-पाँच शक्तियाँ विवेचित हैं जो अधोलिखित हैं-

सत्व गुण से- ज्येष्ठा, विद्या, कान्ति, शान्ति, श्रद्धा - ये निर्मला मानी गयी हैं।

रजोगुण से- वागीश्वरी, क्रिया, कीर्ति, लक्ष्मी तथा सृष्टि- ये सामला हैं।

तमोगुण से- मोहिनी, अविद्या, तमोवती, मृत्यु और माया- ये मलिना हैं।

त्रिगुणों के लक्षण इस प्रकार हैं- सत्त्वगुण-प्रकाशक, रजोगुण-क्रियात्मक तथा तमोगुण-आवरणात्मक है।[४] इन गुणों के संसर्ग और उद्रेक से ही यह चराचर जगत् विविध वैचित्र्य के रूप में दिखलायी पड़ता है। गुणों के कारण त्रिगुणात्मिका बुद्धि आठ प्रकार की बतायी गयी है जो इस प्रकार है- बुद्धि-सुखात्मिका (सत्त्व से) - धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य, दुःखात्मिका (रजस् से) अवैराग्य, मोहात्मिका (तमस से) अधर्म, अज्ञान त्रिविध अहंकार जो बुद्धि से प्रादुर्भूत होता है उससे जीव अनात्म को आत्म-पदार्थ की भांति देखने लगता है। यहाँ भी बुद्धि इन्द्रियादि की उत्पत्ति पाद्म की भाँति मान्य है।[५] तैजस अहंकार से

१. पाद्मसंहिता, २/१८-२७.
२. परमसंहिता, २/२९-३३.
३. नारदीयसंहिता, ५/८८-८९.
४. परमसंहिता, २/३४.
५. तत्रैव, २/३५-४५.

काल की उत्पत्ति, काल से दिशाओं की और भूत से तन्मात्राओं की उत्पत्ति बतायी गयी है। प्रथम शब्द-तन्मात्रा, द्वितीय स्पर्श-तन्मात्रा, तृतीय रूप-तन्मात्रा, चतुर्थ रस-तन्मात्रा एवं पञ्चम गन्ध-तन्मात्रा पूर्वोक्त ढंग से विवेचित हैं। पञ्च तन्मात्राओं से पञ्चभूत क्रमशः प्रादुर्भूत होते हैं। उन पञ्चभूतों से पूर्वोक्त क्रम से स्थूल शरीर प्रकट होते हैं।[1]

ब्रह्मसर्ग-

जयाख्य दृष्टया यह सृष्टि की प्रथमावस्था है। पौराणिक आख्यानों तथा मनुस्मृति की भाँति इस संहिता में भी ब्रह्मा को सृष्टि का कर्त्ता माना गया है। वासुदेव के नाभिकमल से ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं।[2] यह ब्रह्मा सम्पूर्ण ज्ञानों के ज्ञाता तथा अणिमा आदि शक्तियों के अधिष्ठाता माने जाते हैं।[3] इस ब्रह्मा को रजोगुण के प्रादुर्भाव से 'अस्मि' प्रत्यय की अनुभूति हुई अतः उन्होंने देव, मनुष्य, पशु आदि अनेक चेतन पदार्थों की सृष्टि की।[4] रजोगुण के आत्यन्तिक प्रभाव से ब्रह्मा सृष्टि रक्षण में असमर्थ होने लगे और वासुदेव समाधि निद्रा में समुद्र में निमग्न हो गये। सृष्टि के परिश्रम के कारण ब्रह्मा को प्रस्वेद हुआ जो कमल नाल से होता हुआ उदरस्थ हो गया जिससे अत्यन्त दुर्धर्ष मधु तथा कैटभ नाम दैत्यों का प्रादुर्भाव हुआ।[5] उत्पन्न होते ही दैत्यों ने सम्पूर्ण पृथ्वी पर अधिकार कर लिया। वेद का अपहरण कर लिया। वेद के अपहरण करते ही ब्रह्मा की सारी शक्तियाँ नष्ट हो गयीं। विश्व में अधर्म की स्थापना होने लगी। अज्ञानान्धकार व्याप्त हो गया और ये दोनों दुर्धर्ष दैत्य पुनः जल में प्रविष्ट हो गये।[6] अत्यन्त परिताप से सन्तप्त होकर मुनियों ने ब्रह्मा का उद्बोधन किया। तदनन्तर ब्रह्मा ने वासुदेव की स्तुति की। भगवान् ने पाताल से वेदों का उद्धार किया तथा मधु कैटभ का मंत्रमय रूप धरकर वध किया।[8] उनके शरीर से प्रवाहित हुए मेद से पृथ्वी परिपूर्ण हो गई तभी से पृथ्वी का नाम मेदिनी पड़ा।[9] इस प्रकार अनेकों सृष्टि का क्रम प्रारम्भ हुआ।

---

१. पाद्मसंहिता, २/४७-५६.
२. जयाख्यसंहिता, पटल २/३५.
३. तत्रैव, २/३७ बी - ३८.
४. तत्रैव, १/३९-४२.
५. तत्रैव, २/४५ बी - ४६.
६. तत्रैव, २/५४-५७ ए.
७. तत्रैव, २/५७-६७.
८. तत्रैव, २/७०-७१.
९. तत्रैव, २/७३.

विष्णुतिलकसंहिता में भी अत्यन्त संक्षेप में चतुर्मुख सृष्टि का उल्लेख जयाख्य की भाँति ही किया है।[1]

नारदीयसंहिता का अभिमत है कि, चराचर जगत् अनिरुद्ध से उत्पन्न होता है। भगवान् अनिरुद्ध योगनिद्रा में लीन थे, उनकी नाभि में पद्म की सृष्टि हुई। वह पद्म सहस्रदल था। वही नाभि का आदि पद्म जगत् का कारण हुआ। देव का पद्मनाभ नाम होने का कारण नाभि में पद्म का होना ही स्वीकारा गया है। इतना ही नहीं, सभी देवों का भी कारण पद्म ही हुआ। इसीलिए सबका आसन पद्म ही होता है। उपर्युक्त पद्म के अन्तर्गत हिरण्यमय अण्ड की स्थापना की गयी और उससे हिरण्यगर्भ हुआ। वह सर्वपुरातन, सर्वविद्या सम्पन्न महाशक्तिशाली कहा गया है। उसी ने पञ्चभूतों तथा महान् भुवनों की सृष्टि की। चतुर्मुख ब्रह्मा की सृष्टि का यही विधान है। इसके विपरीत क्रम से संहति कही गयी है। इसी तरह सृष्टि एवं संहार भगवान् वासुदेव बालक्रीडा की भाँति करते हैं। वासुदेव की माया से मोहित सारा जगत् रहता है और जन्तु अपने हित के विषय में कुछ नहीं जान पाता।[2]

पाद्मसंहिता ने भी इस प्रकार की सृष्टिक्रम को स्वीकार किया है किन्तु, जयाख्य संहिता से कुछ भिन्न है। पाद्मसंहिता में अनिरुद्ध पाद से सपरिकर कुमुदादि भूतेशों का उत्पन्न होना अभिहित है। यहाँ अनिरुद्ध सहस्र-शीर्ष-चरण-हस्त-नेत्रों से युक्त कहा गया है। इस अनिरुद्ध के तत्तदंगों से तत्तद्देवताओं की उत्पत्ति का वर्णन है। यथा- अनिरुद्ध के मुख से इन्द्र, वह्नि, छन्द (वेद) और षडंग की उत्पत्ति, मूर्धा से स्वर्ग (आकाश), चक्षु से सूर्य, मन से चन्द्रमा, श्रोत्र से दिशाएँ, नाभि से नभ और पादों से भूमि की हुई। उसके प्राण से वायु, अपान से मृत्यु, केश से अम्बुद, धी से काल, रोमकूप से वनस्पतियाँ उत्पन्न हुईं। रोम से बहुदक्षिणायुक्त सारे यज्ञों का उद्भव हुआ। अनिरुद्ध के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, ऊरु से वैश्य, चरणों से शूद्र का उत्पन्न होना कहा गया है।[3] उपर्युक्त अनिरुद्ध के स्वरूप की समता वेदोक्त पुरुष से की जा सकती है।[4]

अनिरुद्ध के अंश से सुमोहिनी माया की उत्पत्ति होती है। अनिरुद्धांश से प्रादुर्भूत पद्मनाभ को नागपर्यंकशायी कहा गया है। उनकी नाभि से पद्म एवं उस पद्म में हिरण्यमय अण्ड एवं उससे चतुर्मुख की सृष्टि का उल्लेख है। चतुर्मुख

१. विष्णुतिलकसंहिता, २/४०-४३.
२. नारदीयसंहिता, १/६३-७३.
३. पाद्मसंहिता, ज्ञानपाद, २/४०-४५.
४. जयाख्यसंहिता, ४/३८.

को सृष्टि का कारण स्वीकारा गया है। चतुर्मुख ने सदानन्दादि की सृष्टि स्वयं की किन्तु, वे सभी वीतराग विमत्सर होकर योगी हो गये। उनके वैराग्य के कारण स्रष्टा को बहुत क्रोध हुआ। उस क्रोधाग्नि से युगान्तकारी रुद्र की उत्पत्ति हुई। वह रुद्र महाशक्तिशाली अर्द्धनारीश्वर रूप में था। उसने शरीर को विभक्त कर नर एवं नारी का प्राकट्य किया। उससे कोटि मिथुन रुद्रों का प्रादुर्भाव हुआ। वे सभी चतुर्भुज, शूलधारी तथा त्रिनेत्र थे। इन रुद्रों में एकादश रुद्र प्रधान थे पर, यह रुद्र-सृष्टि भी निरर्थक ही सिद्ध हुई। यह देखकर ब्रह्मा ने मरीच्यादि छः ऋषियों की सृष्टि किया। इन छः ऋषियों से समस्त त्रैलोक्य चराचर जगत् का प्रादुर्भाव हुआ।[१]

जीवात्मा तथा मोक्ष का स्वरूप-

जयाख्यसंहिता में जीव तथा मोक्ष के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। इसका कारण यह है कि, जो बन्धन में होता है, उसी का मोक्ष होता है। मोक्ष का अभिप्राय है, उस परब्रह्म के सम्बन्ध में सत्य ज्ञान प्राप्त करना जिसने त्रिविध सृष्टि का सम्पादन किया है।[२] मोक्ष का अर्थ है; आवागमन से मुक्ति या दूसरे शब्दों में ब्रह्म सायुज्य की प्राप्ति।[३] आवागमन से मुक्ति बिना ब्रह्म ज्ञान संभव नहीं है[४] और ब्रह्म ज्ञान का अभिप्राय है; जीवात्मा तथा परमात्मा की एकता का बोध।[५] इस बोध के लिए ध्यान का अनवरत अभ्यास तथा पुण्य कर्मों का सम्पादन विहित है। ये क्रियायें किसी दैवी शक्ति या किसी अन्य की सहायता की अपेक्षा नहीं रखतीं। जीव तथा ब्रह्म के अभेद बोध के लिए दो बातें अत्यन्त आवश्यक मानी गयी हैं जिन्हें हम दो प्रकार का ज्ञान कह सकते हैं- क्रिया तथा सत्ता।[६] क्रियात्मक ज्ञान का अभिप्राय है- शील तथा पुण्य कर्मों का सम्पादन। श्रीभगवान् का कथन है कि क्रियात्मक ज्ञान के पूर्व नियम का अभ्यास आवश्यक है। इसके अनन्तर यम का अभ्यास किया जाता है जो स्वाभाविक है।[७] दूसरे प्रकार का ज्ञान यौगिक साधनाओं से प्राप्त होता है।

---

१. पाद्मसंहिता, ज्ञानपाद, ३/१-१५.
२. जयाख्यसंहिता, ४/३८.
३. तत्रैव, ४/५२ ए.
४. "अज्ञाते भगवत्तत्त्वे दुर्लभा परमा गतिः", तत्रैव पटल १/३८ ए.
५. "ब्रह्माभिन्नात्ततो ज्ञानात् ब्रह्म संयुज्यते परम्", तत्रैव, ४/५१ ए.
६. "ज्ञानं तु द्विविधं विद्धि सत्ताख्यं च क्रियात्मकम्।
सत्ताख्यस्य क्रियाख्येन अभ्यस्तेन भवेद्धृतिः।।" - तत्रैव ४/४०.
७. तत्रैव, ४/४२.

ध्यान तथा समाधि के अभ्यास से जीव ब्रह्म की एकता का ज्ञान होता है। ब्रह्म ज्ञान के ये ही दो प्रसिद्ध साधन हैं।[१]

एक प्रश्न खड़ा होता है कि, यह मोक्ष किसको प्राप्त होता है? इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा गया है कि अनादिवासना ये युक्त जीवों की उत्पत्ति होती है।[२] इसी प्रकार का वर्णन बृहद्ब्रह्मसंहिता में भी है।[३]

इस वासना का आदि नहीं है, वह अनादि है। जीव प्रत्यावर्त्तित होकर ब्रह्म में मिल जाता है। यही मोक्ष या अपुनर्भवता है।[४] जीव की परिभाषा करते हुए यह बताया गया है कि, आत्मा जो ज्ञानवान तथा चेतन स्वरूप है उसमें इच्छा, आशा आदि दोषों का प्रादुर्भाव होना इसलिए संभव है कि, सृष्टि में सत्व, रज तथा तम त्रिगुणों के मिश्रण होने से उसमें अज्ञान का प्रादुर्भाव हो जाता है। जीव ही पृथ्वी से चिपक जाता है और धीरे-धीरे वही महत् अहंकार तथा अन्य सर्जक तत्त्वों के रूप में विकसित हो जाता है किन्तु, उसे यह ज्ञान नहीं होता कि वह इन तत्त्वों से भिन्न है और इसीलिए वह विकासक्रम में तत्त्वों की भाँति कार्यशील हो जाता है।[५] यही जीव तथा ब्रह्म के भेद का कारण है जबकि, ब्रह्म आनन्द लक्षण वाला, सभी हेय कर्मों से वर्जित तथा परमगति वाला है।[६] वही जीव के भी गुण है किन्तु, अज्ञान के कारण उसे उसका बोध नहीं होता।

इस प्रकार अज्ञान नाश तथा मोक्ष प्राप्ति के लिए जीव को आराधना करना आवश्यक है। उसका बोध करने के लिए यह आवश्यक है कि, परमात्मा के स्थूल स्वरूप का बोध किया जाय क्योंकि बिना इस प्रकार के बोध के आस्था तथा तद्विषयक ज्ञान असंभव है। इसीलिए भगवान् की अर्चना मन्त्र रूप तथा मूर्ति रूप में की जाती है।[७] मन्त्र वास्तव में भगवान् के अंश ही हैं और मूर्तियाँ उसके व्यक्तित्त्व के अंश हैं।[८] अक्षर का मूल परब्रह्म है, उन्हीं (अक्षरों) के मेल से मंत्र का निर्माण होता है। ये मन्त्र ब्रह्म से प्रादुर्भूत होने के कारण उसके प्रतिनिधि हैं अतः इन्हीं मन्त्रों के माध्यम से उपासना करना तर्कसंगत है।

---

१. जयाख्यसंहिता, ४/५०.
२. "अनादिवासनायुक्तो जीव इति कथ्यते" - तत्रैव, ४/५१ बी.
३. बृहद्संहिता, ४/८/७१.
४. जयाख्यसंहिता, ४/५२ ए.
५. तत्रैव, ४/५७ बी - ५८ ए.
६. तत्रैव, ६० बी - ६१.
७. तत्रैव, ५/२९-३०.
८. तत्रैव, ६/५९.

एक प्रश्न उठाया गया है कि, यदि ब्रह्म अविकारी है और परिवर्तनरहित है तो किस प्रकार से मन्त्र का प्रादुर्भाव हुआ और वह प्रतिमा रूप में कैसे आ गया।[1] इसके उत्तर में यह प्रतिपादित किया गया है कि, वह सर्व शक्तिमान है तथा अलौकिक शक्तियों से सम्पन्न है। उसके इन्हीं विशिष्ट शक्तियों से बिना विकार के ही उसमें से मन्त्र का प्रादुर्भाव हो जाता है। अहिर्बुध्न्यसंहिता में अक्षरों की उत्पत्ति के सन्दर्भ से मन्त्र का प्रादुर्भाव हो जाता है। अहिर्बुध्न्यसंहिता में अक्षरों की उत्पत्ति के सन्दर्भ में विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। इतना ही नहीं, इन्हीं से उत्पादक शक्ति महत् आदि का प्रादुर्भाव भी माना गया है।[2] पाञ्चरात्रसंहिताओं का यह सर्वमान्य सिद्धान्त लगता है जिसका वर्णन अहिर्बुध्न्यसंहिता में है। अपनी शक्ति से क्षुभित होकर ब्रह्म अपने को अग्नि तथा सोम के रूप में आविर्भूत करता है और ये ही दोनों क्रमशः ह्रस्व तथा दीर्घ स्वरों के जन्म होते हैं। सोम को आह्लाद कहा गया है जबकि सूर्य प्रकाश अथवा ज्ञान है। ह्रस्व दीर्घ स्वरों के मेल को ही अग्नि सोम कहा गया है जो परब्रह्म का स्वरूप माना गया है। अग्नि सोम को इसीलिए सृष्टिकर्ता, सृष्टिरक्षक तथा सृष्टि का विनाशक माना गया है। इन्हें ही पुमान् कहा गया है।[3]

इसी पुमान् से व्यञ्जनों की उत्पत्ति मानी गयी है। ये अक्षर ही सर्जक तत्त्व है जिनसे महत् से लेकर पृथ्वी तक की उत्पत्ति होती है।[4] पुमान् सृष्टि के मूल कारण प्रधान का नियामक माना गया है। इसी स्वत्त्व से इसको चैतन्य लाभ होता है और तब अनेक वस्तुओं को उत्पन्न करने की इच्छा के कारण उसे पुरुषेश्वर कहा जाता है।[5] जब वह सम्पूर्ण भूमण्डल पर व्याप्त होता है तो, अपने को सृष्टि कर्ता मानने लगता है और सम्पूर्ण सृष्टि को अपनी कृति मानता है। इसीलिए उसे त्रैलोक्येश्वर कहा जाता है।[6] उसी भाँति प्रलय काल में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उसी क्रम से ब्रह्म में लीन हो जाता है और उसी अवस्था को प्राप्त हो जाता है जो सृष्टि के पूर्व थी। उस समय ब्रह्म सत् चित् तथा आनन्द रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। डॉ. बी. भट्टाचार्य का मानना है कि, जयाख्यसंहिता में परिणामवाद का सिद्धान्त माना गया है, विवर्तवाद या अध्यासवाद का

---

१. जयाख्यसंहिता, ६/२२० बी - २२१ ए.
२. अहिर्बुध्न्यसंहिता, अध्याय-१६.
३. जयाख्यसंहिता, ६/२२३-२२५.
४. तत्रैव, ६/११.
५. तत्रैव, ६/२२७.
६. तत्रैव, ६/२२८.
७. जयाख्यसंहिता, अंग्रेजी भूमिका, पृ. २६.

नहीं।[७] पाञ्चरात्र परिणामवाद भी एक विशिष्ट प्रकार का है। यद्यपि यह सांख्य के प्रकृति से विकृति के विस्तार-क्रम को मानता है परन्तु, यह स्वीकार नहीं करता कि, बिल्कुल स्वतन्त्र प्रकृति में पुरुष के संयोग से उसकी मुक्ति के लिए विकार होता है। पाञ्चरात्रदर्शन में तो स्वयं नारायण का स्वरूप ही प्रकृति और विकृति है। इसीलिए द्वैत और भेद के लिए कोई स्थान ही नहीं है।

जयाख्यसंहिता में भक्त को योगी कहा गया है। अन्तिम ध्येय पर पहुँचने के लिए दो विधान वर्णित है- एक ध्यान-समाधि द्वारा और दूसरा मंत्र-जप की साधना द्वारा। योग के प्रसंग में यह निर्देश है कि, योगी को अपने इन्द्रियों पर पूरा नियंत्रण रखना चाहिए और सभी प्राणी से द्वेष-रहित होना चाहिए।[१] अत्यन्त विनम्रता के साथ विजन देश में बैठकर प्राणायाम द्वारा अपने चित्त पर नियंत्रण करने का अभ्यासवर्णित है। प्राणायाम की तीन विधियाँ बतायी गयी है- प्रत्याहार, ध्यान तथा धारणा।[२] पुनः योग के तीन प्रकारों का उल्लेख किया गया है जिन्हें प्राकृत, पौरुष तथा ऐश्वर्य कहा गया है[३] किन्तु, इनके अर्थ को स्पष्ट नहीं किया गया है। डॉ. एस.एन. दास गुप्ता[४] का कहना है कि, इनका अर्थ तीन विषय पर ध्यान केन्द्रित करना है जैसे कि, प्रकृति के मूल तत्त्वों पर, पुरुष पर तथा ऐश्वर्य विधायिनी सिद्धियों के दिलाने वाले योग पर। योग में चार प्रकार के आसनों का वर्णन उपलब्ध होता है जिनके नाम क्रमशः- पर्यङ्क, कमल, भद्र तथा स्वस्तिक है।[५] योग का परम उद्देश्य मनोनिग्रह है, उसे दो प्रकार का बताया गया है। प्रथम वातावरण से उत्तेजित मन की प्रवृत्तियों पर निग्रह करना और दूसरा मन की उन प्रवृत्तियों पर निग्रह करना, जो उसमें स्वाभाविक रूप से है।[६]

सत्त्व गुण के उद्रेक से ही मन को किसी विषय पर केन्द्रित किया जा सकता है।[७] अन्य वर्गीकरण के आधार पर, सकल, निष्कल और विष्णु अर्थात्

१. "भूतद्रोहपरित्यागी आस्ते यः संयतेन्द्रियः।" - जयाख्यसंहिता, ३३/३ए.
२. तत्रैव, ३३/७-१० ए.
३. योगोऽपि त्रिविधः प्रोक्तस्तं च कार्त्स्येन मे शृणु।
प्राकृतं पौरुषं चैव ऐश्वर्यं च तृतीयकम्।। - तत्रैव, ३३/१२ बी - १३ ए.
४. भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग ३, डॉ. एस.एन. दासगुप्त, हिन्दी अनुवाद, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, १९७४, पृ. २८.
५. योगासनानि चत्वारि योगपट्टेन बन्धयेत्।
पर्यङ्कं कमलं वाऽपि भद्रं वा स्वस्तिकं दृढम्।। - जयाख्यसंहिता, ३३/१७ बी - १८ ए.
६. द्विविधास्ते तु विज्ञेयास्सन्निकृष्टा मनोगताः।
सन्निकृष्टाः स्थानगताश्चित्तोपा (श्चैत्ता वा?) सनया कृताः।। - जयाख्यसंहिता, ३३/२६
७. सात्विकं कथ्यते चित्तं संश्लिष्टं लक्ष्यगोचरे।। - तत्रैव, ३३/३० बी.

शब्द, व्योम और स्वविग्रह नामक तीन प्रकार के योग का भी वर्णन वर्णित है।[1] सकल या स्वविग्रह नामक योग में योगी अभीष्ट देवता की स्थूल मूर्ति पर ध्यानस्थ होता है तत्पश्चात्, क्रम से, जब वह ध्यान में अभ्यस्त हो जाता है तब वह दीप्त गोल चक्र की कल्पना कर ध्यान केन्द्रित करता है, तदनन्तर मटर जैसे छोटे परिणाम की वस्तु पर, पुनः अश्व के रोम जैसी सूक्ष्म वस्तु पर, इसके पश्चात् सिर के बाल पर, फिर शरीर के रोम पर ध्यान के निरन्तर अभ्यास की पूर्णता से ब्रह्मरन्ध्र का द्वार उसके लिए खुल जाता है।[2] निष्कल योग में योगी अन्तिम सत्य का ध्यान करता है जिससे वह स्वयं ब्रह्म रूप है, यह ज्ञान होता है।[3] तीसरे प्रकार के योग में मन्त्रों पर ध्यानस्थ रहना पड़ता है जिसके द्वारा भी योगी को अन्तिम सत्य की प्राप्ति होती है। योगाभ्यास द्वारा योगी अन्त में ब्रह्मरन्ध्र के द्वार से निकल जाता है, अपना शरीर त्याग देता है तथा मूल सत्य रूप वासुदेव से समरस हो जाता है।[4]

---

१. जयाख्यसंहिता, ३३/३२ बी - ३३ ए.
२. तत्रैव, ३३/३४-४४.
३. जयाख्यसंहिता, ३३/४५-४६ ए.
४. निरुद्धं सन्धिमार्गं तु कृत्वा देहसमीरणम्।
मुक्त्वा सद्ब्रह्मरन्ध्रेणोत्क्रान्तिकरणेन तु।।
ध्यात्वा परित्यजेद्देहं नित्याभ्यासरतो यदि।
स ब्रह्मपरमभ्येति वासुदेवाख्यमव्ययम्।।
- जयाख्यसंहिता, ३३-५८-५९.

मन्त्र-विमर्श

भारतीय विचारधारा का सशक्त तथा सार्थक तत्त्व 'मन्त्र तत्त्व' है। प्रायः सभी धर्मों में मन्त्र-शक्ति की महत्ता स्वीकार की गयी है। ग्रीक, इटली तथा मिस्र आदि देशों में मन्त्र विद्या के प्रमाण प्राप्त होते हैं। 'नेशन्स ऑफ वर्ल्ड' में अफ्रीका की आदिम जातियों के मध्य भी मन्त्रों के प्रयोग का विवरण मिलता है। भारतीय जीवनपद्धति में मन्त्र-शक्ति का साम्राज्य सर्वत्र दिखलायी पड़ता है। निगमागम परम्पराओं में मन्त्र-मातृकाओं का प्रभाव सुस्पष्ट है। तन्त्रविधान में तो मन्त्र ही मुख्यमन्त्री होता है। पाञ्चरात्रागम-ग्रन्थों में भी मन्त्रस्वरूप का विशद् विवेचन मिलता है। जयाख्यसंहिता में मन्त्र-शब्दार्थ, स्वरूप, उत्पत्ति, उनके प्रतीकात्मक संकेतों, शक्ति तथा सामर्थ्य का विवरण वर्णित है। आनन्दमय परब्रह्म वासुदेव की मन्त्रमूर्त्यात्मना उपासना ही निःश्रेयसाप्ति और अभ्युदयाप्ति के लिए उपादेय है।

जयाख्यसंहिता में मन्त्र की निरुक्ति करते हुए कहा गया है कि, जिसके मनन अर्थात् ध्यान करने से जो रक्षा करते हैं तथा अपना दिव्य शक्तियुक्त सामर्थ्य प्रदान करते हैं, वे मन्त्र कहलाते हैं।[१] मन्त्र भगवान् (विष्णु) के अव्यक्त (Formless) तथा व्यक्त (menifested form) रूप हैं। प्रथम को 'निष्कल' तथा दूसरे को 'सकल' की संज्ञा दी गयी है। 'निष्कल' मन्त्रों द्वारा मोक्ष और 'सकल' मन्त्रों द्वारा आनन्द की उपलब्धि होती है।[२] अहिर्बुध्न्यसंहिता का उद्‌घोष है 'मन्त्र शुद्ध चैतन्य रूप विष्णु की शक्ति है।'[३]

जयाख्यसंहिता का कहना है कि, भगवान् स्वयं मन्त्ररूप शरीर धारण करते हैं। मधुकैटभ के हनन के लिए भगवान् ने मन्त्रमय रूप धारण किया था, ऐसा वर्णन प्राप्त होता है।[४] भगवान् का स्वयं कथन है- सम्पूर्ण भुवन का

---

१. मननान्मुनिशार्दुल त्राणं कुर्वन्ति वै ततः। ददते पदमात्मीयं तस्मान्मन्त्राः प्रकीर्त्तिता।।- जयाख्यसंहिता, १३/२०३.

२. जयाख्यसंहिता, ४/२६-३३.

३. 'साक्षात् विष्णोः क्रिया शक्तिः शुद्ध संविन्मयीपरा', अहिर्बुध्न्यसंहिता, १६.

४. जयाख्यसंहिता, २/५७.

आधार त्रैलोक्य का ऐश्वर्य देने वाला मेरा यह वर्णमय पिण्ड (शरीर) मन्त्र विग्रह है।[१]

जयाख्यसंहिता का अभिमत है कि, मन्त्र नारायणीय शक्ति है तथा ब्रह्मव्यापक रूप से मन्त्र में विद्यमान है।[२] इस प्रकार पृथ्वी से लेकर परतत्त्व तक सभी मन्त्रात्मक हैं-

वाचि मन्त्राः स्थितास्सर्वे वाच्या मन्त्रे प्रतिष्ठताः।
मन्त्ररूपात्मकं विश्वं स बाह्याभ्यान्तरं ततः।।-जयाख्यसंहिता, १३/२०६

मन्त्रों की उपलब्धियों के विषय में संहिता में निर्दिष्ट है कि, चराचर जगत् को प्रकाश देने वाली यौगिक पराक्रम से भोग तथा मोक्ष प्रदायिनी मन्त्ररूपी शक्ति का उद्भावन स्वयं भगवान् द्वारा हुआ है।[३] यह मन्त्रमय शक्ति दोषों का क्षय करने वाली, संसार की पालन करने वाली तथा जीवात्मा द्वारा पूर्वोपार्जित कर्मबन्धन को विनष्ट करके भक्तों को अतिशीघ्र मोक्ष प्रदान करती है।[४] मन्त्र से ब्रह्म का ज्ञान होता है। यह सर्वसिद्धि प्रदायक है। सभी विघ्नों को हटाकर अभिलिषित वस्तुओं को देने वाले हैं। ये राजभोग तथा उत्तमसिद्धि प्रदायक हैं।[५] संहिता में यह प्रतिपादित है कि, परतत्त्व वाक् से अतीत, सभी उपमाओं से रहित, स्वसंवेद्य, अतीन्द्रिय तथा सत्तात्मक स्वरूपवान् है, मन्त्रों द्वारा ही यह अभिव्यक्त होता है[६] इसीलिए मन्त्रों को ब्रह्मस्वरूप स्वीकारा गया है।[७] संकर्षणसंहिता में परमज्ञान मन्त्र लक्षण को परिभाषित करते हुए उल्लिखित है-

मननात् त्रायते सद्य इति वै मन्त्रलक्षणम्।[८]

अर्थात् जिसके मनन से तत्काल त्राण (रक्षा) हो वे मन्त्र हैं। सनत्कुमारसंहिता का उद्घोष है। मन्त्र- ज्ञान, ज्ञानी का परमज्ञान है। समस्त

१. अशेषभुवनाधारं त्रैलोक्यश्वर्यदायकम्। एष वर्णमयः पिण्डपरो मे मन्त्र विग्रहः। - जयाख्यसंहिता, ६/२१.
२. तत्रैव, १४/५७.
३. तत्रैव, ४/३०-३१.
४. तत्रैव, ४/३२-३३.
५. तत्रैव, ५/३१-३६.
६. जयाख्यसंहिता, ५/२९-३१.
७. जयाख्यसंहिता, १४/५६.
८. संकर्षणसंहिता, मन्त्ररात्रम्, १/६.

क्रियायें तथा सम्पूर्ण जगत् मन्त्रमूलक है। भगवान् विष्णु मन्त्रमय है। त्रैलोक्य में मन्त्र के बिना कोई क्रिया नहीं है। सर्वकर्म प्रसाधक मन्त्र ही शब्दब्रह्म है।[१]

वाक् तत्त्व समस्त प्रकार से सर्वत्र व्याप्त है। जहाँ तक ब्रह्म तत्त्व है वहाँ तक वाक् तत्त्व भी। पाञ्चारात्रिक संकर्षणसंहिता में शब्दसृष्टिमूलरूप मन्त्रशास्त्र का परब्रह्मात्मिका शक्ति नादात्मिका परा, पश्यन्ती, मध्यमा-वैखरी रूप में निर्दिष्ट है। संहिता में वर्ण मातृकाओं की उत्पत्ति क्रम में प्रथम प्रणव (अ-उ-म) वर्णत्रय उत्पन्न होता है। अकार से स्वरों की उत्पत्ति, उकार से कादिमावसान स्पर्शसंज्ञक वर्णों का उदयन तथा मकार शेषवर्णों के उत्पत्तिक्रम का निदर्शन प्राप्त होता है।[२]

मन्त्र-रहस्य गुह्यातिगुह्य विद्या है। पाञ्चरात्र सम्प्रदाय में यह निर्दिष्ट है- 'मन्त्रो नान्यस्य वक्तव्यः।'[३] समस्त ब्रह्माण्ड में जो व्यक्त-अव्यक्त स्पन्दन है वही सर्वाङ्ग में परिव्याप्त पञ्चभूतात्मक सृष्टि में है। प्रणव ही वह ध्वनि है। प्रणव के तीनों अक्षर अकार विष्णुवाचक, उकार अवधारणवाचक तथा मकार जीववाचक है।[४] जयाख्यसंहिता में प्रणव का उल्लेख प्राप्त होता है।[५]

जयाख्यसंहिता का कहना है कि, मन्त्रजाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय क्रम से उपस्थित होते हैं एवं विलोम क्रम से निवृत्त होते हैं। बाह्य विषयक जगत् जागृत्-स्वरूप है तथा इसकी उत्पत्ति अनित्य से कही गयी है जिसके लिए यह संसार क्षणभङ्गुर स्वप्न सदृश है, वह स्वप्नदशा है। सुषुप्ति दशा को शान्तावस्था की संज्ञा दी गयी है। स्वप्नवृत्ति से परे शक्तिरूप विष्णु को प्राप्त करके सुषुप्ति तुर्यावस्था हो जाती है। उस शक्ति के साथ साम्यता होने पर मन्त्रातीत परमन्त्र का स्थूल-सूक्ष्म रूप अद्वय हो जाता है।[६]

भगवान् का परमानन्द, व्यापक तथा अतीन्द्रियरूप 'पर' नाम से प्रसिद्ध है। इसीके अनुरूप मूलमन्त्र भी अनिरुद्ध और सप्ताक्षर आदि मन्त्र 'पर' रूप से जाने जाते हैं। इस प्रकार स्थूल, सूक्ष्म तथा पर के क्रम से मन्त्रों की शक्ति तथा सामर्थ्य को विविध प्रकार से विवेचित किया गया है।[७]

---

१. (क) सनत्कुमारसंहिता, ब्रह्मरात्रम्, ११/१-३.
   (ख) संकर्षणसंहिता, मन्त्ररात्रम्, १/१२.
२. संकर्षणसंहिता, मन्त्ररात्रम्, १/२०-५३.
३. विश्वामित्रसंहिता, ९/७६.
४. विश्वामित्रसंहिता, ६/१, १९-२१.
५. जयाख्यसंहिता, २६/१०१.
६. तत्रैव, १४/५५-६३.
७. तत्रैव, १६/१८-४६ क.

मन्त्र का निर्माण मातृकाओं से होता है। 'मातृकावर्णरूपिणी' स्वीकारी गयी हैं[१] अर्थात् वर्णरूप को मातृका कहते हैं। जयाख्यसंहिता में कहा गया है- **'मंन्त्रात्मा भगवच्छक्तिः सूत्रमन्त्राक्षराणि वै।'**[२] अर्थात् मन्त्रात्मा भगवच्छक्ति अक्षर रूप में है। संहिता में यह भी उल्लिखित है कि, भगवान् के नाना रूपों की भावना 'अ' से शुरू कर 'क्ष' अक्षरों के रूप में करनी चाहिए।[३] तन्त्रविदों के अनुसार देवनागरी लिपि के सभी वर्ण (अक्षर) मातृका रूप है।[४] पं. शिवशंकर अवस्थी का कहना है 'वर्ण' पृथक् रूप में तथा वर्णमाला स्व समुदिक रूप में मन्त्र स्वरूप ही है।[५]

निगमागम चिन्तन का चमत्कार अक्षरों पर ही आधारित है। निगम साहित्य के अनुसार अक्षर स्वरूप वाग्देवी का सर्वप्रथम अविर्भाव हुआ। यह वेदों की माता अमृत की नाभि है।[६] स्वच्छन्दतन्त्र मातृका की महिमा गाते हुए कहता है 'न विद्या मातृकापरा।'[७] अर्थात् मातृका से परे कोई विद्या नहीं है। लक्ष्मीतन्त्र का कहना है कि, जैसे भूखे बालक माता की अपेक्षा रखते हैं उसी भाँति सभी देवों को मातृका रूप वर्णों की अपेक्षा होती है। ये मातृकाएँ मन्त्रों की योनि (उत्पत्तिस्थान) हैं। विद्या का स्थान है। तत्त्वों की तथा तात्त्विकों एवं ज्ञानों की प्रसवस्थली हैं-

यथा हि क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासते।
एवं सर्वे सुरा देवीं मातृकां पर्युपासन्ते।।
अयं योनिर्हि मन्त्राणां विद्यानां जन्मभूरियम्।
तत्त्वानां तात्त्विकानां च ज्ञानानां प्रसवस्थली।।

-लक्ष्मीतन्त्रम्, २०/५१-५२.

जयाख्यसंहिता ने मन्त्र-निरूपण-क्रम में वर्णों की उत्पत्ति-क्रम स्पष्टतया प्रतिपादित है। स्वर वर्णों की उत्पत्ति क्रम में स्वरों का आदि वर्ण 'अ'कार अव्यय कहा गया है। अकार से इकार की, इकार से उकार की, उकार से ऋकार की, ऋकार से लृकार की, लृकार से एकार की, एकार से ओकार की, ओकार से अंकार की उत्पत्ति कही गयी है। इन्हीं आठ वर्णों से तत्तद् आठ दीर्घ

१. ललितासहस्रनाम, श्लोक १६.
२. जयाख्यसंहिता, १४/४१.
३. तत्रैव, ६/३२-५८.
४. तन्त्रसिद्धान्त और साधना- देवदत्त शास्त्री, पृ. १८३.
५. मन्त्र और मातृकाओं का रहस्य, पृ. २०६.
६. वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य वेदानां माता अमृतस्य नभिः- तैत्तिरीयब्राह्मण, २/८/८/५.
७. स्वचछन्दतन्त्र, ११/१९९.

वर्णों की उत्पत्ति होती है। यथा- अकार से आकार की, इकार से ईकार की, उकार से ऊकार की, ऋकार से ॠकार की, लृकार से लॄकार की, एकार से ऐकार की, ओकार से औकार और अंकार से अःकार का क्रम निर्दिष्ट है। ये सोलह अक्षर अग्निषोमात्मक प्रभु के स्वरूप है।[1]

अग्निसोमात्मक वर्ण- अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, लॄ, ए, ऐ, ओ, औ, अं तथा अः हैं।

स्वरवर्णों की उत्पत्ति के अतिरिक्त व्यञ्जन वर्णों की उत्पत्ति का भी क्रम निर्दिष्ट है। कादिमान्त व्यञ्जनवर्ण क्रमशः जो पञ्चवर्ग है, वे पृथ्वी, पुरुष आदि विभिन्न तत्त्वों के प्रतीक हैं। य, र, ल तथा व ये चारों वर्ण क्रमशः जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय स्वरूप हैं अर्थात् ब्रह्म की स्थिति इन चारों अवस्थाओं में मानी जाती है। श से क्ष अर्थात् श, ष, स, ह तथा क्ष में वह ब्रह्म तुरीयातीत रूप में स्थित होता है। संहिता का कहना है कि वर्ण-स्वरूप दिव्य परमपुरुष का अनुभव मात्र पुस्तकों से सम्भव नहीं है बल्कि इसके लिए मन्त्रोद्धार की साधना आवश्यक है क्योंकि ब्रह्म का वर्णरूप शरीर चार वर्णों में विभक्त है जो उन अव्यात्मक वर्णों को धारण करके मन्त्रों का उद्धार करता है।[2]

मन्त्रोद्धार विधि क्रम में प्रत्येक वर्णों का प्रत्यक्ष निर्देश न कर उनकी (मातृकाओं) को वर्णों में विभाजित तत्तदवर्गस्थ प्रत्येक वर्ण की विविध संज्ञाएँ दी गई हैं जिनका स्वरूप अधोलिखित है-

क्रमांक	वर्ण	संज्ञायें
१.	अ	अप्रमेय, प्रथम, व्यापक।
२.	आ	आदिदेव, आनन्द, गोपन।
३.	इ	राम, इष्ट, इद्ध।
४.	ई	पञ्चबिन्दु, विष्णुमाया, द्विजाधिप।
५.	उ	भुवन, उद्दाम, उदय।
६.	ऊ	ऊर्जस्, लोकेश, प्रज्ञाधार।
७.	ऋ	सत्य, ऋतधामा, अङ्कुश।
८.	ॠ	विष्टर, ज्वाला, प्रसारण (प्रधा)।
९.	लृ	लिङ्गात्मा, भगवान्, तारक।
१०.	लॄ	दीर्घघोण, देवदत्त, विराट्।

---

१. षोडशाक्षर आद्यस्तु अकाराद्यो द्विजोत्तम। विसर्गान्तस्थितस्तस्मिन्नग्निषोमात्मकः प्रभुः।।
- जयाख्यसंहिता, ६/११.

२. जयाख्यसंहिता, ६/१०-२४.

११.	ए	त्रयस्र, जगद्योनि, अविग्रह।
१२.	ऐ	ऐश्वर्य, योगधाता, समैरावण।
१३.	ओ	ओतदेह ओदन, विक्रमी।
१४.	औ	और्व, भूधर, ओषध।
१५.	अं	त्रैलोक्यैश्वर्यद, व्यापी, व्योमेश।
१६.	अः	सृष्टिकृत, अकार, परमेश्वर।
१७.	क	कमल, कराल, प्रकृतिधरा।
१८.	ख	खर्वदेह, वेदात्मा, विश्वभावन।
१९.	ग	गदध्वंसी, गोविन्द, गदाधर।
२०.	घ	घर्मांशु, तेजस्वी, दीप्तिमान्।
२१.	ङ	एकदंष्ट्र, भूतात्मा, विश्वभावक।
२२.	च	चञ्जल, चक्री, चन्द्रांशु।
२३.	छ	छलविध्वंसी, छन्द, छन्दःपति।
२४.	ज	अजित, जन्महन्ता, शाश्वत।
२५.	झ	झस, सामात्मा, सामपाठक।
२६.	ञ	उत्तम, ईश्वर, तत्त्वसाधक।
२७.	ट	चान्द्री, आह्लाद, विश्वाप्यायन।
२८.	ठ	कौस्तुभ, नेमि, धाराधर।
२९.	ड	दण्डधार, मौसल, अखण्डविग्रह।
३०.	ढ	विश्वरूप, वृषकर्मा, प्रतर्दन।
३१.	ण	अभयद, सास्ता, वैकुण्ठ
३२.	त	तललक्ष्मा, वैराज, स्रग्धरः।
३३.	थ	धन्वी, भुवनपाल, सर्वरोधक।
३४.	द	दत्तावकाश, दमन, शान्तिद।
३५.	ध	साङ्गधृत, हर्ता (हामा), माधव।
३६.	न	नर, नारायण, पन्था।
३७.	प	पद्मनाभ, पवित्र, पश्चिमानन।
३८.	फ	फुल्लनयन, लाङ्गली, श्वेत।
३९.	ब	वामन, ह्रस्व, पूर्णाङ्ग।
४०.	भ	भल्लायुध, सिद्धिप्रद, ध्रुव।
४१.	म	मर्दन, काल, प्रधान।
४२.	य	चतुर्गति, सूक्ष्म, शङ्ख।
४३.	र	अशेषभुवनाधार, अनल, कालपावक।

४४.	ल	विबुध, धरेश, पुरुषेश्वर।
४५.	व	वराह, अमृतधारा, वरुण।
४६.	श	शङ्कर, शान्त, पुण्डरीक।
४७.	ष	नृसिंह, अग्निरूप, भास्कर।
४८.	स	अमृत, तृप्ति, सोम।
४९.	ह	सूर्य, प्राण, परमात्मा।
५०.	ळ	अनन्तेश।
५१.	क्ष	गरुड।[१]

इस प्रकार जयाख्यसंहिता में एक-एक वर्ण के तीन-तीन नाम निर्दिष्ट हैं। तत्पश्चात् कहा गया है- **'अनन्तेशः ळकारास्तु वर्गान्तो गरुडः स्मृतः'**। अष्टम वर्ग के पश्चात् मात्र क्षकार का नामोल्लेख है। वर्गान्त से क्षकार वर्ण की विवक्षा यह स्पष्ट नहीं है।

मन्त्रोद्धार क्रम में पाञ्चरात्र संहिताओं में मातृका पीठ के निर्माण का निर्देश है। ईश्वरसंहिता[२], श्रीप्रश्नसंहिता[३], जयाख्यसंहिता में मातृका चक्र के कल्पन का विवरण है। जयाख्यसंहिता में नादर के द्वारा मन की चञ्चल स्थिति के नियन्त्रण के सन्दर्भ में प्रश्न करने पर श्री भगवान् का कहना है कि, मन्त्र से भुक्ति और मुक्ति दोनों ही सम्भव है। अतः साधक सर्वप्रथम शुद्ध भूमि भाग को गोमय से लीपकर, पञ्चगव्य से संसिक्त कर तथा चन्दनादि द्रव्यों का उपलेप कर मातृका पीठ की कल्पना करें। निवात स्थल में सुसंच्छन्न स्थान को धूपादि से अधिवासित करते हैं तथा विविध पुष्पों से उसकी पूजा करते हैं। उसके ऊपर चतुरस्र या सुवृत्त दो हाथ अथवा एक हाथ का पीठ बनाते हैं। कल्पित पीठ सुसम होता है।[४]

जयाख्यसंहिता में अष्टार महाचक्र के कल्पन का विधान है। इस चक्र में प्रथम अकारादि क्षकारान्त अवर्गादि आठ वर्गों का उल्लेख किया जाता है। मध्य में वर्णचक्र प्रणव का उल्लेख किया जाता है। इस विधान से मातृका चक्र की स्थापना कर उसकी विधिवत् पूजा की जाती है। पूजा क्रम में प्रत्येक वर्ण का पाद्य अर्घ्य आदि के द्वारा पृथक्-पृथक् अर्चन करते हैं।[५] मातृका चक्र का कल्पित पूर्वोक्त में वर्णित है।

---

१. जयाख्यसंहिता, ६/३२-५८.
२. ईश्वरसंहिता, २३/६२-७१.
३. श्रीप्रश्नसंहिता, ५१/३३-३४.
४. जयाख्यसंहिता, ६/५-९.
५. जयाख्यसंहिता, ६/२६-२९.

ऊपर पाञ्चरात्राग के मन्त्रों में अपेक्षित मातृका वर्णों का सामान्य विवेचन किया गया है। मातृका वर्णन के पश्चात् पाञ्चरात्रागम में प्रयुक्त वैदिक मन्त्रों के प्रयोग के विषय में देखा जायेगा। सामान्य रूप से संहिताओं में वैदिक ऋचाओं, सूक्तों तथा साम का प्रयोग विविध क्रियाओं के अवसर पर होता है किन्तु, विशेष रूप से प्रतिष्ठादि के समय विविध प्रयोगों के अवसर पर देखा जाता है। नारदीयसंहिता ने प्रायः ३२ विविध वैदिक मन्त्रों, ५ सूक्तों तथा सामों का प्रयोग विविध अवसरों पर किया है।[1] विश्वामित्रसंहिता में ४२ वैदिक मन्त्र में सात अनुवाक् तथा सूक्तों अन्य सामादि का प्रयोग हुआ है।[2] तिरुपति के प्रोफेसर एस.बी. रघुनाथाचार्य 'पाञ्चरात्र में वैदिक मन्त्रों का विनियोग' नामक शीर्षक से एक विद्वत्तापूर्ण निबन्ध लिखा है। विद्वान् विचारक ने प्रस्तुत निबन्ध में पाञ्चरात्र में विविध क्रिया कलापों के अवसर पर प्रयुक्त होने वाले एक सौ छिहत्तर मन्त्रों का उल्लेख किया है। इसी निबन्ध में यह भी वर्णित है कि किन-किन अवसरों पर कौन-कौन से मन्त्र प्रयोग में लाये जायेंगे।[3]

पाञ्चरात्र प्रक्रिया में प्रयुक्त वैदिक मन्त्रों की चर्चा के क्रम में विविध पाञ्चरात्र संहिताओं में किये गये वैदिक मन्त्रों की तुलना संक्षेप में अपेक्षित है। इस क्रम में विचार करने पर यह देखते हैं कि, पाञ्चरात्र के प्राचीनतम संहिता ग्रन्थों में अर्वाचीन संहिता ग्रन्थों की अपेक्षा वैदिक मन्त्रों का प्रयोग नगण्य है। पौष्कर और जयाख्यसंहिता में कदाचित् किसी का सम्पादन रूप में प्रतिष्ठा के अवसर आदि वेदों के परायण का निर्देश अवश्य किया गया है।[4] अर्वाचीन संहिताओं में जहाँ वैदिक ऋचाओं के साथ तत्तत् कर्म सम्पादन का विधान है, वहीं प्राचीन संहिता ग्रन्थों में पाञ्चरात्रिक मन्त्रों का विनियोग हुआ है। उदाहरणार्थ-जयाख्यसंहिता में अक्षिमोचन के अवसर पर नेत्रमन्त्र के प्रयोग का विनियोग है[5] किन्तु, नारदीय तथा विष्वक्सेनसंहिता[6] में इसी कर्म के लिए वैदिक मन्त्र 'चित्रं देवानां'[7] इत्यादि का विनियोग है। अर्वाचीन संहिताएँ किसी एक कर्म के लिए किसी एक ही विशेष मन्त्र का उपयोग नहीं करती।

जयाख्यसंहिता में दीक्षा क्रम में शिष्य की शरीर शुद्धि के लिए शरीरस्थ

१. नारदीयसंहिता, अनुबन्ध १, पृ. ५२१-२२.
२. विश्वामित्रसंहिता, अध्याय ४, पृ. २९८-३००.
३. वेदा, दी वर्ड इण्टरनेशनल, नेशनल कान्फ्रेंस आन वेद एण्ड शास्त्र, तिरुमला तिरुपति देवस्थानम् तिरुपति, जनवरी १९९२, पृ. ७-१६.
४. जयाख्यसंहिता, २०/२६२-६३.
५. तत्रैव, २०/२६३.
६. नारदीयसंहिता, १५/६६.
विष्वक्सेनसंहिता, १६/११.
७. ऋग्वेद, १/१५, १.

भौतिक तत्वों का मन्त्र के द्वारा शुद्धीकरण का विधान वर्णित है। प्रत्येक वर्ण के द्वारा शरीरस्थ एक-एक तत्व शुद्ध किया जाता है। शरीर में पंचविशतत्व की परिकल्पना की गयी है। मन्त्रमय स्थूल राशि, सूक्ष्म राशि और पर राशि, त्रिभेद रूप में होते हैं। पुनः प्रत्येक के तीन-तीन भेद स्वीकार किये गये हैं। इसी स्थल पर यह भी दिखाया गया है कि, प्रत्येक में कौन-कौन से मंत्रों का प्रयोग होगा। उनके स्वरूप इस प्रकार हैं-

	आधिभूतगण	आधिदैवगण	आध्यात्मगण
ईश्वरादिगण	१ ईश्वर	१ म	१ सप्ताक्षर
	२ प्रधान	२ भ	२ सत्यादिपंचक
	३ बुद्धि	३ ब	३ मूर्त्तिमन्त्र
	४ अहंकार	४ फ	४ लक्ष्मीमन्त्र
	५ मन	५ प	५ कीर्तिमन्त्र
ज्ञानेन्द्रियगण	६ श्रोत्र	६ न	६ जयामन्त्र
	७ त्वक्	७ ध	७ मायामन्त्र
	८ चक्षु	८ द	८ हृदयमन्त्र
	९ जिह्वा	९ थ	९ शिरोमन्त्र
	१० घ्राण	१० त	१० शिखामन्त्र
	आधिभूतगण	आधिदैवगण	आध्यात्मगण
कर्मेन्द्रियगण	११ वाक्	११ ण	११ कवचमन्त्र
	१२ पाणि	१२ ढ	१२ नेत्रमन्त्र
	१३ पाद	१३ ड	१३ अस्त्रमन्त्र
	१४ पायु	१४ ठ	१४ सिंहमन्त्र
	१५ उपस्थ	१५ ट	१५ कपिलमन्त्र
तन्मात्रागण	१६ शब्द	१६ ञ	१६ वाराहमन्त्र
	१७ स्पर्श	१७ झ	१७ कौस्तुभमन्त्र
	१८ रूप	१८ ज	१८ मालामन्त्र
	१९ रस	१९ छ	१९ पद्ममन्त्र
	२० गन्ध	२० च	२० शंखमन्त्र
महाभूतगण	२१ आकाश	२१ ङ	२१ चक्रमन्त्र
	२२ वायु	२२ घ	२२ गदामन्त्र
	२३ तेज	२३ ग	२३ गरुडमन्त्र
	२४ आप	२४ ख	२४ पाशमन्त्र
	२५ पृथ्वी	२५ क	२५ अंकुशमन्त्र[1]

१. जयाख्यसंहिता पटल, १६/१८-४४.

जयाख्यसंहिता में कहा गया है कि, मन्त्रों के हृदयादि अङ्ग होते हैं। ये अङ्ग हैं- हृदय, शिर, शिखा, कवच, नेत्र तथा अ। इनके साधन से साधक की आयुर्वद्धि होती है तथा सभी प्रकार के सुख तथा अन्त में मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस सम्बन्ध में जाति का समन्वय भी अपेक्षित होता है। ये जातियाँ छः प्रकार की होती हैं- १. नमः, २. स्वाहा, ३. वषट्, ४. वौषट्, ५. हुं तथा ६. फट्।[1] नारदीयसंहिता को भी जयाख्य का यह वर्णन मान्य है।[2] जयाख्यसंहिता में मन्त्रों के द्वारा ऐहिक तथा पारलौकिक उभयसिद्धि का होना कहा गया है। इनमें ऐहिलौकिक सिद्धि के लिए मन्त्रों में उपर्युक्त जातियों के योग का महत्त्वपूर्ण स्थान माना है।[3]

मन्त्रशास्त्र में जप का महत्त्व जानना जरूरी है। देवता के अनुग्रह का अङ्ग जप है। जप में मन्त्र तथा मन का समायोग अनिवार्य है।

श्री कृष्ण गीता (१०/२५) में **'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि'** कहा है। जयाख्यसंहिता में 'जपविधान' नामक पटल में **'जपयज्ञविधानेन देवं सन्तर्पयेत्ततः'** श्रीभगवान् द्वारा निर्दिष्ट कथन है। जप तीन प्रकार का बताया गया है तथा उनके प्रयोजन भी प्रतिपादित हैं-

वाचिक जप	शुद्धकर्म
उपांशु जप	सिद्धिकर्म
मानस जप	मोक्षकामार्थ[4]

अक्षसूत्रविधान मणिप्रमाणादि का विशेष विवेचन[5], जपारम्भ से पूर्व मनसा, वाचा तथा कर्मणा शक्ति सहित नारायण का ध्यान करना कहा गया है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति से तुर्या अवस्था शक्तिरूप विष्णु का अनुसन्धान कर जप शुरू करना चाहिए। जपसंख्या तथा मेरुलङ्घन का निषेध किया गया है।[6] शान्तिक पौष्टिकादि निमित्तभेद से मन्त्रध्यान की भिन्नता निर्दिष्ट है।[7] **'परापरस्वरूपेण जपस्तु द्विविधः स्मृतः'**- जप के (पर और अपर) द्विविध रूप

१. जयाख्यसंहिता, ६/१०५-१३८.
२. नारदीयसंहिता, ५/९८-१००.
३. जयाख्यसंहिता, ६/१०५-१३८.
४. जयाख्यसंहिता, १४/२-४.
५. जयाख्यसंहिता, १४/५-१८.
६. जयाख्यसंहिता, १४/५२-५६.
७. जयाख्यसंहिता, १४/६९-७५.

माने गये हैं।[1] अधिकारी भेद तथा सत्वादिगुण भेद से जपकाल में भिन्नता बताई गई है।[2]

पाञ्चरात्रागम में सामान्यरूप से तीन तरह के मन्त्रों का निर्देश है- १. सौम्य, २. आग्नेय तथा ३. सौम्याग्नेय। सौम्य मन्त्र के रूप में विष्णु, गायत्री, मूलमन्त्रद्वय, आग्नेयमन्त्र के अन्तर्गत नारसिंहमन्त्र, चक्रमन्त्र, पद्ममन्त्र, शङ्खमन्त्र, गरुडमन्त्र और सौम्याग्नेय मन्त्र के अन्तर्गत पाशमन्त्र, अङ्कुश मन्त्र आते हैं।[3] मन्त्रों का सौम्यीकरण तथा उसी प्रकार आग्नेयीकरण भी होता है। यदि आग्नेय मन्त्र नमस्कारान्त हो तो सौम्य मन्त्र हो जाता है। सौम्य मन्त्र में अन्त में यदि फट्कार, हुङ्कार का प्रयोग हो तो वही सौम्य मन्त्र आग्नेय मन्त्र हो जाता है। मन्त्रों के बीज मन्त्र तथा अङ्ग मन्त्रों का विशिष्ट स्थान होता है। कहा गया है कि, मन्त्रों के पञ्च अङ्गों सहित जो बीज मन्त्र का जप करता है, जो चाहता है वह प्राप्त कर लेता है।[4]

यन्त्र-

मन्त्र के साथ यन्त्र का घनिष्ठ सम्बन्ध है। "मन्त्रों के चैतन्योद्बोधनार्थ तथा उनके विनियोग के लिए यन्त्रों की विशेष उपयोगिता है। यन्त्र देवता की रूपात्मक अभिव्यक्ति है।" पाञ्चरात्रमत में यन्त्र स्थित देवताओं का ध्यान स्वीकृत है।[5] यन्त्र-रचना में विष्णु के 'चक्र' की रचना का विस्तृत वर्णन किया गया है।[6] जयाख्यसंहिता में चक्रयन्त्रसाधन (सुदर्शनयन्त्र) के प्रायोगिक पक्ष पर भी चिन्तन किया गया है।[7] वागीश्वरीयन्त्र तथा शङ्खयन्त्र का स्वरूप वर्णित है।[8] यन्त्र में देवता के ध्यान पर ही उसका फल भी अवलम्बित होता है। विमानार्चनकल्प में उत्सवचक्र का विस्तृत विवेचन किया गया है।[9] नृसिंह सुदर्शनयन्त्र को शरीर पर धारण करने से सकलार्थसिद्धि की प्राप्ति होती है।[10]

---

१. जयाख्यसंहिता, १४/७८.
२. जयाख्यसंहिता, १४/८७-८९.
३. जयाख्यसंहिता, ६/१३५-१८८.
४. जयाख्यसंहिता, ६/२००-२०१.
५. अहिर्बुध्न्यसंहिता, अध्याय, २४.
६.क.विमानार्चनकल्प पटल, ५०.
ख. अहिर्बुध्न्यसंहिता, अध्याय २१-२३.
७. जयाख्यसंहिता, २६/९७-१०५.
८. तत्रैव, २६/१०५-११०..
९. विमानार्चनकल्प, पटल-५०.
१०. अहिर्बुध्न्यसंहिता, २७/६-१९.

मुद्रास्वरूप

आगमों में मुद्राओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन आगमिक सम्प्रदायों से सम्बद्ध साहित्य का एक सम्पूर्ण अध्याय ही मुद्रा स्वरूप के प्रतिपादन के निमित्त समर्पित है। पञ्चरात्रेतर मान्यताओं तथा सिद्धान्तों की दृष्टि में मुद्रा के संक्षिप्त स्वरूप की पृष्ठभूमि में पाञ्चरात्र साहित्य, विशेष रूप से जयाख्यसंहिता में वर्णित मुद्रा के विषय को कुछ विस्तृत परिवेश में देखने का प्रयत्न होगा।

वैखानस आगम में मुद्रा का अत्यन्त संक्षिप्त रूप में वर्णन उपलब्ध है। पाञ्चरात्रादि की भांति वैखानसों के यहां मुद्रा का विस्तृत विवेचन नहीं मिलता है। मरीचि ने अपने ग्रन्थ 'विमानार्चनकल्प' में नित्यार्चन के अवसर पर अर्चक के आलय में प्रवेश के अनन्तर अर्चन से सम्बन्धित वर्णित विधानोपरान्त 'सुदर्शनम्' इत्यादि मन्त्रों के साथ दक्षिण हस्त में सुदर्शन मुद्रा एवं 'रवियाम्' आदि मन्त्रों के साथ वाम हस्त में शंख मुद्रा धारण कर अर्चा की अग्रिम कार्यवाही सम्पन्न करने का विधान बताया है।[१] इस संदर्भ में या अन्य किसी भी सन्दर्भ में मुद्रा से सम्बन्धित कोई भी विवरण नहीं मिलता।

योगिनीतन्त्र में मुद्रा को सूक्ष्म रूप से परिभाषित किया गया है। यथा-भगवती त्रिपुरसुन्दरी चित् रूपा हैं तथा वे ही 'मुद्रा' पदार्थ हैं। दूसरे शब्दों में मुद्रा से चित्तत्व का अभिव्यंजन होता है। त्रिपुरेश्वरी जब विश्व का उन्मीलन करने की इच्छा करती है तब उनका रूप क्रियात्मक हो जाता है। इस क्रियात्मक चित् के द्वारा विश्वचिकीर्षा काल में अनुमोदन एवं द्रावण नामक दो व्यापार किये जाते हैं। अनुमोदन का अर्थ है विश्व की उत्पत्ति एवं संवर्धन के प्रति अनुकूलता या अनुग्रह भाव। द्रावण का तात्पर्य है, महाप्रलयावस्था में चित् तत्व में विलीन, घनीभूत विश्व के घनत्व में विशरण का अपादान जिससे उसका पुनः सावयव प्रपञ्च के रूप में उन्मीलन हो सके। इस अनुमोदन एवं द्रावण व्यापार के कारण क्रियाचित् ही 'मुद्रा' है।[२]

महामहोपाध्याय आचार्य रामेश्वर झा का कहना है कि, ईश्वर के साथ तादात्म्य प्राप्त किये हुए योगी के देह की कोई भी स्थिति जिसमें चेतन की प्रतिच्छवि दीखती हो, वही 'मुद्रा' है। इन्होंने तीन प्रकार की मुद्राओं का उल्लेख किया है- 'मनोजा' जो गुरुवक्त्र (उन्मना) में रहती है, दूसरी 'वाग्भव' जो मन्त्र-

---

१. विमानार्चनकल्प पटल, ४१.
२. परशुरामकल्पसूत्र खण्ड ४, सूत्र १ की व्याख्या से उद्धृत

जपादि द्वारा उत्पन्न होती है तथा तीसरी 'देहोद्भव' मुद्रा देह के अवयवों के विक्षेप से जन्य होती है।[1]

बौद्धग्रन्थ साधनमाला में मानव अस्थियों के प्रतीक आभूषणों को 'मुद्रा' कहा गया है।[2] कुवलयानन्द[3] तथा सरस्वतीकण्ठाभरण[4] में 'मुद्रा' शब्द अलंकार के अर्थ में प्रयुक्त है किन्तु, आगमिक मान्यताओं में मुद्रा का प्रमुख अर्थ अंगुलि रचना विशेष अभिहित है। अंगुलियों को पंचमहाभूतों का प्रतीक माना गया है। अंगुष्ठ आकाश, तर्जनी वायु, मध्यमा अग्नि, अनामिका जल, कनिष्ठा भूमि की भौतिक प्रकृति है। इन्हीं के मेल से सांसारिक वस्तुओं का सृजन होता है। पंच भूतों की स्वरूपभूता, अंगुलियों के संकेत से देवताओं में हर्ष पैदा करता है तथा साधक उनके माध्यम से देवता का सामीप्य प्राप्त करता है।[5]

परमसंहिता का उद्घोष है कि, जिसके प्रदर्शन से हिंसकों का हर्ष समाप्त होता है उसे 'मुद्रा कहते हैं। उपर्युक्त निर्वचन से मुद् तथा द्रा इन दो पदों की सहायता से मुद्रा की निष्पत्ति सम्भव है और इन दोनों की सहायता से मुद्द्रा निष्पन्न होगा न कि मुद्रा। पाद्मसंहिता को भी परमसंहिता का निर्वचन और अर्थ मान्य है। पाद्म के हिसाब से हिंसकों के मुद अर्थात् हर्ष को जो द्रवित करता है उसे मुद्रा कहते हैं।[7] यहाँ भी मुद्रा शब्द निष्पन्न कठिन लगता है।

ईश्वरसंहिता का अभिमत है कि, कर्मात्मतत्त्व अमलयाजियों को जो मुद देता है तथा बाह्याभ्यन्तर संचरण करने वाले दोषों को द्रवित करता है, वह मुद्रा है।[8] यहाँ परिभाषित निर्वचन के अनुसार मुदं ददाति इति मुद्द्रा शब्द निष्पन्न हो सकता है किन्तु, इस निर्वचन से मुद्रा शब्द की निष्पत्ति दुष्कर लगती है। जहाँ तक बाह्याभ्यन्तर संचरण करने वाले अर्थ का सवाल है; उस स्थिति में अर्थानुरूप मुद्रा शब्द की निष्पत्ति कैसे होगी यह विचारणीय विषय है।

विश्वामित्रसंहिता का मानना है कि, मुद्रा उसे कहते हैं जिसके दर्शन मात्र से क्षण भर में जो दुष्टों को हर्ष के कुत्सा में प्रविष्ट करा दे।[9] श्रीप्रश्नसंहिता

---

१. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, पृ. २२-२३.
२. कण्ठिका रुचकं रत्नमेखलं भस्मसूत्रकम्।
षड्वै पारमिता एता मुद्रारूपेण योजिताः।। साधनमाला ३.
३. कुवलयानन्द १, १३८.
४. सरस्वतीकण्ठाभरण २-३.
५. शारदातिलक २३/१६ टीका
६. परमसंहिता, अध्याय १४/२.
७. पाद्मसंहिता, चर्यापाद, १२/२.
८. ईश्वरसंहिता, अध्याय २, श्लो. १-३.
९. विश्वामित्रसंहिता, १३/२.

तथा विष्वक्सेनसंहिता का कहना है कि दैव-वैरियों, पिशाचों, असुरों और राक्षसों का हर्ष जिससे द्रवित होता है उसे मुद्रा कहते हैं।[१]

श्रीपुरुषोत्तमसंहिता में वर्णित है कि, जो सम्पूर्ण तत्त्वों को तत्क्षण मुद अर्थात् हर्ष देता है उसे मुद्रा कहते हैं।[२] शारदातिलक[३] शिवसूत्रवार्तिक[४] के अनुसार 'मुदं राति इति मुद्रा' अर्थात् जो मुद (हर्ष) देती हो उसे मुद्रा कहते हैं।

मृगेन्द्रागम में मुद्रा शब्द को अन्वर्थक कहते हुए कहा गया है कि, विघ्नसमूहों को मुद्राण करने के कारण हर की शक्तियाँ मुद्रा शब्द से जानी जाती है।[५]

मुद्रानिघण्टु में कहा गया है कि, समस्त देवताओं के मोददायक और पापसन्ततियों के द्रावक होने के कारण मुद्रा नाम कहा गया है। यह समस्त इच्छाओं का साधन करने वाली है।[६]

पाञ्चरात्रागम ग्रन्थों में मुद्राओं को मन्त्रों का मूर्त्त रूप माना गया है। जयाख्यसंहिता में मुद्रा निरूपण के आरम्भ में मन्त्रवृन्द का मुद्राकोश- वर्णन के प्रतिज्ञा वाक्यों से मुद्रा-वर्णन प्रारम्भ किया गया है। संहिता के अनुसार मुद्राकोश मन्त्र का ही विस्तार है। मानसिक या वाचिक रूप में भगवदाराधन के लिए मन्त्र प्रयुक्त हुए हैं। मुद्रा उन्हीं का कायिक प्रतीक है।[७] श्रीप्रश्नसंहिता का कहना है कि, अंगुलियाँ चैतन्य है फिर भी यहाँ उनका (मुद्राओं का) अध्यक्ष मन्त्र ही है अर्थात् मन्त्र मूल है और उसका व्याख्यात्मक प्रतीक मुद्रा।[८]

पाञ्चरात्रागमस्थ मुद्रा के दो रूप हैं- मानस तथा प्रायोगिक। परमसंहिता का अभिमत है कि, मोक्षाभिलाषी मानस-संकल्प मुद्रा तथा विविध वस्तुओं का अभिलाषी प्रायोगिक मुद्रा करे।[९] ईश्वरसंहिता का कहना है कि, उपरोक्त दोनों में से किसी भी मुद्राकल्पन के पूर्व स्व-स्व मन्त्र का स्मरण करना चाहिए।[१०]

१.अ. श्रीप्रश्नसंहिता, अध्याय ५३, श्लो. ६४.
ब. लब्धया तु यया यस्मात् साधको दैववैरिणाम्। द्रावयीत मुदं तस्मात् मुद्रातल्लक्षणम्।। विष्वक्सेनसंहिता, १९/९-१०.
२. श्रीपुरुषोत्तमसंहिता, ३२/२ (भद्राचलमसंस्करण १९/३२, तेलगुलिपि)
३. शारदातिलक, पृ. ५१०.
४. शिवसूत्रवार्तिक, २२.
५. मृगेन्द्रागम, पटल ५, श्लो. २.
६. मुद्रानिघण्टु, पृ. ६८.
७. जयाख्यसहिता पटल ८, श्लो. १-२.
८. श्रीप्रश्नसंहिता, ५३/६५-६६.
९. परमसंहिता, १४/३५.
१०. ईश्वरसंहिता, २४/२.

जयाख्यसंहिता में मन्त्रों के भेद के आधार पर मुद्राओं को तीन खण्डों में विभक्त किया गया है। प्रथम खण्ड में छब्बीस मुद्राओं का उल्लेख है तथा इन्हें गर्भ मन्त्रों की मुद्राओं के नाम से अभिहित किया गया है।[१] द्वितीय खण्ड में प्रमुख रूप से आठ और सामान्य रूप से तेरह मुद्राओं का उल्लेख है तथा इन्हें आधारासनमन्त्र-मुद्राओं के नाम से निर्दिष्ट किया गया है।[२] तृतीय खण्ड में बीस मुद्राओं का उल्लेख करते हुए इन्हें बीज मुद्राओं के नाम से उद्घोषित किया गया है।[३] इस तरह का विभाजन अन्य पाञ्चरात्रागमसंहिता में अनुपलब्ध है। यह विभाजन मन्त्रों के आधार पर किया गया है किन्तु, विचारणीय विषय यह है कि, इसकी मौलिक विशेषता क्या है? लक्ष्मीतन्त्र का कहना है कि, मन्त्र की सिद्धि मुद्राओं से होती है।[४] परमसंहिता में दो प्रकार की मुद्राओं का उल्लेख है- नामनी और प्रार्थनी। इन दोनों से ही अंगभूत देवताओं के निमित्त मुद्राओं का प्रयोग होता है।[५]

जयाख्यसंहिता मे मुद्रा के उद्देश्य का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि जलान्तर में स्नान के समय, आत्मन्यास के अवसर पर, पूजा के अन्त में पृथ्वी पर मण्डल रचना के क्रम में भगवदाराधन के समय, अर्घ्य तथा पानिपात्रों के विन्यास के समय, बाह्यन्तर में पूर्णाहुति के अवसर पर मुद्रा का प्रयोग विहित है। इसी स्थल पर यह उल्लिखित है कि, हिंसकों के विघात, सभी विघ्नों की शान्ति तथा सर्व कार्य सिद्धि के लिए मुद्रा प्रयोग आवश्यक है।[६] नारदीयसंहिता को भी प्रायः जयाख्य के समान ही मुद्रा उद्देश्य मान्य है।[७] अर्चन के अवसर पर देवताओं की प्रत्यभिज्ञा की जाती है अतः यह फलप्रदा है।[८] पाद्मसंहिता के अनुसार हिंसकों को दूर किया जाना तथा देवताओं का प्रसादन ही मुद्रा का मुख्य लक्ष्य है।[९]

पाञ्चरात्र संहिताओं में दो सौ से अधिक मुद्राएँ मिलती हैं किन्तु, देवताओं एवं मन्त्रों की अधिकता के कारण मुद्राएँ ज्यादा भी हो सकती हैं। अस्तु, निश्चित संख्या नहीं बतायी जा सकती। ये अनन्त हैं। अतः सबके लक्षण नहीं कहे जा सकते।[१०]

१. जयाख्यसंहिता, पटल ८, श्लो. ६-५८.
२. वही, श्लो. ५९-७९.
३. वही, श्लो. ८०-११४.
४. लक्ष्मीतन्त्र, ३४/१.
५. परमसंहिता, १४/३२-३४.
६. जयाख्यसंहिता, ८/३-५.
७. नारदीयसंहिता, १४/२-३.
८. परमसंहिता, १४/२-३.
९. पाद्मसंहिता चर्यापाद, २२/२-३.
१०. परमसंहिता, १४/३२.

प्रायः प्रत्येक संहिता में समान नाम वाली मुद्राएँ हैं। कुछ के स्वरूप भी समान हैं- जैसे जयाख्यसंहिता के 'सिद्ध'[1] मुद्रा की तुलना विश्वामित्रसंहिता[2] के 'योग' मुद्रा से की जा सकती है परन्तु, सभी मुद्राओं के स्वरूप समान नहीं होते हैं। डॉ. शङ्कर भट्ट ने 'विश्वामित्रसंहितायाः तुलनात्मकमध्ययनम्' नामक ग्रन्थ में पाञ्चरात्रागम ग्रन्थों में निर्दिष्ट मुद्राओं का सचित्र स्वरूप प्रदर्शित किया है।[3]

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि, मन्त्र की तरह मुद्रा का भी विशिष्ट स्थान है। बिना मुद्रा के आगमिक प्रक्रिया की आराधना पूर्ण नहीं हो सकती। जयाख्यसंहिता में वर्णित मुद्राओं की सूची अकारादि क्रम से अधोलिखित है–

	मुद्रा	पटल	श्लोकसंख्या
१.	अक्षसूत्रमुद्रा	१४	४९-५१
२.	अग्निमुद्रा	१५	२२४-२२५
३.	अनुचरमुद्रा	२७	१६५-१६९
४.	अंकुशमुद्रा	८	४८-५०
५.	अनन्तासनमुद्रा	८	६१-६७
६.	अभयमुद्रा	८	१०३-१०६
७.	अस्त्रमुद्रा	८	२२-२३
८.	आधारशक्तिमुद्रा	८	५९-६०
९.	आवाहनमुद्रा	८	११०
१०.	कपिलमुद्रा	८	२६-२८
११.	कवचमुद्रा	८	१७-१९
१२.	कूर्मकालाग्निमुद्रा	८	५९-६०
१३.	कौस्तुभमुद्रा	८	३१-३३
१४.	क्षेत्रेशमुद्रा	८	८०-८१

१. जयाख्यसंहिता, पटल ८/१०३.
२. विश्वामित्रसंहिता, १३/१६-१७.
३. केन्द्रियसंस्कृतविद्यापीठ, तिरुपति, १९८८ ई. पृ. ६०-१५३.

	मुद्रा	पटल	श्लोकसंख्या
१५.	क्रोडमुद्रा	८	२८-३०
१६.	गंगामुद्रा	८	८६
१७.	गणेशमुद्रा	८	८८-९२
१८.	गदामुद्रा	८	४१-४२
१९.	गुरुमुद्रा	८	९७-९८
२०.	चक्रमुद्रा	८	३९-४०
२१.	चण्डमुद्रा	८	८४
२२.	जयमुद्रा	८	८५
२३.	जयामुद्रा	८	६-९
२४.	धर्मादिमुद्रा	८	७२-७५
२५.	धामत्रयमुद्रा	८	७६-७८
२६.	नेत्रमुद्रा	८	२०-२१
२७.	पक्षिराजमुद्रा	८	४२-४६
२८.	पद्मनिधिमुद्रा	८	८७
२९.	पाद्यमुद्रा	८	३६
३०.	पाशमुद्रा	८	४६-४८
३१.	पृथिवीमुद्रा	८	६७-६९
३२.	प्रचण्डमुद्रा	८	८४
३३.	महायोनिमुद्रा	२७	१५५-१६१
३४.	महाजयामुद्रा	८	५४-५९
३५.	मृगीमुद्रा	३१	६-७
३६.	मालामुद्रा	८	३४-३५
३७.	यामुनमुद्रा	८	८६
३८.	वरमुद्रा	८	१०३-१०६

	मुद्रा	पटल	श्लोकसंख्या
३९.	वागीश्वरीमुद्रा	८	९२-९६
४०.	विजयमुद्रा	८	८५
४१.	विष्वक्सेनमुद्रा	८	१०६-१०९
४२.	विसर्जनमुद्रा	८	११२
४३.	शक्तिमुद्रा	८	९-१२
४४.	शंखमुद्रा	८	३७-३९
४५.	शिखामुद्रा	८	१५
४६.	शिरोमुद्रा	८	१४
४७.	श्रीमुद्रा	८	८२-८३
४८.	सत्यादिमुद्रा	८	५०-५३
४९.	समुद्रमुद्रा	८	६९-७२
५०.	सिद्धमुद्रा	८	१०२
५१.	सिंहमुद्रा	८	२४-२६
५२.	सुरभिमुद्रा	८	१११-११२
५३.	हंसमुद्रा	८	७८-८०
५४.	हृदयमुद्रा	८	१२-१३

प्रतिमा-प्रासाद-प्रतिष्ठा तथा उत्सव

पाञ्चरात्र की प्रायः सभी संहिताओं में प्रतिमा-प्रासाद-प्रतिष्ठा तथा उत्सव का वर्णन उपलब्ध होता है। भगवदाराधन के लिए चार स्थलों का उल्लेख है- कुम्भ, मण्डल, अग्नि तथा देवालय के अन्दर प्रतिष्ठापित विग्रह या प्रतिमा। इन चारों में पूर्व-पूर्व तीन की अपेक्षा अन्तिम विग्रह या प्रतिमा-आराधन का आगमिक साहित्य में विशेष स्थान मिलता है अतः इन तीनों की अपेक्षा इस प्रतिमा विषय का विस्तृत विवेचन भी उपलब्ध होता है। जयाख्यसंहिता में प्रतिमा-प्रासाद-प्रतिष्ठा का बीसवें पटल में यह विवेचन उपलब्ध होता है। प्रकृत अध्याय में पाञ्चरात्र की अन्य संहिताओं के परिप्रेक्ष्य में प्रतिमा स्वरूप, भेद, लक्षण, प्रासाद-लक्षण, प्रतिष्ठा प्रसंग में प्रतिमा-प्रतिष्ठा के साथ-साथ देवालय से सम्बन्धित अनेक वस्तुओं की प्रतिष्ठा का भी विवेचन करने का प्रयत्न हो रहा है।

यहाँ एक स्वाभाविक प्रश्न खड़ा होता है कि, चतुरःस्थानार्चन क्रम में पूर्वोक्त तीन स्थलों के रहते हुए चतुर्थस्थल मूर्त्याराधन को अधिक महत्त्व देने का प्रयोजन क्या है? इसके समाधान के लिए जयाख्यसंहिता में साध्य-सिद्धि के निमित्त धार्यमान अग्नि में होम के द्वारा उसका आराधन किया जाना कहा है। निःसन्देह, इसके द्वारा आराध्य की ही आराधना करते हैं पर, वहाँ आराध्य का ध्यान आश्रयहीन होता है। अस्तु, इन्द्रियों की दुर्बलता के कारण कर्मस्थों का उसमें अधिकार नहीं है। निराकार आराधनाश्रय में भक्ति, पूजा या ध्यान रमणीय नहीं होने के कारण अनर्थ का कारण बन सकता है। सूक्ष्मार्थ की प्राप्ति चिरकाल में भी असम्भव है फिर, अचिरकाल में कैसे होगी? रूपरहित देव का दर्शन दुर्लभ है। रूपों से सर्वथा निवृत्त बुद्धि कहाँ स्थिर हो सकती? निवृत्त बुद्धि सर्वथा निद्राभिभूत होती है। गीता में भी भगवान् कहते हैं- **क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।**[1] अस्तु, प्राज्ञजन बुद्धि से साकार की ही उपासना करें। मानवीय इष्ट सिद्धि ही ईश्वर की प्रतिमा का रूप धारण करती हैं।[2] भगवदाराधन दो तरह से होता है- साकार और निराकार। मूर्ति पूजा ही वास्तव में साकार आराधना कही जाती है।[3] पूर्व विवरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि, साध्य सिद्धि का सरल मार्ग बिम्बाराधन अर्थात् मूर्त्याराधन

---

१. गीता, १२/५ क.

२.अ. विष्णुसंहिता, अध्याय २९/४९-५.

ब. श्रीप्रश्नसंहित, अध्याय १, श्लो. १-२, १८ १८.

३. साकारं च निराकारं भगवदाराधनं द्विधा।
प्रतिमाराधनं मुख्यं साकारमभिधीयते।। - अर्चनाधिकार, अ. २३/१.

है। मूर्तिकल्पन विषय यद्यपि शिल्पशास्त्रीय है फिर भी, प्रत्येक पाञ्चरात्रसंहिता में असाधारण रूप से इस विषय की चर्चा की गयी है।

प्रतिमा शब्दार्थ एवं उसके भेद

प्रतिमा शब्द के लिए अनेक शब्दार्थों का उल्लेख मिलता है। सात्वतसंहिता में इसके लिए 'मन्त्र-स्वरूप' शब्द व्यवहृत हुआ।[१] प्रतिमा शब्द के लिए नारदीयसंहिता में 'अर्चा' शब्द प्रयुक्त है।[२] पाञ्चरात्र एवं वैखानस आगम में प्रतिमा के लिए 'बेर' शब्द का उल्लेख किया है।[३] जयाख्यसंहिता में प्रतिमा के लिए 'बिम्ब' शब्द का प्रयोग विहित है।[४] 'कौतुभ' शब्द का प्रयोग भी यदा-कदा प्रतिमा के अर्थ में प्रयुक्त होता है।[५] पाद्मसंहिता में आलयरूप शरीर में प्रतिमा को जीवस्थानीय कहा गया है।

वैखानस तथा पाञ्चरात्र दोनों ही आगमों में सामान्य रूप से प्रतिमा के चल और अचल दो भेद बताये गये हैं किन्तु, दोनों आगमों में सर्वथा साम्य भी नहीं है। तिरुपति के विद्वान् श्रीउण्डेमने शंकरभट्ट ने एक सारगर्भित निबंध "आगमीयबेरविवेकः" शीर्षक से लिखा है। विद्वान् विचारक ने वैखानस तथा पाञ्चरात्र दोनों ही सम्प्रदायों में बेरार्चन के भेद, बेरार्चन की विशेषता आदि का सम्यक् प्रतिपादन किया है।[६]

पाञ्चरात्रागम में एक से अधिक सात तक प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा तथा उनमें भगवदाराधन का विधान वर्णित हैं। ये सातों प्रतिमाएँ निम्नलिखित हैं- (१) मूलबेर (२) कर्मार्चा (३) उत्सवार्चा (४) बल्यर्चा (५) स्नपनार्चा (६) तीर्थार्चा (७) शयनार्चा।[७] मूलबेर का प्रयोजन ग्राम की रक्षा करना है। कर्मार्चा का प्रयोजन आराधन-प्रयुक्त सारे कार्यों का सम्पादन, उत्सवार्चा का उत्सव आदि पर अर्चन, बलिबेर का नित्यनैमित्तिक बलि प्रदान के लिए, स्नपन बेर विविध स्नपन के अवसर पे प्रयोग में लाये जाते हैं। तीर्थयात्रा पर तीर्थ बेर तथा शयन बेर का प्रयोजन भगवदाराधन-क्रम में प्रयुक्त होता है। मूलबेर या अचल बिम्ब में प्रतिष्ठाकाल में भगवच्छक्ति का आवाहन किया जाता है जो सर्वथा विद्यमान रहती है। उसका विसर्जन नहीं होता। कर्मार्चादि जंगम बेरों में आवाहित

---

१. सात्वतसंहिता, ४/३१.
२. नारदीयसंहिता, १३/३.
३. (अ) श्रीप्रश्नसंहिता, १४/३.
   (ब) विमानार्चनकल्प, पटल १५, पृ. ६८.
४. जयाख्यसंहिता, २०/१.
५. अत्रिसंहिता, २४.
६. जर्नल आफ गंगानाथ झा, इलाहाबाद, १९७३, पृ. ४७-६०.
७. (क) नारदीयसंहिता, १३/३५१-३५३.
   (ख) श्रीप्रश्नसंहिता, १८/३.

भगवच्छक्ति सदा विद्यमान नहीं रहती है। इन प्रतिमाओं में आराधन के अंगभूत तत्तत्कर्मों के अवसर पर मूलबेर से शक्ति का आवाहन किया जाता है। आराधन के समापन के बाद पुनः उस शक्ति को मूलबेर में विसर्जित कर दिया जाता है।[१]

निर्माणमूलक भेद से मूलबेर तीन तरह के होते हैं- (१) चित्र, (२) चित्रार्द्ध तथा (३) चित्राभास।[२] प्रतिमा की अवस्थिति के आधार पर मूल बेर चार प्रकार के हैं- स्थानक, आसीन, शयन तथा यानग।[३] नारदीयसंहिता ने स्थानकादि भेदयुक्त प्रतिमाओं के पुनः दो भेद बताये हैं- साधारण और असाधारण।[४] साधारण प्रतिमा पुरुषाकृति होती है। असाधारण प्रतिमा अनेक करों से युक्त होती है। यह वाराहादि के मुख या मत्स्यादि के शरीर के सदृश होती है। यह अनेक प्रकार की होती है अतः, स्पष्ट है कि असाधारण प्रतिमाएँ सर्वदा पुरुषाकृति नहीं होती। इन मूर्तियों से प्रायः प्रादुर्भाव देवों का होता है।[५] इन प्रतिमाओं का कल्पन यजमान की इच्छा के अनुसार द्विभुज या चतुर्भुज होता है।[६]

पाद्मसंहिता के अनुसार संकर्षण की प्रतिमा सर्वथा वासुदेव की प्रतिमा की तरह शंख, चक्र, गदा तथा पद्म हस्त होती है।[७]

पाद्मसंहिता में प्रद्युम्न को शंख, चक्र, गदा तथा पद्मधारक रूप कहा गया है।[८]

प्रथम मासाधिप केशव की प्रतिमा के प्रसंग में पाद्मसंहिता का उद्घोष है कि, हाथों में शंख, पद्म, चक्र एवं दण्ड धारण रहता है।[९]

द्वितीय मासाधिप नारायण के प्रसंग में सामान्य रूप से अन्य बातें समान होती हैं। पराशर-संहिता में नारायण के हाथों में चक्र, शंख, गदा तथा पद्म का वर्णन है।[१०]

---

१. श्रीमद्भागवत, ११/२७/१३.
२. (क) विष्वक्सेनसंहिता, १०/३१-३४, अगस्त्यसंहिता.
(ख) विमानार्चनकल्प, पटल १३, समूर्त्तार्चनाधिकरण, १८/११.
३. नारदीयसंहिता, १३/२.
४. नारदीयसंहिता, १३/१२५.
५. नारदीयसंहिता, १३/१७५-१७७.
६. श्रीप्रश्नसंहिता, १२/२८.
७. पाद्मसंहिता, क्रि. पा. १६/३७.
८. पाद्मसंहिता, क्रि.पा. १६/३८.
९. पाद्मसंहिता, क्रि.पा. १६/३०.
१०. पराशरसंहिता, १३/२६.

तृतीय मासाधिप माधव आराधक के दक्षिण नेत्र से सम्बद्ध रहते हैं। पाद्मसंहिता के अनुसार माधव को गदा, चक्र, शंख तथा अम्बुज हस्त होना कहा गया है।[1]

गोविन्द चतुर्थ मासाधिप आराधक के वाम आँख से सम्बद्ध रहते हैं। मार्कण्डेयसंहिता के अनुसार चारों हाथों में चक्र, दण्ड, अब्ज और शंख होता है।[2] पाद्मसंहिता को भी यह वर्णन अभीष्ट है।[3]

पञ्चम मासाधिप विष्णु को आराधक के दक्षिण नासापुट से सम्बद्ध कहा गया है। विष्णु का वर्ण श्याम तथा रक्त होना कहा गया है।[4] विष्णुमूर्त्ति गदा, पद्म, शंख तथा असिधारिणी होती है, ऐसा मार्कण्डेयसंहिता का कहना है।[5]

मधुसूदन षष्ठ मासाधिप के रूप में वर्णित है। इन्हें आराधक के वाम नासापुट से सम्बद्ध बताया गया है। पाद्मसंहिता ने इस मूर्ति को गदा, पद्म, शंख तथा असि धारक होना कहा है।[6]

विष्वक्सेनसंहिता में त्रिविक्रम का वर्ण तप्त स्वर्ण के सदृश या कृष्ण होना कहा है।[7]

पराशरसंहिता का अभिमत है कि, वामन का रूप चक्र, शंख, छत्र तथा वंशधारी होता है।[8]

नवम मासाधिप श्रीधर को आराधक के दक्षिण स्कन्ध का रक्षक होना कहा गया है। इनका रूप चतुर्भुज तथा हाथों में अस्त्रों का विधान पूर्व मूर्त्तियों के समान है। सभी संहिताओं में एकरूपता नहीं है। इनका वर्ण तप्त स्वर्णिम बताया गया है।[9]

दशम मासाधिप हयशीर्ष आराधकों के वाम स्कन्ध की रक्षा करते हैं। सामान्यतः चतुर्भुजों में शंख, चक्र, गदा एवं पद्म को धारण करने को बताया है।[10] पाद्मसंहिता का कहना है कि इनका वर्ण नीलोत्पल होता है।[11]

---

१. पाद्मसंहिता, क्रि.पा. १६/३१.
२. तत्रैव, ८/५.
३. तत्रैव, क्रि.पा. १६/३२.
४. विष्वक्सेनसंहिता, ११/१६९.
५. मार्कण्डेयसंहिता, ८/५.
६. पाद्मसंहिता, क्रि.पा. १६/३२.
७. विष्वक्सेनसंहिता, ६/१७९.
८. पराशरसंहिता, १५/१८६.
९. पाद्मसंहिता, क्रि.पा. १६, ३४.
विष्वक्सेनसंहिता, ११/१८७-१९०
१०. पराशरसंहिता, १३/७४.
११. पाद्मसंहिता, क्रि.पा. १६/३५.

पद्मनाभ एकादश मासाधिप के चारों हाथों में शंख, चक्र, गदा एवं पद्म के सामान्यतः कल्पन का विधान है।[1]

द्वादश मासाधिप दामोदर आराधक के ललाट की रक्षा करते हैं। इसके चारों भुजाओं में शंख, चक्र, गदा एवं पद्म रहता है।[2] पद्मनाभ का वर्ण नील कहा गया है। यह मूर्ति पीताम्बरधारिणी होती है।[3]

द्वादश मासाधिपों के वर्णन के पश्चात्, दशावतारों की मूर्तियों का भी उल्लेख पाञ्चरात्रसंहिताओं में है किन्तु, जयाख्यसंहिता में पूर्वोक्त द्वादशमासाधिपों एवं दशावतारों की किसी प्रतिमा का विवेचन नहीं मिलता है। हाँ, पाद्मसंहिता में वर्णन अवश्य है जो जयाख्य का अनुसरण करती है उन सभी का वर्णन यथासंभव किया गया।

प्रतिमोपादान-द्रव्य

पाञ्चरात्र की सभी संहिताओं में प्रतिमा कल्पन के प्रसंग में प्रतिमा-उपादान-द्रव्य का विवेचन भी प्राप्त होता है। नारदीयसंहिता में पाँच उपादान द्रव्य का उल्लेख है- शिला, लोह, मणि, काष्ठ तथा मृद्।[4] पाद्मसंहिता में निम्नलिखित उपादान द्रव्य बताये गये हैं- (१) रत्न, (२) स्फटिक, (३) लौह, (४) शिला, (५) दारु, (६) मृद्।[5] श्रीप्रश्नसंहिता को भी पाद्म का कहना मान्य है।[6] जयाख्यसंहिता में बिम्बद्रव्य विधान का उल्लेख करते हुए शिला, मृद्, दारुज आदि को स्वीकार किया गया है। इसी स्थल पर यह भी वर्णित है कि, पारिवारिक पूजा के निमित्त प्रतिमाएँ मिट्टी, काष्ठ तथा प्रस्तर की नहीं बनवानी चाहिए। परिवार में केवल वे प्रतिमाएँ जो धातु, सोना, चाँदी या पीतल से निर्मित हो, स्थापित की जानी चाहिए।[7]

उपर्युक्त प्रतिमोपादान-द्रव्यों के भी नाना भेद तथा लक्षणादि होते हैं। विमानार्चनकल्प में तीन प्रकार की शिलाओं के उल्लेख हैं- गिरिजा, भूमिजा तथा वारिजा।[8] नारदीयसंहिता में ब्राह्मणादि वर्णक्रम से सितादि चार वर्ण की शिलाओं की प्रतिमा का उपादान द्रव्य वर्णित हैं। ब्रह्मण के लिए सित वर्ण की शिला, क्षत्रिय के लिए रक्त वर्ण की शिला, वैश्य के लिए पीत वर्ण की शिला

---

१. विष्वक्सेनसंहिता, ११/१९४-१९९.
२. पाद्मसंहिता क्रि.पा., १६/३५.
३. विष्वक्सेनसंहिता, ११/२२९-२३२.
४. नारदीयसंहिता, १३/३-४.
५. पाद्मसंहिता, क्रि.पा. ११/२.
६. श्रीप्रश्नसंहिता, ११/५.
७. जयाख्यसंहिता, २०/६६-६९.
८. विमानार्चनकल्प, पटल १५.

तथा शूद्र के लिए कृष्ण वर्ण की शिला प्रतिमा कल्पन के लिए ग्राह्य है।[१] सनत्कुमारसंहिता को भी नारदीयसंहिता का क्रम मान्य है।[२] काश्यप शिल्पशास्त्र के अनुसार श्वेत शिला के सात, पीत शिला के सात तथा कृष्ण शिला के दस भेद होते हैं।[३] वय के आधार पर शिलाएँ बाला, वृद्धा तथा मध्या- तीन तरह की होती हैं। यौवन-शिला लिंग के आधार पर क्रमशः स्त्री-शिला, पुंशिला और नपुंसक-शिला तीन प्रकार की कही गयी है। स्त्री-शिला सर्वथा निस्तेज होती है। पुं-शिला से स्निग्ध स्वर होता है और स्फुलिंग प्रकट होते हैं। नपुंसक-शिला विवर तथा आवर्त से रहित, शरावोदर, कर्कश तथा शब्दहीन होती है।[४] शिला के विविध अंग भी होते हैं।[५]

प्रतिमोपादन-द्रव्यशिला के पश्चात् प्रतिमोपादान द्रव्य के रूप लौह का उल्लेख है। लौह-द्रव्य से सुवर्ण, रजत, ताम्र तथा आरकूट आदि धातुओं का बोध होता है।[६] लौह-द्रव्य दो प्रकार के हैं- शुद्ध तथा मिश्र। शुद्ध द्रव्य प्रशस्त तथा मिश्र द्रव्य वर्ज्य होता है। सामान्यतः लौह-द्रव्य से अर्ध-चित्र प्रतिमा का कल्पन वर्जित है। प्रतिमोपादन द्रव्यों में लौहजद्रव्य अन्य द्रव्यों की अपेक्षा निर्दुष्ट होता है।[७]

प्रतिमा के उपादान-द्रव्यों में दारु का भी परिगणन किया गया है। प्रतिमा कल्पन के लिए कुछ दारु ग्राह्य होते हैं, कुछ अग्राह्य। इनका विस्तृत विवरण पौष्करसंहिता के चालीसवें अध्याय में उल्लिखित है।

'मृद्' द्रव्य भी प्रतिमा कल्पन के उपादान द्रव्य के रूप में वर्णित है। 'मृद्' ब्राह्मण के लिए शुक्ल, क्षत्रिय के लिए रक्त, वैश्य के लिए पीत तथा शूद्र के लिए कृष्ण वर्ण का ग्राह्य है। प्रतिमोपादान-रूप में मिश्रित मृद् अग्राह्य है।[८] सनत्कुमारसंहिता में यही बात कही गयी हैं।[९]

प्रतिमा कल्पनार्थ उपादान द्रव्यों के वर्णन-प्रसंग में शिला, दारु तथा मृद् के विवेचन के पश्चात् प्रतिमा-कल्पन के लिए प्रयुक्त कुछ अन्य उपादान द्रव्यों की चर्चा प्रासंगिक है। जयाख्यसंहिता में पट पर प्रतिमा-निर्माण का निर्देश करते हुए पट-निर्माण का भी निर्देश किया गया है। प्रतिमोपादान के

---

१. नारदीयसंहिता, १३/४-५.
२. सनत्कुमारसंहिता, ब्रह्मरात्र, ७/२-३.
३. काश्यपशिल्पशास्त्र, ४९.
४. सात्वतसंहिता, २४/७९-८१.
५. विष्वक्सेनसंहिता, ४/२२.
६. नारदीयसंहिता, १३/९३-९४.
७. वशिष्ठसंहिता, ४/८७-८८.
८. नारदीयसंहिता, १३/१०९-११०.
९. सनत्कुमारसंहिता, ब्र.रा. ७/९७-१००.

रूप में दो या एक हाथ का चतुरस्र कार्पास का क्षोभ का अनाहत शुक्लवर्ण नव वस्त्र ग्राह्य है।[1] ईश्वरसंहिता ने चित्रमय बिम्ब के लिए आश्रय के रूप में भित्ति, काष्ठ तथा अम्बर को स्वीकार किया है। इनके अनुसार अम्बर के चार भेद हैं जो उनके उपादान-द्रव्यों के आधार पर मान्य हैं यथा- कार्पास, कौशेय, क्षौम और शाण।[2] जयाख्यसंहिता के अनुसार चित्र की कल्पंना के लिए सर्वप्रथम सकर्णिक अष्टदल-कमल का कल्पन निर्दिष्ट है। यहाँ कर्णिका के मध्य में द्वादशांगुल से आरम्भ कर त्रिंशत् अंगुल उच्छ्रायान्त चित्र का निर्माण किया जाता है। इस विधि से लक्ष्मी तथा लोकेशादि परिवाद देव से समावृत्त चित्र का कल्पन होता है।[1]

प्रतिमा-मान-

प्रतिमा के लिए प्रतिमोपादान द्रव्य के पश्चात् प्रतिमा-मान अर्थात् प्रतिमा के अंग-प्रत्यंग की लम्बाई-चौड़ाई का विवेचन अपेक्षित है। मान के लिए प्रयुक्त 'अंगुल' 'ताल' आदि का उल्लेख है। जयाख्यसंहिता में प्रतिमा-माप के लिए छोटी इकाई के रूप में 'अंगुल' का प्रयोग किया गया है।[4] पाद्मसंहिता में पाँच प्रकार के अंगुल मान का उल्लेख है- (१) मानांगुल (२) मानान्तर अंगुल (३) मात्रांगुल (४) मुष्ट्यंगुल (५) देहलब्धांगुल। इनके विवरण निम्नलिखित हैं-

(१) मानांगुल प्रमाण-

८ परमाणु	-	१ केश
८ केश	-	१ लिक्षा
८ लिक्ष	-	१ यूका
८ यूक	-	१ यव
८ यव	-	१ अंगुलि (उत्तम)
७ यव	-	१ अंगुलि (मध्यम)
६ यव	-	१ अंगुलि (अधम)

यहाँ पर परमाणु को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि गवाक्ष से सूर्य की रश्मियों में दिखने वाले कणों को परमाणु या अणु कहते हैं।

(२) मानान्तरांगुल-प्रमाण-

८ तिर्यक् यव	-	१ मानान्तरांगुल
३ शात्कि (ऋजु)	-	१ मानान्तरांगुल

१. जयाख्यसंहिता, २०/२-३.
२. ईश्वरसंहिता, १७/३-४.
३. जयाख्यसंहिता, २०/५-७.
४. जयाख्यसंहिता, २०/१० ए.

(३) मात्रांगुल-प्रमाण-

आचार्य के दक्षिण करस्थ मध्यमांगुल के मध्यम पर्व के दीर्घ का परिमाण मात्रांगुल माना जाता है।

(४) मुष्ट्यांगुल-प्रमाण-

चार भागों में विभक्त वस्तु के एक भाग को मुष्ट्यांगुल कहते हैं। पाद्मसंहिता के पांचवें अर्थात् देहलब्धांगुल की परिभाषा या प्रमाण का उल्लेख नहीं है।[1] पुरुषोत्तमसंहिता के अनुसार अंगुल मान का क्रम निम्नवत् है-

(१) मानांगुल प्रमाण-

८ रेणु	-	१ अणु (सर्षप)
८ सर्षप	-	१ तिल
८ तिल	-	१ यव
८ यव	-	१ तिर्यंगुल

(२) मात्रांगुल-प्रमाण- मध्यामांगुल का मध्य पर्व तथा उर्ध्व तिर्यक् को मात्रांगुल कहते हैं।

(३) देहलब्धांगुल-प्रमाण- अंगुष्ठवलयार्द्ध तथा अष्टार्द्ध उन्नत इन दोनों प्रकार से देहलब्धांगुल वर्णित है।[2] वैखानसागम सम्मत संहिताओं में भी उपर्युक्त तीनों अङ्गुलमानों के विवरण प्राप्त होते हैं।[3]

अङ्गुलमान के पश्चात् तालमान का वर्णन आता है। तालमान एक ताल से आरम्भ कर दशताल-पर्यन्त होता है। किसी भी प्रतिमा विशेष के मान को दश भागों में विभाजित करके, उसके एक भाग को पुनः बारह भागों में विभक्त करने से जो एक भाग होता है, उसे अंगुल कहते हैं। अंगुल का अष्टमांश यव कहा जाता है। द्वादशांगुलक मान ताल के नाम से विख्यात है। यही ताल मुख्यताल होता है। इस क्रम में दशताल से वासुदेव-मूर्ति के मान का विधान है। सार्द्धनवताल से ब्रह्म तथा शिव, नवताल से देवताओं की प्रतिमा, अष्टतालमान से मनुष्य मूर्ति का कल्पन विधान है।

जयाख्यसंहिता में बिम्ब के एक-एक अंग विशेष का मान अत्यन्त विस्तार से बताया है जैसे- प्रतिमा का चिबुक, ललाट, सिर, कर्ण, नेत्र, नासिका, कपोल, मुख, नाभिदेश, जंघा आदि अंगों का स्पष्ट वर्णन किया है।[4] नारदीयसंहिता में भी इन अंग-प्रत्यंगों के मान का उल्लेख है।[5]

---

१. पाद्मसंहिता, क्रियापाद, १२/२५-३२.
२. पुरुषोत्तमसंहिता- ८/७-११.
३. (क) विमानार्चनकल्प, पटल-२२.
(ख) ज्ञानकाण्ड, अध्याय ५०.
४. जयाख्यसंहिता, २०/९-६५.
५. नारदीयसंहिता, १३/१२९-१७२.

देव-प्रासाद-

पाञ्चरात्रागम के पुरस्कर्ताओं ने मूर्तिपूजा के लिए देवालयों की आवश्यकता विशेष आग्रह के साथ पेश की। सभी वर्णों के धार्मिकों को मन्दिर बनवाने के लिए आह्वान किया। इसी कारण सारे देश में मन्दिरों की स्थापना हुई और हरिनाम का जयघोष गाँवों-गाँवों में बड़े धूम-धाम के साथ गूँजने लगा। कलात्मक वस्तुओं की चर्चा करते समय हमारा ध्यान सर्वप्रथम उन मन्दिरों की ओर जाता है जो स्थापत्यकला के अनमोल रत्न हैं और जो दक्षिणी भारत के तीर्थस्थानों में बड़ी संख्या में पाये जाते हैं। इन मन्दिरों की विशालता, भव्यता इनकी प्राचीन द्राविड-शैली तथा इनके कालचक्र एवं विधर्मी आक्रमकों के प्रहारों से आज तक सुरक्षित रूप, इनके प्रति यात्रियों की विशेष श्रद्धा उत्पन्न करते हैं।

जयाख्यसंहिता में प्रासाद-लक्षण क्रम में प्रासाद-पीठ, प्रासाद भेद, प्रासादपीठ के रचना-विधान, प्रासाद-जंघा, जंघोर्ध्वरचना आदि पर सम्यक् विचार किया गया है।[१] इसी क्रम में भूमिकापञ्चविधान, अमलसारविधान, प्रासाद-द्वारविधान, द्वार के अग्र भाग में मण्टपविधान आदि का भी विवरण मिलता है।[२] पाद्मसंहिता के क्रियापाद में आलय-निर्माण के सभी पहलुओं भूमि-चुनाव, भूमि-भेद, भू-परीक्षा तथा शोधन, कर्षणादिक्रिया, वास्तुपुरुष की आराधना, बालालय का निर्माण का विस्तार से विचार करते हुए विमान के १. वैजयन्तक, २. श्रीविशाल, ३. पुष्पक, ४. केसर, ५. स्वस्तिक, ६. मन्दर, ७. विष्णुकान्त, ८. पुस्कर, ९. सुमङ्गल, १०. सौभद्रक, ११. जयावह, १२. स्वस्तिबन्धन आदि ५१ विविध भेद भी बताये हैं।[३] इस प्रकार यह बात साफ हो जाती है कि मौलिक रूप से ये सारे विषय वास्तुशास्त्रीय हैं।

प्रतिष्ठा-

प्रतिमा-कल्पन तथा प्रासाद-निर्माण के पश्चात् प्रतिष्ठा का अवसर आता है। जयाख्य ने प्रतिष्ठा का अर्थ प्रतिमा विशेष में मन्त्र के द्वारा भगवच्छक्ति की स्थापना कहा है।[३] श्रीप्रश्नसंहिता में प्रतिष्ठा का विवरण देते हुए भगवान् ने कहा है कि, मनुष्यों की इष्टसिद्धि के लिए पुनः सान्निध्य कारण से, मन्त्र के गौरव से तथा देशिकों की तपस्या द्वारा अर्चा (प्रतिमा) में प्रार्थित मैं सिद्धि प्रदान करता हूँ।[४]

प्रतिष्ठा के लिए प्रशस्तकाल का निर्देश करते हुए जयाख्यसंहिता ने शुक्लपक्ष की शुभ तिथियों, स्वानुकूल नक्षत्र, शुद्ध तथा स्थिर लग्न एवं

---

१. जयाख्यसंहिता, २०/९-६५.
२. तत्रैव, २०/१०६-१३०.
३. तत्रैव, २०/१३० बी - १३१ ए.
४. श्रीप्रश्नसंहिता, १८/१-२.

आषाढ, कार्तिक तथा चैत्र में सूर्य के स्थिर रहते हुए प्रतिष्ठा के लिए काल बताया है।[१] पाद्मसंहिता ने प्रतिष्ठा कर्म के लिए उत्तरायण को मुख्य तथा दक्षिणायन को जघन्य कहा है। इसके साथ-साथ संहिता ने प्रतिष्ठा के लिए ग्राह्यकाल का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है।[२] अधिवासमण्डप, मण्डप के मध्य पञ्चवेदि-निर्माण, प्रतिष्ठाविधानोपक्रम का सविस्तारेण वर्णन प्राप्त होते हैं।[३]

जब शिल्पकार मूर्ति बनाता है तो उसमें उस मूर्ति की स्थापना के पूर्व उन दोषों का परिमार्जन के लिए अधिवास स्नपन आवश्यक है।

प्रतिष्ठा के लिए अंगभूत होमादि सम्पादनार्थ यागशाला की आवश्यकता होती है। उसके लिए आलय के आगे के भाग में स्थान का निर्देश किया गया है। उस यागशाला में वेदिका तथा अग्निकुण्डों का कल्पन करते हैं। प्रतिष्ठा के समय यागशाला का अलंकरण किया जाता है। अलंकृत यागशाला में मण्डल-कल्पन करते हैं और उस पर चारों दिशाओं में सपल्लव कुम्भ को स्थापित कर उनमें इन्द्रादि देवताओं का आवाहन तथा पूजन करते हैं। इसके पश्चात् विज्ञापनपूर्वक प्रतिमा कौतुक-बन्ध किया जाता है। विज्ञापन के समय गुरु कहता है कि, हे अनामय भगवत्! तुम में ईश की आराधना करते हैं, तुम द्रव्य दोषों से रहित ऋद्धि युक्त बनो।[४] पाद्मसंहिता ने भी प्रायः इसी प्रकार विस्तार के साथ प्रतिसर बन्धन का निर्देश किया है।[५] पुनः शकुन पाठ आदि के साथ बिम्ब को स्नानवेदी पर लाते हैं और भद्रासन पर उसे रखते हैं। भद्रासन पर रखी प्रतिमा का पञ्चगव्य से अभ्यञ्जन करते हैं। पुनः मसुरपिष्ट से उस प्रतिमा का उद्वर्तन कर जल से प्रक्षालन करते हैं। अस्त्रमंत्र के द्वारा प्रतिमा का नेत्रोन्मीलन किया जाता है। नेत्रोन्मीलन के समय पात्र में स्थापित पदार्थ विशेष देव को प्रदर्शित करते हैं।[६] स्नपन सम्पादित कर भगवान् का आवाहन करते हैं और अर्घ्य, पाद्य, गन्ध, पवित्र वस्त्र, उत्तरीय धूप, अञ्जन, पुष्पमाल्य, मधुपर्क, नैवेद्य, ताम्बूल से भगवदाराधन सम्पन्न करते हैं। मुद्रा प्रदर्शन भी किया जाता है। स्नपन के बाद बिम्ब का शयानाधिवास किया जाता है।[७]

इसके अनन्तर मूर्तिमन्त्र के द्वारा बिम्ब में अर्चाभिमानी जीव का समायोजन किया जाता है। प्रतिमा में शक्ति संयोजन के पश्चात् पुनः प्राक् कुण्ड में

---

१. जयाख्यसंहिता, २०/१३१-१३२.
२. पाद्मसंहिता क्रियापाद २५/१-१६.
३. जयाख्यसंहिता, २०/१३३-१४७.
४. तत्रैव, २०/१३४-१४७.
५. पाद्मसंहिता क्रियापाद, २६/२२-२८.
६. जयाख्यसंहिता, २०/१३८-१४७, १६१-१७९.
७. तत्रैव, २०/१८४-१८७, १९४.

यथाशक्ति होम का विधान वर्णित है। इसके अन्तर्गत हृन्मन्त्र से आहुति की जाती है। होम के बाद शान्त्युदकसेक निर्दिष्ट है। उसके अनन्तर यागशालास्थ अग्निकुण्ड में विभिन्न मन्त्रों से शत या सहस्र संख्या की आहुति प्रदान करते हैं।[1] इस प्रकार प्रतिमा का अधिवास तथा तदंगभूत होमादि तत्तत् कर्म सम्पादित किया जाता है।

बिम्ब में ईश्वरसन्धान, शब्दानुसन्धान, मन्त्रसन्धान, निद्रानुसन्धान का विशद विवेचन किया गया है।[2] शिलास्थापन क्रम में सर्वप्रथम रत्नन्यास आवश्यक है। इस रत्नन्यास के क्रम में विष्णु गायत्री से रत्नों को अभिमन्त्रित करते हैं। रत्नन्यास के साथ बीज न्यास भी किया जाता है। रत्नन्यास से धातु तथा लोह भी विवक्षित है। जयाख्यसंहिता में प्रत्येक दिशा में किस धातु का न्यास किया जाता है? इसका उल्लेख है।[3] पारमेश्वरसंहिता में बीज तथा रत्नादि के न्यास का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इस संहिता में रत्नादि की संख्या अधिक है तथा रत्न न्यास के विकल्प भी वर्णित हैं।[4]

इसी सारी प्रक्रिया के पश्चात् बिम्ब प्रतिष्ठापन के पूर्व के तत्तदंगों में तत्तद् पदार्थों का पृथक्-पृथक् चिन्तन किया जाता है। तदनन्तर बिम्बप्रतिष्ठापन का अवसर आता है। इस क्रम के अन्तर्गत विविध मन्त्रों के उच्चारण के साथ आलय में प्रतिमा का प्रवेश कराते हैं। प्रासाद में प्रतिमा का प्रवेश कराकर मूलमंत्र तथा गायत्री मन्त्र का उच्चार करते हुए बिम्ब को पीठ पर स्थापित कर देते हैं।[5] पीठ पर जब बिम्ब स्थिर हो जाता है तब उसमें तत्त्वसंस्थापन करते हैं। यह तत्त्वसंस्थापन मूल मन्त्र के द्वारा होता है। तत्त्वसंस्थापन आचार्य के द्वारा सम्पादित होता है। अपने शरीर से प्राण का तन्मात्रादियों के साथ निर्गमन कर बिम्ब के साथ संयुक्त कराने का ध्यान करते हैं। ऐसा करने से मूर्ति क्षण भर में सजीव हो जाती है। इस प्रकार तत्त्वसंस्थापित प्रतिभा का राजोपचारादि से आराधन करते हैं। पाञ्चरात्रागम के अनुसार प्रतिमास्थ देव का तत्त्वसंस्थापन एक विलक्षण विशेषता कही जा सकती है क्योंकि तत्त्वसंस्थापन के पश्चात् ही उसमें विविधोपचारपूर्वक सर्वथा मानवीय भोगादि के द्वारा आराधना

१. जयाख्यसंहिता, २०/२०३, ५, ६.
२. तत्रैव, २०/२२१-२४८.
३. तत्रैव, २०/३०७-३१८.
४. पारमेश्वरसंहिता, १५/७३७-७७२.
५. जयाख्यसंहिता, २०/३२६-३३०.

का प्रसंग युक्तियुक्त प्रतीत होती है जो कि भक्तिभावमूलक इस पाञ्चरात्रागमशास्त्र का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय है।

प्रतिमा की प्रतिष्ठा कर उसमें भगवान् का विज्ञापन किया जाता है। तदनन्तर, प्रतिमा में तत्त्वसंस्थापन होता है। बिम्ब का मन्त्रमयवृक्ष की तरह भावना की जाती है। तत्पश्चात्, बिम्ब, पीठादि का लय भोगादि विधि से पूजन विधान वर्णित है।[1] प्रतिष्ठा के पश्चात्, साधक स्नपन करता है। पुनः पूर्वोक्त विधि पूजा होमादि कार्य सम्पादित करता है। सुप्रतिष्ठित तत्त्वाभिशंसन के पश्चात् स्तुतिजयघोष की जाती है। प्रदक्षिणा, प्रणाम, बलि प्रदान की जाती है। बलि के लिए अर्घ्य आदि समर्पित किये जाते हैं। पुनः शान्ति के लिए पूर्णाहुति होती है। रात्रि जागरण किया जाता है। तत्पश्चात्, विष्वक्सेन आदि का अर्चा की जाती है। इस प्रकार प्रतिष्ठा प्रक्रिया पूर्ण करने पर साधक को सर्वभोग सुलभ रहता है और अन्त में विष्णुलोक के परम पद को प्राप्त करता है।[2]

उत्सव-

पाञ्चरात्रागम ग्रन्थों में सामान्यतः भगवत्प्रतिमा-प्रतिष्ठा-सम्पादनक्रम के अन्त में तदंगभूत उत्सवाचरण का विधान देखते हैं। इसके अतिरिक्त वर्ष में अनेक बार अनेक तरह के भगवदाराधनपरक उत्सवाचरण का निर्देश दिया गया है। उत्सव विषय इस आगम के महत्त्वपूर्ण विषयों में अन्यतम है।

विष्वक्सेनसंहिता में उत्सवों के अंगों का निरूपण किया गया है जो निम्नलिखित हैं-

१. अंकुरावाप	२. पताकारोहण	३. शुद्धस्नान
४. स्नपन	५. अंकुरोत्सव	६. होम
७. भूषण	८. बलियाग	९. महोत्सव
१०. तीर्थाधिवास	११. तीर्थस्नान	१२. स्नपन
१३. पुष्पयाग	१४. दक्षिणादान	१५. ध्वजारोहण[3]

ये ही विषय सामान्य रूप से सभी पाञ्चरात्रागम ग्रन्थों में प्रतिपादित हैं।

दुःख को सव कहा गया है। जिस कर्म-विशेष के आचरण से वह सव (दुःख) उद्गत होता है उसे उत्सव कहते हैं अर्थात् उत्सव क्रिया विशेष है

१. जयाख्यसंहिता, २०/३३१-३४२.
२. तत्रैव, ३४३-३५४.
३. विष्वक्सेनसंहिता, २७/१३-१६.

जिसके सम्पादन से सव (दुःख) समाप्त हो जाता है।[1] पारमेश्वरसंहिता में भी ऐसी ही परिभाषा है।[2]

नारदीयसंहिता का कहना है कि 'सव' का अर्थ यज्ञ होता है। यज्ञ से भी उद्गत अर्थात् उत्कृष्ट होने के कारण भगवदाराधन रूप इस क्रिया विशेष को उत्सव कहते हैं। संहिताकार का कहना है कि, बिना उत्सवाचरण के प्रतिष्ठा का पूर्ण फल प्राप्त नहीं होता।[3] विष्वक्सेनसंहिता में उत्सव को सर्वशान्तिकर, पुण्यप्रद, सर्वयज्ञफलप्रद, सर्वपापहारक, सर्वकर्म-शुभावह, राजा तथा राष्ट्र के लिए वृद्धिकारक कहा गया है।[4]

जयाख्यसंहिता के अनुसार आज भी काञ्ची के मन्दिर में वैशाख माह में उत्सव का विधान किया जाता है जिसका वर्णन विस्तार से प्रथम पटल के प्रक्षिप्तांश में किया गया है। प्रतिमाप्रतिष्ठा के अनन्तर महोत्सव का विधान बताते हुए कहा गया है कि शुभ दिन, शुभ नक्षत्र, सौम्य ग्रह में देश के राजा मन्त्रियों सहित आकर इस महोत्सव में सम्मिलित हों और अपने देश में विहित विधान के अनुसार महोत्सव मनावें। इसमें कर्मबिम्ब को विमान से निकालकर चक्र (रथ) पर रखते हैं। नृत्य, गीत, वाद्य, दान आदि का आयोजन के साथ सभी ग्रामों से घूमते हुए इस महोत्सव का समापन किया जाता है जिससे महान् यश, पुण्यादि की वृद्धि होती है।[5] श्रीदिवाकर आचार्य ने अपने शोधपत्र 'Consecration of Visnu's Image according to Two Earliest PŒncarŒtras' में नेपाली मैनुस्क्रिप्टस् स्वायम्भूवपाञ्चरात्र तथा देवामृतपाञ्चरात्र में निर्दिष्ट उत्सव, धर्मानुष्ठान विधि का वर्णन प्रस्तुत किया है।[6]

विविध पाञ्चरात्रागम-ग्रन्थों में वर्णित एवं भक्ति-भावना-प्रदर्शन तथा उपासना के लिए प्रदर्शित इन विविध उत्सवों का स्वरूप इस आगम-साहित्य में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय कहा जा सकता है। आज भी दक्षिण भारत के देव मन्दिरों में ये उत्सव अत्यन्त उत्साह एवं समारोहपूर्वक सम्पादित होते हैं। ब्रह्मोत्सव आदि अवसरों के समय लाखों की संख्या में भक्तजन भक्तिभाव से प्रेरित होकर आध्यात्मिक उन्नति से अनुप्राणित होते हैं। वस्तुतः ये उत्सव समाज की आध्यात्मिक उन्नति के स्रोत कहे जा सकते हैं।

पवित्रारोपण (पवित्रोत्सव)

वैष्णवोत्सवों में पवित्रोत्सव का विशिष्ट स्थान है। पाञ्चरात्र तथा वैखानस- दोनों ही सम्प्रदायों में यह विषय निर्दिष्ट हैं।[6] पवित्रारोपण के उद्देश्य- प्रतिपादन क्रम में जयाख्यसंहिता का कहना है कि, क्रिया, जप तथा अर्चनादि के लोप

---

१. विष्वक्सेनसंहिता, २७/२२
२. पारमेश्वरसंहिता, १६/२-३.
३. नारदीयसंहिता, १८/१-२.
४. विष्वक्सेनसंहिता, २७/१-२.
५. जयाख्यसंहिता, २०/३८२-८६.
६. Abstracts of Papers, 15th world Sanskrit Conference, 5 to 10 January, 2012 New Delhi, pp. 351.
६.क.विमानार्चनकल्प पटल, ७८. ख. परमेश्वरसंहिता, १२. ग. पाद्मसंहिता, चर्यापाद, १४.

होने पर तज्जन्य दोष-निवारणार्थ पवित्रारोपण के बिना और अन्य कोई गति नहीं है।[1] 'पवित्र' शब्द का निर्वचन करते हुए कहा गया है-

पाति यस्मात्सदोषं हि पतनात्परिरक्षति।
विशेषेण द्विजां स्त्राति पूर्णं कर्म करोति च।।
साधके च क्रियाहीने तस्मादुक्तो मया महान्।
याग एष पवित्राख्य उक्तलक्षणलक्षितः।।[2]

'पवित्र' की प्रशस्ति गाते हुए इसकी तुलना श्रौतयाग से की गयी है। पवित्र के सूक्ष्म तथा स्थूल-दो भेद बताये गये हैं। तत्पश्चात् सूत्रादि संख्या-सापेक्ष प्रथम, द्वितीयादि पवित्र का उल्लेख किया गया है।[3]

पवित्र भेद के पश्चात् पवित्र-कल्पनार्थ उपयुक्त उपादान द्रव्य का क्रम आता है। इस प्रसंग में जयाख्यसंहिता का कहना है कि, कार्पास या क्षौमसूत्र का अच्छी तरह शोधन कर दहनाप्यायन के द्वारा व्यापक रूप से पञ्चभूतात्मक ध्यान का विधान है। पुनः उस सूत्र को त्रिगुण कर पुनः चतुर्गुण करने को कहा गया है। समगुणवाला सूत्र सर्वभाव की समता का उत्पादन करता है अतः समगुण पवित्र की ही कल्पना होनी चाहिए विषम गुण की नहीं।[4]

विभिन्न पवित्र के मान तथा तन्तु-संख्या एवं उसकी ग्रन्थि-संख्या का निर्देश भी उपलब्ध है। जयाख्य के मत में १०८ सूत्र उत्तम पवित्र कहा गया है।[5] पवित्र-कल्पन के अनन्तर वर्ण-कल्पन अर्थात् पवित्र के चन्दनादि रँगने का कार्य किया जाता है। पवित्रारोपण-काल का निर्देश भी निर्दिष्ट है।[6] श्रावण के शुक्ल पक्ष में, कार्त्तिक के शुक्ल पक्ष में कर्कटाराशिस्थ दिवाकर होने के समय द्वादशी तिथि में भगवान् का पवित्रारोपण विहित है। सिंहस्थ, कन्यास्थ तथा तुलास्थ सूर्य होने पर पवित्रारोपण का समय मान्य है।[7]

पवित्राधिवास के पश्चात् मण्डलाङ्ग देवों तथा विष्वक्सेनादि देवों को हारसंयुक्त नाना प्रकार के पवित्र समर्पित किया जाता है। पवित्र की संख्या

१.क. जयाख्यसंहिता, २१/३-४, ६-७.
ख. पौष्करसंहिता, ३०/४३.
२.क. जयाख्यसंहिता, २१/१११-११२.
ख. पाद्मसंहिता, चर्यापाद, १४/३८-३९.
३. जयाख्यसंहिता, २१/१३-१४, १७-१८.
४. तत्रैव, २१/८-११.
५. तत्रैव, २१/१४.
६. तत्रैव, २१/१५-१६.
७. तत्रैव, २१/४-६.

तीन, दो अथवा एक का विधान विहित है।[1] काशी में श्रावण शुक्ल एकादशी के दिन गोपालमन्दिर के निकट रेशम के द्वारा निर्मित पवित्र वस्त्र आज भी देखे जा सकते हैं इसी कारण इस एकादशी का नाम पवित्रा एकादशी है। पवित्रारोपण का फल पाद्म के शब्दों में-

"अनेन विधिनः विष्णोः पवित्रारोहणं हरे।
कुर्वन् फलान्यनन्तानि प्राप्नुयान्नैव संशयः।।"[2]

स्नपन- विविध आगमिक और श्रौत कर्मों में स्नपन का विधान वर्णित है। पाञ्चरात्र-सम्प्रदाय में विविध अवसरों में स्नपन क्रिया सम्पादित की जाती है। परमसंहिता का कहना है कि, स्नपन सर्वशान्तिदायक तथा सर्वपापनाशक है।[3] जयाख्यसंहिता का अभिमत है कि, मूर्त्ति-निर्माण के पश्चात् प्रतिष्ठा से पूर्व कर्मशाला में हुए दोषों की शान्ति के लिए स्नपन आवश्यक है।[4] स्नपन को अवभृथ स्नान की संज्ञा दी गई है। यह अवभृथ स्नान सिद्धि और मुक्ति का प्रदायक है।[5] सामान्य रूप से उत्तम, मध्यम तथा अधम- ये तीन स्नपन के भेद हैं।[6]

स्नपन के क्रम में अधिवासित कुम्भों को स्थापित करते हैं तथा उनमें तत्तत् स्नपन-द्रव्यों को प्रक्षेप करते हैं। इन द्रव्यों के नाम- १. क्षीर, २. शुद्धोदक, ३. धातृफल, ४. शालीबीज, ५. पञ्चगव्य, ६. धृत, ७. मधु, ८. दधि आदि है।[7] संकर्षणसंहिता[8] में निर्दिष्ट परस्नपन का कलशव्यवस्था तथा द्रव्यों की संख्या दी गयी है, जो निम्नवत् है-

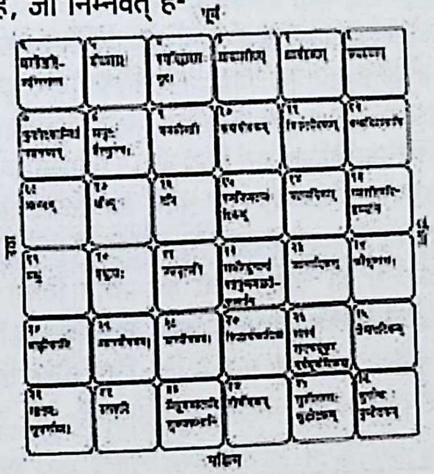

१. जयाख्यसंहिता, २१/११-१३.
२. पाद्मसंहिता, चर्यापाद, १४/१५८.
३. परमसंहिता, २१/४३.
४. जयाख्यसंहिता, २०/१४८.
५. जयाख्यसंहिता, २०/३६३.
६. नारदीयसंहिता, २०/६६-६७.
७. जयाख्यसंहिता, २०.
८. संकर्षणसंहिता, अर्चनारात्रम्, ७/६२-७९

दीक्षा-विधान

निगमागमीय संस्कृति में दीक्षा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। दोनों ही संस्कृतियों में दीक्षा की विधि एवं प्रक्रिया वर्णित हैं। पाञ्चरात्रिक संहिताओं में दीक्षा कोई एक कर्म विशेष न होकर नाना-क्रिया कलापों का समुच्चय है। जयाख्यसंहिता तथा अन्यान्य संहिताओं में दीक्षाक्रम के सम्पादन में विविध अग्निकुण्डों में हवन का अवसर आता है उसके लिए अनेक कुण्डों के कल्पन प्रकार आदि विषयों के साथ-साथ अग्निस्वरूप एवं उसके भेद, उसकी जिह्वा तथा उससे सम्बद्ध कुछ अन्यान्य विषयों का विवेचन दीक्षाङ्ग रूप में स्वीकाकर कर पटल पन्द्रह में विस्तार पूर्वक विचार किया गया है। पाञ्चरात्रिक दीक्षा में मण्डल का विशिष्ट स्थान है। जयाख्यसंहिता के तेरहवें पटल में तथा अन्य संहिताओं में मण्डल कल्पन प्रकार, उसको विविध वर्णों से सुशोभित करने तथा वर्णोपादन विषय का विवेचन करते हुए मण्डल में अर्चनार्ह देवताओं स्थान-ध्यान आदि का विवेचन देखा जा सकता है। जपादि समाप्त कर दीक्षाविधि का विस्तृत विवेचन है। दीक्षा क्रम में गुरु-लक्षण, शिष्य-लक्षण (वैष्णव भेद तथा आचार) देखे जा सकते हैं अर्थात् अभिषेकादि विषय भी दीक्षा से सम्बद्ध हैं। 'दीक्ष्' धातु से अ प्रत्यय कर 'दीक्ष' शब्द निष्पन्न कर पुनः अदन्त मानकर स्त्रीत्व को विवक्षा में 'टाप्' प्रत्यय कर 'दीक्षा' शब्द व्युत्पन्न होता है। वी.एस. आप्टे ने 'दीक्षा' के निम्नलिखित अर्थ किये हैं- (१) किसी धर्म- संस्कारानुष्ठन के लिए स्वयं को तैयार करना, (२) अपने को सन्नद्ध करना, (३) शिष्य बनाना, (४) उपनयन संस्कार करना, (५) उपनीत करना, (६) आत्म संयम करना।[1] कालिदास ने भी 'दीक्षा' शब्द का प्रयोग किसी धर्म संस्कार के निमित्त समर्पण अर्थात् पवित्रीकरण के अर्थ में किया है।[2] शब्दकल्पद्रुम ने 'दीक्षा का निर्वचन करते हुए कहा गया है कि, जिस दीक्षा के द्वारा दिव्य ज्ञान को दिया जाता है तथा संचित पाप का क्षय होता है, उसे 'दीक्षा' कहते हैं।[3]

---

१. संस्कृत हिन्दी शब्दकोष, पृ. ४०८, सं. १९७३.

२. रघुवंश, ३/४४/६५.

३. शब्दकल्पद्रुम, भाग २, पृ. ७१४

गौतमीयतन्त्र का कहना है कि, दीक्षा सर्वसिद्धिप्रवर्तिका है, दीक्षा के बिना सैकड़ों वर्षों में भी मन्त्र सिद्ध नहीं होते। यह दिव्यता देती है। पाप संतति का क्षय करती है। अस्तु, तन्त्र पारंगत मुनियों के द्वारा इसे दीक्षा कहा गया है।[१] श्रीप्रश्नसंहिता के अनुसार जिस कर्म से विष्णु का परम पद दृष्ट होता है और जगत् का बंधन कट जाता है उसे 'दीक्षा' कहते हैं।[२] पुरुषोत्तमसंहिता में दीक्षा का निम्न परिभाषा दी गयी है-**धी(दी)यते मुक्तिरनया क्षीयते च यथा भवः। दीयते क्षीयते चैव सा दीक्षेत्यभिधीयते।।**[३] वहीं संकर्षणसंहिता में दीक्षा का निम्न परिभाषा दी गयी है-**दीयते विमलं ज्ञानं दिव्यभावं परात्मनि। क्षीयते पापसन्तापं सा दीक्षा तन्त्रसम्मता।। ईक्ष्यते भगवान् येन कर्मणा पुरुषोत्तमः। द्यते संसारमखिलं सा दीक्षाऽऽगमसम्मता।। दीक्षामूलं जपं सर्वं दीक्षामूला क्रियाऽखिला। दीक्षामूलो सदाचारो दीक्षामूलाश्च सिद्धयः।।**[४] इन सारी परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि, दीक्षा एक व्रताचरण है तथा उसका प्रयोजन शारीरिक तथा आत्मिक शोधन है। दीक्षा का प्रस्तुत अर्थ और प्रयोजन श्रौत कर्मों में भी वर्णित है।श्रौतसूत्रादि के मत में सोमयाग से पूर्व यजमान के सम्पाद्यमान विविध कर्मसमुच्चय को 'दीक्षा' कहते हैं। दीक्षा की यह परिभाषा भारतीय विद्वानों के अतिरिक्त पाश्चात्य विचारकों कीथ, ओल्डनबर्ग तथा एल. रेनेउ आदि को भी मान्य है।[५] श्रौत प्रक्रिया में दीक्षा के महत्त्व का पूर्ण रूप से स्वीकारा गया है इसीलिए अनेक संहिता ग्रन्थों, श्रौतसूत्रों तथा ब्राह्मणग्रन्थों में इसका विशद् प्रतिपादन किया गया है।[६] वैदिक दीक्षा की विशेषता का उल्लेख श्रीगणेश उमाकांत चिटे के शब्दों में- (१) धार्मिक आनन्दातिरेकोपलब्धि, (२) देवत्व का आपादान (३) उच्चवर्ण श्रेणि की उपलब्धि, (४) गूढ संस्कारक्रम, (५) परिशोधन, (६) शक्तिसम्पादन- ये छः भेद हैं।[७]

---

१. अथ दीक्षां प्रवक्ष्यामि सर्वसिद्धिप्रवर्तिकाम्। यां विना नैव सिद्धिः स्यसान्मन्त्रः वर्षशतैरपि। ददाति दिव्यभावं च क्षिणुयात् पापसन्ततिम्।
तेन दीक्षेति विख्याता मुनिभिस्तन्त्रपारगैः।। गौतमीयतन्त्रम्, ७/१-३, चौखम्भा संस्करण, १९७७.

२. ईक्षते कर्मणा येन तद्विष्णोः परमं पदम्। द्यति संसारमखिलं तेन दीक्षेति भण्यते।। श्रीप्रश्नसंहिता, १६/१८-१९.

३. पुरुषोत्तमसंहिता, २२/४.

४. संकर्षणसंहिता, आचाररात्रे, २/१५-१७.

५. 'सिग्निफिकेन्स आफ दीक्षा' अनाल्स आफ द भं. ओ. रि. इ., पूना, वाल्यूम ११, भाग १-४, १९७०.

६. शतपथब्राह्मण, ३/२/१, कात्यायनश्रौतसूत्र, ७/२/४.

७. 'सिग्निफिकेन्स आफ दीक्षा' अनाल्स आफ द भं. ओ. रि. इ., पूना, वाल्यूम १, भाग १-४, १९७०.

इस तरह वैदिक दीक्षा के वैशिष्ट्यों के परिशीलन करने के पश्चात् पाञ्चरात्रागम दीक्षा की विशेषताओं के परिशीलन से ये ही विशेषताएं परिलक्षित होती हैं। नारदीयसंहिता का अभिमत है कि, विष्णुमण्डल में दीक्षा प्राप्ति के पश्चात् महापातकी तथा उपपातकी भी शीघ्र ही मुक्त हो जाते हैं। कर्मदुष्ट, बीजदुष्ट, आहारदुष्ट तथा संकरकारक भी एक बार अध्वर में दीक्षा प्राप्ति के पश्चात् मुक्त हो जाते हैं। दीक्षा के पश्चात् मानव को वह गति प्राप्त हो जाती है जो कि याग, दान आदि के द्वारा विप्र को भी प्राप्त नहीं होती। दीक्षा के द्वारा पाशबन्धयुक्त जीव, पाशपञ्जरों से योनि मार्गों में प्रवेश नहीं करते बल्कि, समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाते हैं। दीक्षा निर्वाणदा होती है। पशुपति के लिए दीक्षा का न्यास कर चंचल चित्त का शोधन भी किया जाता है। अस्तु, बन्धन से छुटकारा पाने का उपाय दीक्षा है।[१]

ईश्वरसंहिता का कहना है कि, दीक्षित लोगों को ही विष्णु की आराधना का अधिकार है।[२] दीक्षा प्राप्त कर मनुष्य देहान्त के अनन्तर अभिमत पद को प्राप्त करता है। प्रथम दीक्षा कैवल्य-प्रदा, द्वितीय भोगप्रदा तथा कैवल्यप्रदा, तृतीय भोगप्रदा बतायी गयी है। समस्त दीक्षाएं आचार्यानुमत तथा फलभाव के लिए अनुष्ठेय हैं।[२] उपर्युक्त प्रमाणों से यह प्रमाणित हो जाता है कि, पाञ्चरात्रिक दीक्षा का उद्देश्य वैदिक दीक्षा में समान शिष्य का शुद्धीकरण है। इस शुद्धीकरण के अनन्तर ही शुद्ध शिष्य भगवदाराधन के लिए योग्य होता है। जैसे सोमयाग सम्पादन के लिए यजमान दीक्षा के द्वारा पहले योग्यता प्राप्त करता है उसी तरह पहले वैष्णव भी दीक्षा ग्रहण करता है।श्रौतदीक्षा क्रम में किये जाने वाले संस्कार देवत्वापादन के रूप में वर्णित है। पाञ्चरात्रिकदीक्षा क्रम में यही वैशिष्ट्य परिलक्षित होता है। वैष्णवी दीक्षा ग्रहण के पश्चात् दीक्षित व्यक्ति को गुरु विष्णु-हस्त-प्रदान करता है जिससे शिष्य वासुदेव सदृश हो जाता है।[३] जयाख्यसंहितादीक्षा क्रम में शिष्य के देह शोधन तथा संस्कार के निमित्त उसका दहन तथा आप्यायन, उसी प्रकार सृष्टि तथा संहृति का विधान किया है।[४] जयाख्य का यह विधान नारदीय[५], विश्वामित्र[६] तथा पाद्मसंहिता[७] को भी

---

१. नारदीयसंहिता, ७/३-९.

२. ईश्वरसंहिता, २१/२४७-४९.

३. जयाख्यसंहिता, १६/३३५, नारदीयसंहिता, ९/३२१.

४. जयाख्यासंहिता, १६/२४२-४४.

५. नारदीयसंहिता, ९/६.

६. विश्वामित्रसंहिता, ९/५२/५३.

७. पाद्मसंहिताचर्यापाद, २/४६-४७.

मान्य है। इस संस्कार की तुलना हम श्रौतदीक्षा के 'गूढसंस्कारक्रम' से कर सकते हैं। वस्तुतः, यहाँ भी यजमान के शुद्धिक्रम में सृष्टि तथा संहृति का ही विधान किया जाता है। इन सारे तुलनाओं से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि, श्रौतदीक्षा की विशेषता, पाञ्चरात्रिकदीक्षा में दिखलायी पड़ती है। उभयत्र प्रयोजन समान है। श्रौतयागक्रम में आत्मा की शुचिता के लिए दीक्षा पर बल दिया गया है तो पाञ्चरात्र में शारीरिक तथा आध्यात्मिक शुचिता के लिए दीक्षा विधान बताया गया है। जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं कि, पाञ्चरात्रिक दीक्षा की प्रायः वही विशिष्टता है जो श्रौत प्रक्रिया में वर्णित दीक्षा की। श्रौतयाग सम्पादन अमूर्त अग्नि-आराधनामूलक प्रक्रिया के अन्तर्गत योग्यता और अर्हता के लिए श्रौत दीक्षा का विधान किंया जाता है। उसी का अनुगमन पाञ्चरात्रिक दीक्षा को कहा जा सकता है। इसमें दीक्षा प्राप्ति के पश्चात् ही भगवदाराधन अर्हता प्राप्त होती है। यह आराधना परार्थ एवं स्वार्थ दोनों ही हो सकता है। श्रीप्रश्नसंहिता में साफ शब्दों में श्रौत दीक्षा की तरह इस दीक्षा को बताया गया है।[1] जयाख्यसंहिता में सामान्य रूप से दीक्षा के दो रूप बताये गये हैं- (१) सामान्या दीक्षा तथा (२) विशेषाख्या दीक्षा। सामान्या दीक्षा के पुनः तीन भेद बताये गये हैं- (१) संक्षिप्ता (२) मध्यमा तथा (३) अतिविस्तरा। संक्षिप्ता दीक्षा अल्पकालिक होती है। वह दीक्षा योग तथा संकट प्रदान करने वाली कही गयी है। मध्यमा दीक्षा के द्वारा भोग और काल की प्राप्ति होती है। अतिविस्तरा दीक्षा होम पूजा के प्रभाव से अत्यन्त भोग फलदायिनी बतायी गयी है। अपवर्ग में तीनों दीक्षाओं को सम होना स्वीकृत है। विशेषाख्या दीक्षा पाँच प्रकार की होती है। उसमें प्रथम दीक्षा समयज्ञ विष्णुचित्त भक्त के लिए कही गयी है। उसी तरह यह दीक्षा कन्याओं के लिए भी स्वीकृत है। द्वितीय दीक्षा पुत्रक के लिए, तृतीय दीक्षा मोक्षमार्गस्थ साधकों के लिए, चतुर्थी मोक्ष-सायुज्यदायिनी दीक्षा मुनियों (आचार्यों) के लिए तथा पञ्चमी दीक्षा देशिकों एवं अङ्गनाओं के लिए अभिहित है। इन सभी दीक्षाओं में तत्त्वसंयोजन आदि का विस्तार से वर्णन किया गया है तथा उसी के तारतम्यादि भाव के आधार पर ये दीक्षा-भेद कल्पित हैं।[2] ईश्वरसंहिता में तीन प्रकार की दीक्षाओं का उल्लेख है-(१) वैभव दीक्षा (२) व्यूह दीक्षा तथा (३) ब्रह्म दीक्षा। इन तीनों दीक्षाओं के अन्त में गुरु शिष्य को शक्ति, भूषण तथा वाहन आदि देता है।[3] लक्ष्मीतन्त्र में स्थूल, सूक्ष्म और पर– ये तीन दीक्षा के भेद हैं। संकर्षणसंहिता

---

१. यथैव कर्मकाण्डेषु दीक्षोक्ता यागसिद्धये। तथेवैकायने वेदे पूजायागादिसिद्धये। श्रीप्रश्नसंहिता, १६/२०.

२. जयाख्यसंहिता, १६/५४-६१.

३. ईश्वरसंहिता, २१/४४८-६०.

में दीक्षा के निम्न भेद बताये गये हैं- **दीक्षा सा त्रिविधा प्रोक्ता वैभवी व्यूहरूपिणी। ब्रह्माख्या चैव दीक्षोक्ता शरणागतवत्सला।। वैभवी भोगदा ज्ञेया द्वितीया भोगमोक्षदा। तृतीया ब्रह्मसंज्ञाऽस्ति ह्यपुनर्भवलक्षणा।। प्रथमा वैभवी दीक्षा विभवमन्त्ररूपिणी। द्वितीया चातुरात्म्यस्य केशवादेश्च मन्त्रिणी।। तृतीया पररूपस्य वासुदेवस्य मन्त्रिणी। सर्वश्रेष्ठा तु सा वाच्या सर्वश्रेष्ठफलप्रदा।।**[१] दीक्षार्थ उपस्थित हुए शिष्य की परिक्षा का भी विधान पाञ्चरात्रसंहिताओं में प्राप्त होता है। परीक्षा से शिष्य के अन्य गुणों की परीक्षा के साथ ही साथ उसके दृढ निश्चय का भी ज्ञान हो जाता है। एक बार परीक्षा में कसा हुआ शिष्य पूर्व में किसी भी वर्ण का क्यों न हो? भगवत्पूजा के लिए योग्य और अधिकारी बन जाता है। जयाख्यसंहिता में शिष्य परीक्षण के विधान का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि, पूर्व ब्रह्मचर्य में स्थित, शुचि, जितेन्द्रिय, धीर, गुरुदेवाग्नि- तत्पर, वर्णाश्रमधर्मगुणोपेत, विनीत, श्रद्धान्वित तथा भगवद्भक्त संसाराग्नि से खिन्न हो, वही दीक्षा के लिए योग्य अधिकारी है। गुरु इन उपर्युक्त लक्षणों से युक्त शिष्य का परीक्षण करता है तथा शिष्य को दीक्षा के योग्य समझकर उसे दीक्षित करता है।[२] इसी संहिता में यह भी प्रतिपादित है कि, सभी के हृदय में एक ही विष्णुतत्त्व अनेक रूपों में विद्यमान होने के कारण केवल उपसर्पित अर्थात् केवल समीप आने वालों को ही नहीं निःसंदेह सम्पूर्ण विश्व को दीक्षित किया जाना चाहिए।[३] लक्ष्मीतन्त्र में शिष्य को शान्तिशील, बुद्धिमान्, लोभ-क्रोध से विवर्जित, स्नानार्चन आदि में निरत रहना बताया गया है। उसे सदा गुरु-शुश्रूषा के लिए उद्यत और तर्पणशील होना कहा गया है। कुलीन प्राज्ञ और शास्त्रार्थ, चिन्तन में रत किसी भी वर्ण के शिष्य को दीक्षित होने का अधिकार है। दीक्षा-अधिकारियों के अन्तर्गत "शुभाःकन्याःस्त्रियस्तथा" कहकर कन्याओं तथा स्त्रियों को भी तान्त्रिक-दीक्षा में अधिकार को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है।[४] जयाख्यसंहिता में भी दीक्षित शिशु और नारी का उल्लेख है।[५] पाञ्चरात्रसंहिताओं में दीक्षा आदि कृत्यों के सम्पादन के लिए उपर्युक्त आदर्श आचार्य के लक्षणों का भी विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। यह निर्णय करना दुष्कर है कि, किस संहिता में

---

१. संकर्षणसंहिता, आचाररात्रे, २/२०-२३.
२. जयाख्यसंहिता, १६/५१-५३.
३. विष्णुतत्त्वं परिज्ञाय एकं चानेकभेदगम्। दीक्षयेन्मोदिनीं सर्वां किं पुनश्चोपसर्पितान्। · जयाख्यसंहिता १६/९ बी.-१० ए.
४. 'पाञ्चरात्रदीक्षा' निबंध, डॉ. अशोक कुमार कालिया, भारतीय तन्त्रशास्त्र पर आयोजित सेमिनार, तिब्बत संस्थान, सारनाथ, १०/०२/१९९२.
५. जयाख्यसंहिता १६/२२.

प्रतिपादित आचार्य-लक्षण उदाहृत किये जाने योग्य है क्योंकि समस्त स्थानों के लक्षण एक दूसरे से अधिक सुन्दर हैं। स्थालीपुलकन्याय से जयाख्यसंहिता का यहाँ विवरण दिया जा रहा है। संहिता का कहना है कि, ब्रह्म की प्राप्ति गुरु के अधीन होती है। गुरु ही इस संसारार्णव से उद्धार कर सकता है। गुरु की शरण में जाने पर जो अज्ञान तिमिर है वह नष्ट हो जाता है। गुरु नारायण सदृश है।[१] संहिता में ब्राह्मण आध्यात्मिक गुरु की श्रेष्ठता स्वीकार की गयी है तथापि अन्य वर्णों के लोगों को दीक्षित करने का अधिकार वर्णित है।[२] आचार्य को जितेन्द्रिय विरागी, विमत्सर, मनसा, कर्मणा, वाचा, समग्र चित्तवाला, पंचकालरत होना कहा गया है।[३] लक्ष्मीतन्त्र में गुरु को वेदज्ञ ब्राह्मण, अध्ययन-अध्यापनरत, पंचकालपरायण, शान्त तथा मन्त्राक्षरों की प्रकृति के ज्ञान के लिए कृतश्रम करने वाला कहा गया है। गुरु का अन्धा, बधिर, मूढ़, खल्वाट, हीनांग, लोभी, अकुलीन नहीं होना कहा गया है। दया, दम और शम गुणों से सम्पन्न होना माना गया है। सत्यभाषण, शील-सम्पन्न, भक्तिमान्, कर्मनिष्ठ होना चाहिए। वैष्णव गुरु को इस प्रकार के गुणों से अकीर्ण समझना चाहिए।[४] अहिर्बुध्न्यसंहिता में भी प्रायः इन्हीं लक्षण से युक्त आचार्य का उल्लेख है। जयाख्यसंहिता में सम्पन्न व्यक्ति की दीक्षा के अनुष्ठान में महान् तान्त्रिक चक्र अर्थात् 'महामण्डल' की पूजा का विधान है किन्तु, इसी स्थल पर यह भी वर्णित है कि, गरीब व्यक्ति अपने आध्यात्मिक गुरु की कृपा से महज मौखिक शब्द के द्वारा तिल का अर्घ्य देकर दीक्षित किया जा सकता है।[५]

दीक्षा योग्य काल के सन्दर्भ में सात्वतसंहिता के अलशिङ्गभट्ट विरचित भाष्य में, वसन्त में ब्राह्मण को, ग्रीष्म में क्षत्रिय को, शरद में वैश्य को, हेमन्त में शूद्र को तथा स्त्री को वर्षाकाल स्वीकृत किया गया है।[६] विश्वामित्रसंहिता में मीन, मेष, वृष राशियों में सूर्य के स्थित होने पर पूर्व (शुक्ल) पक्ष में एकादशी तिथि के होने पर रात्रि का समय स्वीकृत है।[७] पाद्मसंहिता में भी प्रायः इसी काल को दीक्षा का समय माना गया है किन्तु, यहाँ पर मास उल्लेख नहीं है तिथि का उल्लेख स्पष्ट रूप से है।[८] जयाख्यसंहिता में स्पष्ट रूप से द्वादशी

---

१. जयाख्यसंहिता १/६१-६५.
२. जयाख्यसंहिता १८/३-९
३. जयाख्यसंहिता १६/७-९ ए.
४. 'पाञ्चरात्रदीक्षा' निबंध, डॉ. अशोक कुमार कालिया.
५. जयाख्यसंहिता १६/४ बी-६.
६. वसन्ते दीक्षयेद् विप्रं ग्रीष्मे राजन्यमेव च। शरदः समये वैश्यं हेमन्ते शूद्रमेव च। स्त्रियं च वर्षाकाले तु पाञ्चरात्रविधानतः।। सात्वतसंहिता, पृ. ३८५.
७. विश्वामित्रसंहिता, ९/३-४.
८. पाद्मसंहिता, च.पा., २/४.

तिथि को दीक्षाकाल माना है। इसके अनुसार दीक्षा के लिए दशमी को आवश्यक सामग्रियों का संग्रह किया जाना विहित है।[1]

दीक्षा योग्य स्थान का उल्लेख प्रायः सभी संहिताओं में मिलता है। सात्वतसंहिता का कहना है कि- पुण्प, अनुकूल, मनोज्ञ, साधुजनों से संचित, जल, फल और पुष्पों से समृद्ध समित् और कुश से समन्वित, गाय, सस्य और शालि से सुलभ, क्षुद्र प्राणियों से रहित क्षेत्र में वर्णों के अनुरूप भूमि पर जो सर्वदा दोषों से विनिर्मुक्त हो, सुन्दर पक्षियों और मृगों से सेवित हो, शुभ भवनों, जलाशय से युक्त आश्रमों से पारिवासित हो, जहाँ सज्जनों का बाहुल्य हो तथा जो वन, उपवन, ग्राम और नगरों से घिरी हो- दीक्षाविधि सम्पादन के लिए समुचित है।[2] पाद्मसंहिता में सामान्य रूप से प्रतिष्ठा-विधि की तरह शुचि देश में दीक्षा मण्डपादिकल्पन का निर्देश किया है।[3] विश्वामित्रसंहिता में प्रायः इसी तरह का समय स्वीकार किया गया है।[4] दीक्षा- प्रदान प्रसंग में स्थानादि चयनोपरांत शिष्य का शरीर शोध करते हैं और उसके अनन्तर पाञ्चरात्र प्रक्रिया के अनुसार सम्पाद्यमान निण कर्करीयुक्त, परिपूर्ण रम्यकलश पीङ्गन्यास-क्रम से संस्थापित कर सांगदेव की पूजा का उल्लेख है।[5] पाञ्चरात्र की अन्य संहिताओं में भी इस पूजा का उल्लेख जयाख्य के सदृश मान्य है।[6] कुम्भार्चन के पश्चात् अग्नि आराधन का अवसर आता है। यह अग्नि आराधन मात्र दीक्षा विधि में नहीं, बल्कि पाञ्चरात्र प्रक्रिया के प्रतिष्ठा, उत्सव आदि अनेक अवसरों पर अग्निआराधन विधान है। जयाख्यसंहिता में दीक्षा- विधि- निरूपण प्रसंग में ही सांगोपांग अग्नि आराधन का विधान वर्णित है। इस वर्णन क्रम में अग्निकुण्ड कल्पन प्रकार, कुण्ड के लक्षणादि का उल्लेख है। कुण्डसंस्कार होमादि का उल्लेख है। जयाख्यसंहिता में वर्णित है कि साधक यथाशक्ति जप करे। जपादि समाप्त कर भक्तिपूर्वक अर्घ्य पुण्य तथा धूपादि से प्रभु की आराधना करके अग्निमध्य प्रभु की शरण में जाँय।[7]

---

१. जयाख्यसंहिता १६/८७-९०.
२. 'पाञ्चरात्रदीक्षा' निबंध, डॉ. अशोक कुमार कालिया, भारतीय तन्त्रशास्त्र पर आयोजित सेमिनार, तिब्बत संस्थान, सारनाथ, १०/०२/१९९२.
३. पाद्मसंहिता, च.पा., २/३.
४. विश्वामित्रसंहिता, ९/३-४.
५. जयाख्यसंहिता, १६/९५-१०४.
६. नारदीयसंहिता, ७/२२-२८, पाद्मसंहिता च.पा. २/९-१४, विश्वामित्रसंहिता ९/१२-१९.
७. जयाख्यसंहिता, १६/१-२.

जयाख्यसंहिता में अग्निकुण्ड के परिकल्पन के विधान को बताते हुए कहा गया है कि कुल, देवता के उत्तर भाग में या देवागार के भूमि भाग में, धूमादि निकलने वाले स्थान पर, सभी लक्षणों से सम्पन्न मनोरम स्थान पर चतुरस्र श्रेष्ठ वृत्त कुण्ड का निर्माण करना चाहिए। चाहे निष्काम हो या सकाम यह सभी परिणामों को देने वाला होता है।[१] आहुति संख्या के भेदानुसार कुण्डों के मानदेय भी होते हैं यथा- शतार्ध संख्या में होम के लिए द्वादश अंगुल का कुण्ड होना कहा गया है। इसी तरह से अन्य भेद भी स्पष्ट रूप से दीखता है।[२] कुण्डमान भेद के अनुसार मेखला के मानभेद भी वर्णित हैं। चतुरस्रखनन के अनन्तर तीन अंगुल छोड़कर मेखला का कल्पन करते हैं। जहाँ तक मेखलाओं की उन्नति का प्रश्न है प्रथम मेखला द्वादश अंगुल उन्नत, द्वितीय चतुरंगुल, चार हाथ के कुण्ड की मेखला षड् अंगुल क्रम से वर्णित है।[३] चतुरस्रखनन के अनन्तर तीन अंगुल छोड़कर मेखला का कल्पन करते हैं। योनि कुण्ड जो अश्वत्थ-पत्र सदृश नीचे की ओर निवेशित होती है। उसके भी मान, क्रम से मेखला की तरह होता है।[४] संहिता में नित्य तथा नैमित्तिक होम के लिए वृत्त या चतुरस्र होम कुण्ड का होना बताया गया है।[५] तत्तद् दिशाओं में अग्निकुण्ड के स्थिति के अनुरूप फल भी वर्णित है, जैसे-

दिशा	कुण्डकल्पन फल
ईशानकोण में	भूलोकसिद्धि एवं अभीप्सित फल की प्राप्ति
पूर्व दिशा में	आकाशभाषित
आग्नेयकोण में	शत्रुविनाश तथा निग्रह
दक्षिण दिशा में	शान्ति
नैर्ऋतकोण में	परोत्सादनार्थ
वरुणदिशा में	सर्वोपद्रव शान्ति तथा अकाल मृत्यु जय
वायव्य कोण में	विविध प्रकार के सम्पत्तियों का लाभ एवं आरोग्य पुष्टि आदि।[६]

जयाख्य का यह क्रम न्यूनाधिक्य रूप से नारदीयसंहिता को भी अभीष्ट है।[७] दीक्षा क्रम में अग्निकुण्ड में होम से पूर्व उसका संस्कार करना

१. जयाख्यसंहिता, १५/२-५.
२. तत्रैव, १५/१२-१४.
३. तत्रैव, १५/१६-२१.
४. तत्रैव, १५/२२-३०.
५. तत्रैव, १५/३१.
६. तत्रैव, १५/६-१२.
७. नारदीयसंहिता, ७/४७-५४.

कहा गया है। कुण्ड का अस्त्रादि मन्त्रों से न्यासादि विधिवत् प्रोक्षण कर पूर्वाङ्ग में आधारशक्त्यादि बीजमन्त्रों का उल्लेखन कर अग्नेस्ताडनप्रोक्षण आदि संस्कारों को सम्पन्न करते हैं। संहिता में कुण्ड मध्यगत अग्नि के सामान्यतः दश संस्कारों तथा बाह्य रूप से पाँच संस्कारों का विधान किया है। इस तरह यहाँ अग्नि के पञ्चदश संस्कार कहे गये हैं। पाँच बाह्य संस्कार अधोलिखित हैं- (१) प्रोक्षण, (२) ताडन, (३) अर्चन, (४) अवगुण्ठन तथा (५) अमृतीकरण। कुण्डमध्यगत संस्कार हैं- (१) गर्भन्यास, (२) पुँसवन, (३) वक्त्रकल्पन, (४) सीमन्त, (५) वक्त्रनिर्यास, (६) निष्क्रामण, (७) जातकर्म, (८) नामकरण, (९) भोग, (१०) प्राशन, (११) अधिकार।[1] नारदीयसंहिता में भी कुछ नाम परिवर्तन के साथ कुण्डमध्यगत संस्कार भी इसी भाँति बताये गये हैं।[2] जयाख्यसंहिता में गर्भाधान आदि संस्कारों की संख्या प्रतिज्ञा रूप में दस कही गयी है पर, इन संस्कारों के विवेचन क्रम से एकादश संस्कारों का स्वरूप-निर्देशपूर्वक विवेचन किया गया है। पुँसवन के पश्चात् वक्त्रकल्पन का निर्देश देखते हैं। अग्निवक्त्र में अर्चिका का होना स्वभाविक है। उन वक्त्रार्चिषों के नाम अधोलिखित हैं- (१) प्रभा, (२) दीप्ति, (३) प्रकाश, (४) मरीचि, (५) तपनी, (६) कराला, (७) लेलिहाना। ये सभी कुण्डाश्रित रूप में व्यवस्थित होती है। दिग्विभाग के अनुसार अधोलिखितरूप से उनकी स्थिति होती है-

१.	ईशानकोण में	-	प्रभा
२.	पूर्व दिशा में	-	दीप्ति
३.	अग्निकोण में	-	प्रकाश
४.	नैर्ऋतकोण में	-	मरीचि
५.	पश्चिम दिशा में	-	तपनी
६.	वायव्य कोण में	-	कराला
७.	उत्तर तथा दक्षिण दिशा में	-	लेलिहाना[3]

संस्कार के पश्चात् अग्नि को नारायण के चतुर्भुज रूप में ध्यान किया जाना उक्त है। इसके अनन्तर अग्नि का पूजन, अग्निमध्य देव का पूजन, वह्नि का स्मरण साकार एवं निराकार दोनों रूपों में किया जाता है। पुनः भावित अग्नि के मध्य में देव यजन गन्धपुष्पादि एवं अस्त्रादि से आत्मरक्षार्थ करना विहित है। इसके पश्चात् होम का विधान किया जाता है। लक्ष्मी आदि शक्तियों के होम का विधान वर्णित है। कहा गया है कि, जप काल में होम आदि का

१. जयाख्यसंहिता, १५/६-१२.
२. तत्रैव, १५/१०६-११०.
३. तत्रैव, १५/१३१-१४०.

कर्तव्य तत्काल सिद्धि प्रदान करता है।[1] संहिता में हवन में प्रयुक्त होने वाले द्रव्यों का विशद विवेचन किया गया है साथ ही साथ यह भी प्रतिपादित है कि होम द्रव्य के भेद से फल की प्राप्ति भी भिन्न-भिन्न होती है जैसे तिल से हवन करने से शान्ति, सिद्धि, धान-बीज के तण्डुल से हवन करने पर परमेश्वर सदा प्रसन्न, दुर्वा आदि से हवन करने पर आयु में वृद्धि होती है।[2] आहुति प्रमाण भेद निमित्त भेद के अनुसार पूर्णाहुति की जाती है। अग्निवर्णादि के भेद से कर्म की सिद्धि का पता चलता है। प्रदीप्त, लेलिहाना और धूमरहित अग्नि में हवन करना वर्जित है। विभिन्न तिथियों में हवन करने से फल भेद भी भिन्न होता है। शुभग्रह, शुभनक्षत्र, शुक्ल पक्ष, में हवन का विधान होता है। द्वादशी को हवन करने से धर्म कामार्थ की सिद्धि होती है। त्रयोदशी और एकादशी को जय निश्चय होती है। पञ्चमी को द्रव्य सिद्धि तथा नवमी को करने से यश लाभ होता है।[3]

नाम	फल
१. प्रभा में अर्पित मन्त्र	विद्या-प्राप्ति
२. दीप्ति में अर्पित मन्त्र	भू-प्राप्ति
३. तपनी में अर्पित मन्त्र	सर्वताप-उपशम
४. प्रकाश में अर्पित मन्त्र	पशु-लाभ
५. मरीचि में अर्पित मन्त्र	शत्रुक्षय
६. कराला में अर्पित मन्त्र	विपक्ष का उच्चाटन
७. लेलिहाना में अर्पित मन्त्र	इच्छित-फल-प्राप्ति[4]

होम के अन्त में उपराङ्ग का विधान होता है। अग्नि मुद्रा का प्रदर्शन करके मन्त्र रूपं विष्णु-पुष्पाञ्जलि समर्पित किया जाता है। प्रार्थना कर प्रसाद को सिर से लगाया जाता है। सभी आहूत देवताओं का विसर्जन किया जाता है। भस्म का तिलक धारण करना कहा गया है। इसके अनन्तर विष्वक्सेन कुण्ड का सन्तपर्ण, विसर्जन, लोकापालादि का विसर्जन, क्षेत्रपालादि का घृत से तर्पण का क्रम विहित है। वह्नि का तर्पण किया जाता है। तत्पश्चात् रक्षार्थ स्थापित कवचास्त्र का उपसंहार होता है। इस प्रकार संक्षेप में मन्त्र सन्तर्पण का उल्लेख किया गया है। मन्त्र सन्तर्पण के क्रम में यह बताया गया है कि, अपात्र

१. जयाख्यसंहिता, १५/१४९-१६६.
२. तत्रैव, १५/१६७-१७९.
३. तत्रैव, १५/१८०-२१७.
४. तत्रैव, १५/२१८-२२२.

यह कहे कि न मैं भक्त हूँ, न दीक्षित हूँ, न अन्य कोई उपाय को जानता हूँ। पात्र सद्भावपूर्णक गुरु भक्ति से विमत्सर, सत्य-धर्म पर चले। इस प्रकार अग्नि कार्य विधान का पूर्ण समापन होता है।[१] अग्निकार्य के पश्चात् दीक्षा के अङ्गभूत कार्य मण्डलाराधन का अवसर आता है जैसा कि, पहले कहा गया है कि, जयाख्यसंहिता ने दीक्षा वर्णन क्रम में अलग से एक अध्याय के पश्चात् दीक्षा में सम्पाद्यपान कार्य मण्डलार्चन-क्रम में उक्त मण्डल-विषय के विवेचन का प्रयत्न करेंगे।

पाञ्चरात्रागम की उपासना- पद्धति में सात्वत, पौष्कर तथा जयाख्यसंहिताओं को क्रमिक समन्वय देखने को मिलता है। २०० ई. से लेकर ८०० ई. तक के विस्तृत इन सम्प्रदायों में पूजा-पद्धति में प्रायः एकरूपता देखी जाती है तथा किसी न किसी रूप में जयाख्यसंहिता में वर्णित पद्धति का सर्वत्र समावेश देखा जा सकता है। जयाख्यसंहिता में उपासना पद्धति के तीन सोपानों का निरूपण किया गया है। भूतशुद्धि, मानसयाग और बाह्ययाग।[२] बाह्यपूजा में देवता का आवाहन साथ-साथ की जाती है। इनके चार स्थल चतुःस्थानार्चन प्रसिद्ध हैं। इन्हें क्रमशः बिम्ब, वह्नि, कुम्भ तथा मण्डल कहा जाता है।

मण्डल- निर्माण रहस्यवादी पूजा का एक अंग है। इसे रहस्यवादी इसलिए कहा जाता है कि, यह तान्त्रिक पूजा का एक भाग है। यन्त्र, चक्र तथा भद्रादि प्रतीक के रूप में चित्रित किये जाते हैं। सात्वतसंहिता में मन्त्रचक्र का उल्लेख है। इस संहिता का काल ३०० ई. माना जाता है।[३] इसमें मण्डलाराधना का विस्तृत वर्णन भी है। डॉ. पी.सी. आप्टे का मानना है कि मडलाराधना की प्रक्रिया पाञ्चरात्र में तान्त्रिक परम्परा से आयी किन्तु, यहाँ आकर वह पूर्ण रूप से वैष्णव हो गयी।[४] मण्डल आराधना पाञ्चरात्र, सम्प्रदाय में मन्दिर पूजा के रूप में दक्षिणी भारत में प्रचलित है। वहां बिम्ब, कुम्भ, मण्डल तथा अग्नि के रूप में ये पूजाएं प्रचलित है। पौष्करसंहिता में देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि, मण्डल आराधना उन दिनों मन्दिर सम्बन्धी संस्कार से सम्बद्ध नहीं थी बल्कि, उसे स्वतन्त्र रूप से यज्ञ कहा जाता था। इस याग के लिए सर्वप्रथम भूमि का चुनाव किया जाता था जो किसी पर्वतीय प्रदेश में, जंगल-प्रान्त में, किसी

---

१. जयाख्यसंहिता, १५/२२३२४.
२. तत्रैव, पटल १२ एवं १३।
३. सक्रिये मन्त्रचक्रे तु वैभवीये विलोकिनाम्।। सात्वतसंहिता, २/१२.
४. 'मण्डलाराधन' जर्नल आफ ओरियेण्टल इन्स्टी., बड़ौदा, जून १९७३, पृ. ५०२.

आश्रम के निकट, किसी नदी के किनारे अथवा किसी मन्दिर के परिसर में किया जाता था। मण्डल आराधना का प्राथमिक उद्देश्य शिष्य को दीक्षा देना, उसे सम्प्रदाय में समाविष्ट करना तथा अन्त में उसे मोक्ष कराना होता है।[१]

मण्डल आराधना का प्राथमिक उद्देश्य-

शिष्य को चार विभिन्न अवस्थाओं में अग्रसारित करना है। वे चार अवस्थाएं- समयी, पुत्रक, साधक तथा आचार्य हैं। शिष्य इनमें से प्रत्येक, मण्डल की ओर ध्यान लगाकर यौगिक तथा तान्त्रिक विधि से आत्मनियन्त्रण करता है। ऐसा माना जाता है कि, मण्डल में अपने को लीन करने वाला साधक, वास्तव में अपने को बन्धन से मुक्त करता है। यह याग चालीस दिनों तक चलता है। सिद्धि प्राप्त करने के लिए श्रीप्रश्नसंहिता में विशेष पूजा का विधान निरूपित है।[२]

'मण्डल' शब्द के अर्थ से स्पष्ट है कि इनका आधार आयताकार होता है, गोल नहीं। इनके चारों तरफ सीमा रेखा होती है। प्रत्येक ओर प्रवेश द्वार होता है, जो केन्द्र तक जाता है। मध्य में एक वेदी होती है जिसके ऊपर कमल पुष्प बनाया जाता है। यह पद्मपुष्प ही मूर्त्यासन कहलाता है। पद्म की पंखुड़ियों पर मन्त्राक्षर उत्कीर्ण किये जाते हैं। ऐसी मान्यता है कि, मन्त्र के रूप में ही आराध्य इस आसन पर विराजमान रहता है, मूर्ति के रूप में नहीं। पद्म की पंखुड़ियों पर लिखे गये मन्त्रों का पारम्परिक रूप से जप किया जाता है।याग योजना-मण्डल भाग के लिए एक विशेष प्रकार का स्थान बनाया जाता है जिसके चारों तरफ दीवाल बनाकर उसे कमरे के रूप में छा दिया जाता है तथा इसी के मध्य में यन्त्र बनाने के लिए एक वेदी बना दी जाती है और उसी पर पद्मासन का निर्माण किया जाता है। मण्डल के अंगों में पद्म, पीठ, वीथि, द्वार, शोभा तथा कोण का विशेष स्थान है। इनके अन्य भी संबंधित अंग है। जिन्हें उपपीठ, उपद्वार, उपशोभा, पीठगात्र तथा पीठकोण और बिम्ब कहते हैं। मध्य भाग जिस पर मण्डल का निर्माण किया जाता है उसे पद्मक्षेत्र कहा जाता है। पंखुड़ियों पर बीजाक्षरों का लेखन होता है। जयाख्यसंहिता के अनुसार नव पद्ममण्डलों का निर्माण अपेक्षित होता है। यह बाह्ययाग का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। इस प्रकार का मण्डल अनेकांब्ज-गर्भ प्रकार का मण्डल कहलाता है क्योंकि इसमें केन्द्र में नव पद्मों का निर्माण किया जाता है। मण्डल निर्माण के अनन्तर मध्य में एक लकड़ी का मंच तैयार किया जाता है जिसे मन्त्रादि विधियों से

१. पौष्करसंहिता प्रथम अध्याय.
२. 'निधिप्राप्यते वाल्मीकमूले भद्रमण्डलपूजाविधिः' श्रीप्रश्नसंहिता, ५२/५६-५७.

परिपूत करके उस पर १६ × १६ = २५६ का एक चौकोर क्षेत्र बनाया जाता है। इसके मध्य में ६×६ = ३६ के नौ पद्म बनाये जाते हैं और शेष भाग पीठ, वीथि, द्वार तथा कोण आदि के लिए रिक्त रखा जाता है।[1] डॉ. आप्टे के अनुसार जयाख्यसंहिता के बड़ौदा संस्करण, जिसमें नव पद्ममण्डल का उल्लेख किया है। उसमें मध्य का पद्म आकार में बड़ा दिखाया गया है। शेष पद्म आकार में समान है जबकि जयाख्यसंहिता के उसी संस्करण के तेरहवें पटल में वर्णित उनके आकार से भिन्नता है। वहाँ सभी पद्मों का आकार समान माना गया है।[2] यह तथ्य भी उसी पुस्तक में वर्णित "संसक्तनवपद्मे तु" से भिन्न है अतः, डॉ. आप्टे के मत में उस पर पुनर्विचार अपेक्षित है।[3]पंकज के लिए स्वीकृत पदों में सर्वपेक्षया मध्य भाग में स्थित कुछ पदों के क्षेत्र को कर्णिका क्षेत्र के रूप में स्वीकारा गया है। कर्णिका क्षेत्र के चतुर्दिक् विद्यमान कुछ पदों के क्षेत्र को केसर क्षेत्र के रूप में निर्धारित किया गया है। केसर क्षेत्र के अनन्तर चतुर्दिक् विद्यमान पदों में से कुछ पद विशेष को दल सन्धि क्षेत्र के रूप में निर्दिष्ट किया गया है। उस दल सन्धि क्षेत्र में चारों ओर विद्यमान पदों में एक सीमा-विशेष तक विद्यमान पदों में दलाग्र क्षेत्र का विधान होता है। दलाग्र क्षेत्र के बाहर वाले पदों को पीठ क्षेत्र कहा गया है। पीठ के बाहर वीथि क्षेत्र होता है। वीथि के बाहर चारों ओर कुछ निश्चित पद द्वारों के लिए निर्धारित होते हैं। इन द्वारों का स्थान चारों ओर मध्य भाग में होता है। इन द्वारों के पार्श्वभागों में कर्ण तथा उपकर्ण क्षेत्र परिकल्पित होते हैं।

पीठ तथा वीथि के निर्माण के विषय में पौष्करसंहिता में विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है किन्तु, डॉ. आप्टे का मानना है कि, जयाख्यसंहिता में इसका वर्णन बहुत ही अस्पष्ट तथा निराशाजनक है।[4] इसमें 'गर्भ' 'पीठ' षंडश अथवा पंचक आदि का भी अर्थ पूर्णतया अस्पष्ट है। इस भाग की अस्पष्टता को चित्रित नव पद्ममण्डलों से भी पूर्णतया व्याख्यायित नहीं किया जा सकता है अतः डॉ. आप्टे ने 'गर्भ' का अर्थ पद्म क्षेत्र तथा 'वीथिका' को बहुवचन मानकर 'गर्भस्य अर्धेन' का अर्थ मध्य भाग किया है। इस तरह अपने नव पद्म मण्डलों का अपने 'मण्डलाराधन' नामक निबन्ध में निर्माण किया है।[5]

द्वार तथा कोण का निर्माण वीथि के क्षेत्र १२ × १२ = १४४ के बाद माना गया है। इसी प्रकार कर्ण तथ उपकर्ण का निर्माण इसके बाद किया

१. जयाख्यसंहिता पटल, १३/११-४०.
२. 'पद्माः कार्याः प्रयत्नेन सुसमाश्च परस्परम्' जयाख्यसंहिता पटल १३/३२.
३. 'मण्डलाराधन' जर्नल आफ ओरिण्यटल इन्स्टी., बड़ौदा, जून १९७३, पृ. ५०५.
४. जयाख्यसंहिता, १३/३३-३५.
५. 'मण्डलाराधन' जर्नल आफ ओरियण्टल इन्स्टी., बड़ौदा, जून १९७३, पृ. ५०१-२३.

जाता है। एम्बार कृष्णामाचार्य द्वारा जयाख्यसंहिता के संस्कृत भूमिका में जो व्याख्या की गयी है वह डॉ. आप्टे को मान्य नहीं है।[1] डॉ. आप्टे का कथन है कि, कर्ण तथा उपकर्ण का वर्णन अलग-अलग किया गया है। इन्हें द्वार से स्वतन्त्र माना गया है किन्तु, इसके लिए कोई लिखित प्रमाण नहीं है। वास्तव में 'तस्मिन् भागद्वये नैव' में तस्मिन् का अर्थ द्वार का अन्तर्भाग होगा बाह्य भाग नहीं। इसके अतिरिक्त यदि कर्ण तथा उपकर्ण दोनों को स्वतन्त्र माना जाय तो द्वार का वर्णन भी कहीं अलग होना चाहिए, जैसा कि नहीं है अतः इस स्पष्टता के कारण डॉ. आप्टे ने बड़ौदा संस्करण को आधार नहीं माना है।पौष्करसंहिता से तुलना करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि, मण्डल की प्रक्रिया वहीं से जयाख्यसंहिता में अपनायी गयी है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि, पौष्करसंहिता के पद्मोदरमण्डल को जयाख्यसंहिता ने नहीं अपनाया है बल्कि अनेकाब्जगर्भ को ही अपना आधार माना है। पौष्करसंहिता में मण्डल को पंक्तियों तथा स्तम्भों में विभाजित किया गया है, उन्हीं के आधार पर विभिन्न अंगों की परिकल्पना की गयी है जैसा कि जयाख्य में नहीं है। पीठ तथा वीथि का वर्णन भी असंतुलित है। वीथि को अपेक्षा छोटा दिखाया गया है। शोभा तथा उपशोभा का कहीं उल्लेख नहीं है। इस हेतु कोण भी आकार में बड़े हो गये हैं। जयाख्यसंहिता में द्वार के साथ कर्ण तथा उपकर्ण का भी वर्णन है किन्तु, पौष्करसंहिता में उसे कण्ङ्ग तथा उपकण्ठ कहा गया है। इस प्रकार जयाख्यसंहिता में वर्णित नवपद्म मण्डल अस्पष्ट है।[2] जयाख्यसंहिता में नवपद्म मण्डल का विधान वर्णित है। संहिता में मण्डलस्थ अब्ज के तत्तद्भाग को आवश्यकतानुसार तत्तद्वर्णों से रंग देकर सुशोभित करने को कहा गया है। अधोलिखित क्रम से मण्डल के विविध भागों को तत्तद्वर्णों से सुशोभित किया गया है-

	मण्डल भाग	वर्ण	
१.	अन्तराल-स्थान	आकाशीय (नभस्सम्)	(स्काई ब्लू)
२.	बाहरी अन्तराल	आकाशीय (नभस्सम्)	
३.	कर्णिका	पीत वर्ण	
४.	केसर	पीत तथा रक्त वर्ण	
५.	पत्र	सित वर्ण	
६.	पीठ कोण	पीत वर्ण	
७.	पीठ गात्र	अरुण वर्ण स्थान	

---

१. जयाख्यसंहिता, संस्कृत भूमिका, पृ. ६७-६८.
२. 'मण्डलाराधन' जर्नल आफ ओरियण्टल इन्स्टी., बड़ौदा, जून १९७३, पृ. ५११-१२.

८.	द्वार	सित वर्ण
९.	कोण	रक्त वर्ण
१०.	रेखात्रय	अ. रक्त वर्ण
		ब. पीत वर्ण
		स. असित वर्ण[1]

पाञ्चरात्र के प्रायः सभी संहिताओं में मण्डल के विभिन्न रंगों से सुशोभित करने का विधान विहित है।[2] यहाँ यह ध्यातव्य है कि, जिस प्रकार का मण्डल होगा उसमें उतने ही न्यूनाधिक रंग का प्रयोग भी होगा। जयाख्यसंहिता में कई प्रकार के मण्डलों का उल्लेख है। तत्तद् मण्डलों के तत्तद् फलभेद भी वर्णित है जैसे पद्मोदर मण्डल से लक्ष्मी की वृद्धि, नवनाभ मण्डल से ऐहिक और आमुष्मिक फल प्राप्ति, कौस्तुभ मण्डल से राज्य लाभ, पुष्कर मण्डल से पुष्टि इत्यादि।[3] पौष्करसंहिता में पच्चीस मण्डलों का उल्लेख है और उनके फल भी भिन्न-भिन्न वर्णित हैं।[4] मण्डलकल्पन तथा वर्णोपपादन के पश्चात् मण्डल के तत्तद् भागों-कर्णिका, केसर, पत्र तथा पङ्खुड़ियों में मन्त्रों का विन्यास किया जाता है। मन्त्रन्यास के पश्चात् मण्डलस्थ देवताओं का षोडषोपचार पूजन-विधान विहित है। इसके अन्तर्गत साधक स्वर्ण, रजत, अन्य धातु, पत्थर, लकड़ी अथवा पलाश या कमल के पत्र में पवित्र जल ग्रहण करता है, जिसे अर्घ्य कहते हैं। इस जल में दुग्ध, फल, चावल, जौ, तिल आदि पवित्र द्रव्यों का मिश्रण किया जाता है। साधक इसके साथ मूल मन्त्रों का उच्चारण करता है। मन्त्रपूत, अर्घ्य द्रव्य दो भिन्न-भिन्न पात्रों में रखे जाते हैं। इनमें एक पात्र से निष्कल मन्त्र-चक्र का निक्षेप किया जाता है और उसे मण्डल के समक्ष रखा जाता है जहाँ पुष्पादि से इसकी पूजा की जाती है। इस प्रक्रिया में पवित्र करने की क्रिया सर्वप्रथम मानसिक रूप से होती है जिसमें यह आभास होता है कि, अस्त्रमन्त्र-द्वारा सूर्य की किरणों से दाहकता उत्पन्न होती है जो अपवित्रता को जला देती है। उसके पश्चात् जली हुई राख में मूल मन्त्र से अमृत वर्षण किया जाता है ज़िससे द्रव्य अपने मूल शुद्ध रूप में स्थित हो जाता हैं। इस प्रकार अर्घ्य पात्र में निहित शुद्ध द्रव्य सर्वत्र (मण्डल) में छिड़क दिया जाता है। अन्य सभी पदार्थ तथा पात्र जिन्हें पूजा हेतु लाया गया है। इसी प्रकार पवित्र किया जाता है तभी वे पूजा के योग्य होते हैं।

---

१. जयाख्यसंहिता, १३/३८-४०.
२. पाद्मसंहिता, च.पा. ७/४७, नारदीयसंहिता, ८/५६-६१.
३. जयाख्यसंहिता, १३/४१-४७.
४. पाञ्चरात्रागम, डॉ. राघवप्रसाद चौधरी, पृ. २८१-८२.

दूसरा स्तर द्वारपूजा का होता है। मण्डल के प्रवेशद्वार पर स्थित देवता की पूजा की जाती है। क्षेत्रपाल की पूजा चौखट के मूल में की जाती है। लक्ष्मी की पूजा द्वार के ऊपरी भाग में की जाती है। चण्ड तथा प्रचण्ड की पूजा दोनों फाटकों के मूल में की जाती है। गंगा और यमुना की पूजा फ्रेम के दायें तथा बायें क्रमशः की जाती है। शङ्खनिधि तथा पद्मनिधि की पूजा द्वार के भीतर की जाती है। जय तथा विजय की पूजा द्वार में प्रवेश के पूर्व की जाती है। दुष्टात्माओं से रक्षा के लिए चक्रमन्त्र का चारों ओर घुमते हुए जप किया जाता है। साधक इस प्रकार दैवी सुरक्षा से आश्वस्त होकर मण्डप में प्रवेश करता है तथा आसन तक जाता है जिस पर रहस्यमय मण्डप का निर्माण किया गया है। वहाँ पहुँचकर आधारासन तथा वेद का मन्त्र से प्रोक्षण करता है। तत्पश्चात्, मन्त्रोच्चारण करते हुए मण्डल का सम्प्रोक्षण करता है। तदनन्तर, पूजा के लिए अग्रसर होता है। भगवान् विघ्नेश सर्वप्रथम पूज्य होने के कारण प्रथम पूजा प्राप्त करते हैं। तत्पश्चात्, देवी वागेश्वरी, गरुड, गुरु, परमेष्ठी और अन्त में पितर की पूजा की जाती है। इतना करने के अनन्तर साधक अपने भीतर स्थित सर्वशक्तिमान् विष्णु का आवाहन करता है जिससे उनकी उपस्थिति हो सके। साधक यौगिक क्रिया तथा अपनी शक्ति के द्वारा उन्हें भीतर के उर्ध्वतम भाग तक प्रतिष्ठित करता है और तब पूजा प्रारम्भ करता है। इसके पश्चात् वह विष्णु तथा लक्ष्मी से सम्बन्धित पारिवारिक देवता की पूजा करता है।

इसके पश्चात् साधक मन्त्रन्यास की प्रक्रिया प्रारम्भ करता है जैसा कि मण्डल में विभिन्न स्थानों पर उत्कीर्ण मन्त्रों से ज्ञात होता है। इसके पश्चात् वह अपने ध्यान में प्रत्येक देवताओं के व्यक्तिगत स्वरूप, चेष्टा, अङ्गुलि निक्षेप, मुखाकृति, वस्त्र, आभूषण, शस्त्र तथा रथादि का क्रमशः ध्यान करता है। मन्त्रों का यह ध्यानात्मक प्रकाशन इस प्रकार से होता है- 'ह्रीं' मन्त्र को उदाहरणार्थ देखा जा सकता है। इसका दैवी स्वरूप गौरवर्ण का होता है जिसमें श्वेत तथा रक्त दो रङ्गों का समावेश रहता है। इसके एक शिर तथा चार भुजाएं होती हैं और वह गरुड के पीठ पर आसीन रहता है। अपने दो हाथों में वह पद्म तथा शंख धारण करता है और शेष हाथों में मुद्राएं प्रदर्शित होती है। यह श्वेत वस्त्र तथा श्वेत मालाधारी होता है और इसका पूरा शरीर कर्पूर-मर्दित होता है। अन्य मन्त्रों का भी इसी प्रकार पूजा में प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार मन्त्र-निहित विभिन्न-देवताओं की पूजा ध्यान के अनन्तर उपर्युक्त प्रकार से की जाती है। पूजा का प्रारम्भ अर्घ्य से किया जाता है। उसके पश्चात् पाद्य, गन्ध, स्नान, पुष्प, धूप, दीप आदि प्रदान किया जाता है। तत्पश्चात् साधक

नैवेद्य समर्पित करता है। उसमें भोजन, पान की वस्तु, फल, मूल, बना हुआ भोजन, मिष्ठान्न, चावल, मोदकादि जिसमें घी तथा मधु भरपूर मात्रा में हो, उसे समर्पित किया जाता है। इसके पश्चात् साधक कामधेनु मुद्रा प्रदर्शित करता है जो सभी कामनाओं की पूर्त्ति का प्रतीक है। तदनन्तर साधक भगवान् समक्ष दण्डवत् प्रणाम करता है तथा भगवान् से प्रार्थना करते हैं कि, उसके द्वारा समर्पित पदार्थ भगवान् ग्रहण करें। मन्त्र देवता की पूजा के पश्चात् पुनः केशव की पूजा की जाती है।[१] तत्पश्चात् पुष्पाञ्जलि समर्पित की जाती है। प्राणायाम के पश्चात् अञ्जलि का पुष्प भगवान् के सिर पर छोड़ दिया जाता है।[२] धूपदर्शन (आरती) के पश्चात् घण्टानाद किया जाता है।[३] घण्टा सरस्वती का दूसरा नाम है।[४] इस प्रकार मण्डलाराधन पूर्णता को प्राप्त होता है और साधक भगवान् के प्रति समर्पित होता है तथा स्वतः ही उसके मुखारविन्द से यह श्लोक प्रस्फुटित हो जाता है- **"नमस्ते पुण्डरीकाक्ष नमस्ते विश्वभावन। नमस्तेऽस्तु हृषीकेश महापुरुषपूर्वजः।।"**[५] मधुपर्क के पश्चात् वह पुनः भगवान् से निम्नवत प्रार्थना करता है- **"पुण्डरीकाक्ष विश्वात्मन् मन्त्रमूर्ते जनार्दन। गृहाणेदं जगन्नाथ मम दीनस्य शाश्वत्।।"**[६] तत्पश्चात् पुनः मण्डल को अर्घ्य पुष्प अर्पित करके पूजा में हुई कमियों के लिए भगवान् से प्रार्थना करता है।

इस प्रकार मण्डल पूजन के पश्चात् गक्षालित जल से पूर्ण स्वर्णादि से कुम्भ में रत्न, स्वर्णादि और कुशमुष्टि डालकर सूत्र से वेष्टित करके वस्त्र युगल से लपेटकर चन्दन आदि से अलंकृत करना चाहिए। जिस द्रव्य से कुम्भ का निर्माण किया गया हो उसकी स्वर्ण आदि द्रव्य से कर्करी (छिद्रयुक्त) पात्र का निर्माण करना चाहिए। सौ बार अस्त्रमन्त्र (चक्रमन्त्र) से कर्करी को अभिमन्त्रित करके गुरु को अविच्छिन्न-धारा से वेदी के चारों ओर सिञ्चन करना चाहिए। वेदी की प्रदक्षिणा करते हुए करक, कलश और कुम्भ को लाकर मण्डल के ईशानकोण में कुम्भ की स्थापना करनी चाहिए। कुम्भ के दक्षिण पार्श्व में कलश और वार्म पार्श्व में करक की स्थापना करके कुम्भ के चारों ओर फलों का विन्यास करना विहित है। कुम्भ में मूल मन्त्र से हरि (नारायण) का आवाहन और पूजन करके मण्डल के देवता का षोडशोपचार अर्चन करनी

१. जयाख्यसंहिता, १३/१६९-१७७.
२. तत्रैव, १३/१७८-१८४.
३. तत्रैव, १३/१९८ तथा २०४.
४. तत्रैव, १३/२०८-२०९.
५. तत्रैव, १३/२२३ बी-२२४ ए.
६. तत्रैव, २३० बी-२३१.

चाहिए। तदनन्तर शुद्ध तण्डुलों के चरु को पकाकर उसका चार भाग करे। उसका एक भाग मण्डल में स्थित भगवान् विष्णु को और एक भाग कुम्भ में स्थित हरि को निवेदित करके, तीसरा भाग अग्नि में हवन करके एवं अन्तिम चतुर्थ भाग गुरु स्वयं भक्षण करे।[1] अग्नि में मूलमन्त्र से एक सौ आठ समिधाओं के द्वारा और उतनी ही आज्याहुतियों से हवन करके तथा उतनी ही संख्या में पुरुष-सूक्त से चरु का हवन करके पूर्णाहुति करें।[2] तत्पश्चात्, स्नान किये हुए नये शुभ दो वस्त्र धारण किए हुए उत्तम आभूषणों से भूषित चन्दनादि से अनुलिप्त अङ्ग वाले तथा शुद्ध माल्य से अलंकृत शिष्य को बुलाकर गुरु उसके नेत्रों को नूतन वस्त्र से नेत्रमंत्र का जप करते हुए बांध दे। इसके बाद शिष्य को मण्डप में प्रवेश कराया जाता है जहाँ वह विष्णु की उपस्थिति में पुष्पाञ्जलि समर्पित करता है तथा उसका पुष्प जिस मूर्त्ति (नाम) पर गिरता है, वही शिष्य का नाम दिया जाता है। इसके अनन्तर माया सूत्र का विधान वर्णित है। गुरु शिष्य को अपने दक्षिण पार्श्व में पूर्वाभिमुख बैठाकर उससे कुशपुंज से संस्पृष्ट कर आज्य, समिधा, चरु, पुष्प और तिल से पुण्डरीकाक्ष अथवा द्वादशाक्षर मन्त्र के द्वारा द्वादश आहुतियां दिलवाये। इसके अनन्तर; गुरु तीन बार प्रदक्षिणा करके शिष्य के सिर का स्पर्श करते हुए मूलमन्त्र से कुण्डाग्नि की भस्म से ऊर्ध्वपुण्ड्र का विधान करे। तदनन्तर; अस्त्रमन्त्र से कुण्डाग्नि की भस्म से ऊर्ध्वपुण्ड्र का विधान करे। तदनन्तर; अस्त्रमन्त्र से दक्षिण हस्त में रक्षा सूत्र बाँधकर उसे पञ्चगव्य और चरु का प्राशन कराये। इसके बाद दन्तकाष्ठ से दांतों का शोधन कराकर फेंक दे।

जयाख्यसंहिता में अधिकारी भेद के अनुसार दन्तकाष्ठ का परिणाम भेद भी निरुपित है। दन्तकाष्ठ-प्रक्षेप द्वारा शुभाशुभ-परीक्षण के क्रम में शिष्य के साथ आर्चाय क्षीरवृक्षज निव्रण दन्त काष्ठ का भक्षण करते हैं। यह दन्तकाष्ठ यदि ऐन्द्र, कौबेर तथा ईशानकोण में अभिमुख होकर गिरता है तो उसे शुभ कहा गया है। उसके विपरीत दिशा में गिरने पर अशुभ अर्थात् विपद्दायी होता है। अशुभ का ज्ञान होने पर शान्ति कराना आवश्यक है। उसकी शान्ति के लिए नारसिंह मन्त्र से पश्चिमास्य में सर्पिष (तिल) द्वारा अष्टोत्तरशत होम किया जाना आवश्यक है।[4] जयाख्य का यह वर्णन

---

१. जयाख्यसंहिता, १६/९५-१००.

२. तत्रैव, १६/१५८-५९.

३. तत्रैव, १६/१२४-१२७.

४. तत्रैव, १६/१८९-१९५.

नारदीयसंहिता को भी मान्य है।[1] इसके पश्चात् शिष्य के शयन विधि का उल्लेख है। इसके अन्तर्गत शिष्य सोते समय नारायण का स्मरण करता रहे– यह कहा गया है। गुरु स्वप्नदर्शन की सिद्धि के लिए स्वप्नाधिपति मन्त्र से एक सौ आङ्ग बार आहुति देकर भूतों के लिए माष ओदन की बलि देकर शिष्य के नेत्र बन्धन और मायासूत्र को खोल दे। मायासूत्र को एक शराव (प्याले) में सखकर दूसरे शराव (प्याले) से उसे ढ़ककर कुम्भ के पास रख दे। उसके बाद वहाँ कुशों को बिछाकर उस पर शिष्य को सुला दे। उसके बाद गुरु अन्य शिष्यों के साथ जागते हुए शिष्य के क्षेम का अनुस्सरण करते हुए वैष्णवी कथायें कहे।

प्रातः काल स्नान तथा नित्य कर्म करने के बाद गुरु मण्डप में आकर स्नान किए हुए शिष्य से स्वप्न शुभ होने पर तत्काल दीक्षा कर देनी चाहिए। दु;स्वप्न का दर्शन होने पर शान्ति होम करना चाहिए।

जयाख्यसंहित में शुभ बोधन स्वप्न चिन्हों का वर्णन करते हुए जिन वस्तुओं का परिगणन किया गया है, उनमें गुरु, देव, द्विज, कन्या, गो, गज, अश्व, केशरी, दर्पण, शङ्ख, भेरी तथा तंत्रीवाद्य शोभन कहें गये हैं। इसके अतिरिक्त ताम्बूल-भक्षण, दधि, अभिनन्दन, मांसभक्षण, मद्य, स्त्री, मदिरा, आसव, छत्र, यान, सित, वस्त्र, श्वेत चन्दन, माल्व, मुक्ताफलाहार, पूर्णोदित चन्द्र, आकाशस्थ प्रचण्ड सूर्य, नदी, समुद्र, प्रफुल्ल पादप, शाली , कुङ्कुम, रोचना, मधु, लाजा, सिद्धार्थकबीज, भाण्ड तथा पायस, तपस्यारत आचार्य, गाती हुई वाराङ्गना तथा मन के लिए प्रीतिकर अन्य कोई वस्तु स्वप्न शुभ माने जाते हैं। इसके अतिरिक्त विपरीत तथा मन में खेद उत्पन्न करने वाली वस्तु यदि स्वप्न में दिखती है, तो उसे अशुभ कहा गया है। इस प्रकार शुभाशुभ ज्ञान सम्पादन कर आचार्य दीक्षा विधि पूर्ण करता है। विष्वक्सेनसंहिता में दीक्षा से सम्बद्ध केवल शकुन-विषय पर विस्तृत विचार किया गया है। यहाँ ६३ वस्तुओं के निर्देश के साथ उनके दर्शन का फल निर्दिष्ट है। अध्याय का नाम ही 'दीक्षाशकुन विचार' है।[3]

इस प्रकार गुरु स्वप्न के शुभाशुभ विचारोपरान्त शुभ होने पर तत्काल दीक्षा और अशुभ होने पर शान्ति के लिए पूर्ववत् स्नानादि करके गुरु शिष्य मण्डप में प्रवेश करे। वहीं पूर्ववत् ध्वज, तोरण, कुम्भ का पूजन करके मण्डल

१. नारदीयसंहिता, ९/८८-९१.
२. जयाख्यसंहिता, १६/२०७-२१४.
३. विष्वक्सेनसंहिता, ३७/१६-९१.

और कुम्भ में देवता की भक्तिपूर्वक पूजा करके, पायस आदि अन्न का निवेदन करके, प्रणाम तथा प्रदक्षिणा करके पूर्ववत् शिष्य का नेत्र बन्धन करके उसे अपने पास बैठाये। तत्पश्चात्, गुरु मूल मन्त्र से पृथक्-पृथक् समिधा, घृत तथा तेल से एक सौ आठ बार आहुति देकर पूर्णाहुति करे। उस मायासूत्र को लेकर तत्त्व की संख्या में काटकर संहार क्रम से पच्चीस आदि तत्त्वों को स्मरण करके १०८ अथवा केवल आठ बार हवन करे। तत्पश्चात्, गुरु अपने हृदय कमल में स्थित परम पुरुष का ध्यान करके शिष्य के जीव का संहार क्रम से संहार करके तथा शिष्य का देह शोधन आदि करके सत्त्वसृष्टि के क्रम से होमपूर्वक शिष्य के स्थूल शरीर में अपने हृदय में स्थित देव का मण्डल में चिन्तन करके मण्डलस्थ देव का शिष्य में ध्यान करके, उसके शरीर का स्पर्श करके मूलमन्त्र से कुम्भज से प्रोक्षण करके शिष्य का नेत्र बन्ध खोल देना चाहिए। पुनः, दूसरा वस्त्र पहनाकर, चरणों को धुलाकर, आचमन करवाकर दूसरे वस्त्र से नेत्र को बाँधकर शिष्य को अपने पास बैठाये। तदनन्तर वही आहुति का क्रम चलता है। इसके अनन्तर गुरु को शिष्य का दायाँ हाथ अपने दाहिने हाथ से पकड़कर कुम्भ मण्डल में स्थित भगवान् का ध्यान करके हुए प्रदक्षिणा करनी चाहिए।[1] इसके अनन्तर मण्डल के चारों द्वारों में से किसी भी द्वार पर स्थित होकर गुरु शिष्य की अञ्जलि में रत्न अथवा फल भर दें। शिष्य गुरु की आज्ञा से अञ्जलि में स्थित रत्न अथवा पुष्पों को मण्डल में अर्पित करे। मण्डल के जिस भाग पर वह रत्नाञ्जलि या पुष्पाञ्जलि गिरे उसके अधिपति का नाम शिष्य को प्रदान करना चाहिए। विष्णुसंहिता में दीक्षित शिष्यों को वर्णानुसार निम्नलिखित नाम धारण करने को कहा गया है-

१. ब्राह्मण	-	देव
२. क्षत्रिय	-	वर्मा
३. वैश्य	-	गुप्त
४. शूद्र	-	दास
५. स्त्री	-	देवी।[2]

नामकरण के अनन्तर नेत्र बन्धन खोल दिया जाता है। मण्डलस्थ देवताओं का दर्शन कराते हुए शिष्य मन्त्रोपदेश का विधान है।

इस प्रकार दीक्षा की प्रक्रिया पूर्ण होती है। दीक्षान्त में ब्राह्मणों को भोजनादि कराया जाता है। रात्रि में गीतादि का आयोजन किया जाता है। गुरु शिष्य को नियम का उपदेश करते हैं। देवताओं का विसर्जन किया जाता है।

---

१. जयाख्यसंहिता, १६/२२१४-३००.
२. विष्णुसंहिता, १०/६३ बी-६४.

अवभृथ स्नान करके सोमपान किया जाता है। तत्पश्चात्, गुरु की पूजा की जाती है। गुरु शिष्य को इस प्रकार दीक्षा विधि सम्पादित करने से उभय (दोनों) को महान् फल प्राप्ति होती है।[1] इस प्रकार दीक्षा की सारी प्रक्रिया पूर्ण हो जाती है।

अभिषेक-

जयाख्यसंहिता में चार प्रकार के- समयज्ञ, पुत्रक, साधक तथा आचार्य शिष्यों का वर्णन मिलता है जिनकी दीक्षा एवं अभिषेक के विधि-विधान का उल्लेख किया गया है। 'समयज्ञ' के लक्षण का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि- "वह जिसकी मंत्र में श्रेष्ठ भक्ति होती है, जो ब्रह्मचारी, जितेन्द्रिय, सत्यवादी, पटु धीर, लज्जा एवं श्रद्धा से युक्त और बुद्धिमान है, जो दृढव्रती, पवित्र, गुरु-पूजा में तत्पर, मृदुभाषी सदैव प्रसन्न रहने वाला और निरन्तर शुभ कर्मों का करने वाला है तथा जो गुरु से आज्ञा प्राप्त करने वाला, धनवान होने पर भी गुरु की पूजा करने वाला, सर्वत्र यज्ञ में सम्मिलित होने वाला, विष्णुशास्त्र को निरन्तर सुनने वाला शास्त्र के अर्थ का विधिवत् जानकर नीति और आचारयुक्त व्यवहार करने वाला है, वह समयज्ञ कहलाता है[2]

> यस्य मन्त्रे पराभक्तिर्ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः।
> सत्यवाक्चतुरो धीरो ह्रीश्रद्धाबुद्धिमांश्च यः।।
> दृढ़व्रतः शुचिश्चैव गुर्वाराधनतत्परः।
> समाचरेच्छुभं नित्यं प्रसन्नात्मा प्रियंवदः।।
> प्राप्तानुज्ञस्सवित्तोऽपि यागेन गुरूणार्चऽयेत्।
> पश्येत्तथाऽन्यतो गत्वा यागं वै यत्र यत्र च।।
> पूजितं तर्पितं विष्णोः शास्त्रं च शृणुयात्सदा।
> पालयेत्समयान्सर्वान्मत्रस्मरणपूर्वकान्।।
> शङ्खचक्रगदापद्ममूर्तिमुद्रासमन्वितः।
> द्वादश्यादिषु कालेषु पूजयेद्धवनं विना।।
> पठनं श्रवणं कुर्यात् सततं चार्चनं विना।।
> शास्त्रार्थं विधिवज्ज्ञात्वा नयाचारसमन्वितः।।

वागीश्वरी के गर्भ में दूसरा जन्म होने के कारण जो दीक्षा लेता है उसे 'पुत्रक' कहते हैं।[3] जयाख्यसंहिता में बताया गया है कि पुत्रक में वे सभी लक्षण होने चाहिए जो कि समयी शिष्य के लिए वर्णित हैं।

---

१. जयाख्यसंहिता, १६/२३४२-२६९.
२. तत्रैव, पटल १७/३-८.
३. श्रीरामशर्मा, तन्त्र-महाविज्ञान, पृ. २११.

इसके अतिरिक्त दीक्षा के साथ ही पुत्रक शिष्य को भी विष्णु की पूजा का व्रत लेना चाहिए और प्राणों पर संकट आ पड़ने पर भी फिर उस पूजा को छोड़ना नहीं चाहिए। हवन, याग आदि इसके लिए आवश्यक नहीं है। शास्त्र श्रवण, मनन आदि के द्वारा इसको अपने पूर्वोक्त गुणों की अभिवृद्धि करनी चाहिए। ऐसे शिष्य के मन में अर्न्तयामी भगवान् विष्णु स्वयं ही परतत्व को जानने की उत्कंठा जाग्रत कर देते हैं।

समयज्ञं ततः शिष्यं (पुत्रं?) क्रमेणारचयेद्गुरुः।
तपः प्रभृति कालाच्च पूजां विष्णोः समाचरेत्।।

प्राणात्ययेऽपि विप्रेन्द्र रक्षेल्लोपं (पात्?) प्रयत्नतः।
न चास्य विहितो होमो धर्मार्थं पूजनं विना।।

नित्यपूजाभियुक्तो यः पूर्वोक्तगुणभूषितः।
समुपैति तमुत्कर्षं श्रवणाच्छास्त्रचिन्तनात्।।

ददात्युत्कलिकां तस्य हृदयस्थो जनार्दनः।
साधनोपरि मन्त्रस्य प्रार्थयेत गुरुं ततः।।[1]

साधक के लक्षण- साधक को गुरु एवं भगवान् में श्रद्धा रखने वाला, यज्ञ करने वाला, धैर्यवान्, उत्साही, तृष्णा रहित होना चाहिए।[2]

वर्जित शिष्य के लक्षण- शास्त्रों में अनधिकारी एवं वर्जित शिष्यों के अनेक लक्षण दिये गये हैं। दुष्ट वंश में उत्पन्न, गुणों से हीन, पाखण्डी, धूर्त, स्वयं को पंडित समझने वाला, हीन अंगों वाला अथवा अधिक अवयवों से युक्त, पंगु, अंधा, बहरा, मलिन रोगों से पीड़ित, उच्छिष्ट भोजन करने वाला, कुटिल एवं कुचेष्टा करने वाला दीक्षा का अधिकारी नहीं होता-

शुश्रुषा परमा भक्त्या संक्रमो गुरुणा ततः।
क्रमोत्कृष्टगुणैर्युक्त एकरूपस्समाहितः।।

नियुक्तादच्युतश्रद्धी शास्त्रार्थकृतधीर्महान्।
यजेद्यागेन वै भूयो मन्त्रं चाभीष्टसिद्धये।।

अभिषिक्तोऽभ्यनुज्ञातो धैर्योत्साहसमन्वितः।
एकान्तं निर्जनं यायान्नारायणनिकेतनम्।।

....

येन संरक्षितो विप्र भवेद्वै नापहीयते।
सिद्धैरदृश्यभूतैस्तु मन्त्रिसिध्यभिकांक्षिभिः।।

---

१. जयाख्यसंहिता, पटल १७.१३-१७.
२. तत्रैव, पटल १७-१९, श्लोक- १७-४२.

समर्प्य चैवं शयने श्रमं वै सन्त्यजेत्पुनः।
अनेन विधिना यो वै मन्त्राराधनतत्परः।।

उच्यते मुनिशार्दूल विज्ञेयस्सतु साधकः।
न तेन कुत्रचित्कार्ये शापानुग्रहकर्मणि।।

आचार्य का लक्षण करते हुए कहा गया है-

मन्त्रसिद्धिस्तु वै तस्य विज्ञाता गुरुणा सदा।
गुरुणा वै सोऽभिषिक्तः ततः शिष्यः प्रसादतः।।

....

स्वशिष्यपरशिष्याणां लोभनिमुक्त आचरेत्।
अशास्त्रज्ञे (षुः) चान्येषु गुरुभावस्थितेन च।।

....

नित्यमभ्यस्यति त्यागमनित्यं भावयेद्धवम्।
एवं लक्षणसम्पन्नो यस्स आचार्य उच्यते।[1]

पहले दीक्षा होती है फिर अभिषेक किया जाता है। अभिषेक किए बिना न तो दीक्षा पूर्ण होती है और न साधक को पूर्ण बोध हो पाता है एवं आचार्यत्व तथा सद्भक्ति भी नहीं मिलती।[2]

जयाख्यसंहिता में अभिषेक के विधि-विधान का विशद विवेचन मिलता है। अभिषेक के लिए उपयुक्त पात्र अथवा शिष्य के सम्बन्ध में कहा गया है कि, उसी व्यक्ति का अभिषेक करना चाहिए जो शान्त, प्रसन्नचित्त, संयत, मनोहर, गुरुभक्त, देवपूजक एवं सम्पूर्ण शुभ लक्षणों तथा उद्गुणों से युक्त हो।[3]

सभी वर्णों एवं जातियों के अभिषेक करवाने का अधिकार ब्राह्मण आचार्य को है क्योंकि वह पाँचों तत्त्वों को जानने वाला होता है। तीनों सिद्धियों से युक्त, सत् कर्मों को करने वाला आचार्य पद अभिषिक्त क्षत्रिय, वैश्य एवं

---

१. जयाख्यसंहिता, १७/४६-६२.

२. पूर्णाभिषेकं वक्ष्यामि साधकानां सुखावहम्।
विना येनाभिषेकेण साधकाः पूर्णबोधताम्।।
आचार्यत्वं न चाप्नोति सद्भक्त च समाहिताम्।
- सार-संग्रह से दीक्षा प्रकाशिका, पृ. ९७.

३. अथाभिषेचयेच्छिष्यं सर्वलक्षणसंयुतम्।
सुशान्तं स्पष्टमनसं संयतं देवपूजकम्।।१।।
गुरुभक्तं जिताक्षं च पूर्वोक्तसमयस्थितम्।
एवंविधस्य सततं कर्त्तव्यमभिषेचनम्।।२।।
- जयाख्यसंहिता, पटल १८.१-२.

शूद्र भी अभिषेक करवाने का अधिकारी है[1] परन्तु, किसी भी जाति का आचार्य अपने से उत्तम जाति के शिष्यों का अभिषेक करवाने का अधिकारी नहीं है। उदाहरण के लिए, ब्राह्मण, क्षत्रिय के अभाव में वैश्य आचार्य वैश्य एवं शूद्र शिष्यों का एवं वैश्य आचार्य के अभाव में शूद्र स्वयं केवल शूद्र जाति के ही शिष्यों का अभिषेक कर सकता है। जयाख्यसंहिता में तो यहाँ तक व्यवस्था दी गयी है कि, यदि स्वजाति का भी आचार्य उपलब्ध न हो तो व्यक्ति स्वयं अपना अभिषेक कर सकता है।[2] परन्तु आचार्य के उपलब्ध होने पर स्वयं अपना अभिषेक नहीं करना चाहिए।[3]

जयाख्यसंहिता में समयी, साधक, पुत्रक एवं आचार्य आदि शिष्यों के लिए अभिषेक विधि का वर्णन किया गया है। समयी का अभिषेक मूलमंत्र के जप से किया जा सकता है और पुत्रक का अभिषेक ज्ञान के बिना भी मात्र मन्त्रोच्चारण द्वारा सम्पादित किया जा सकता है।[4] साधक का अभिषेक विधिपूर्वक कलश आदि का पूजन करके, संहार क्रम से तत्त्वों एवं मन्त्रों का न्यास आदि करके करना चाहिए।[5] इसी प्रकार ईश्वर एवं समस्त भूत अधिदेव, सम्पूर्ण तत्त्वों और मन्त्रों का स्मरण और न्यास करके तथा विधिपूर्वक पूजन करने के पश्चात् मानसिक विभव द्वारा आचार्य का अभिषेक करना चाहिए।[6]

समयी का अभिसिंचन सेनापति के सदृश, पुत्रक का महामन्त्री की तरह, साधक का युवराज की तरह एवं आचार्य का राजा की भाँति करना चाहिए।[7] आचार्य के अभिषेक के विधान का विस्तृत विवरण संहिता में उपलब्ध है। उसके लिए कहा गया है कि, दीक्षा मण्डल की वेदि पर लाल एवं श्वेत रंग से आचार्य को चर्चित करके बीच में स्वस्तिक एवं मण्डल तथा कमल बनाकर, सबसे ऊपर मृग-चर्म, श्वेत वस्त्र, पुष्प रखकर ऊपर वितान (चंदोवा) लगाना चाहिए।

---

१. जयाख्यसंहिता, १८.३-९.
२. वही, १८.१४-१५.
३. गुरौ वर्णोत्त्रमे विप्त विद्यमाने श्रुतेऽपिवा।
स्वदेशतोऽपि वाऽन्यत्रनेदं कार्यं शुभार्थिना।। - जयाख्यसंहिता, पटल १८.१७.
४. वही, १८.२०-२१.
५. वही, १८.२४-२७.
६. तस्यैव यादृशं दद्यादभिषेकं हितं श्रृणु।
ईश्वरादचलान्ताच्च साधिभूताधिदैवताम्।।
तत्त्वमालास्तरेत्सर्वां सृष्टिन्यायेन वै पुरा।
तत्र विन्यस्य विततां मन्त्रश्रेणीं पुरोदिताम्।।३०।।
- जयाख्यसंहिता, पटल १८.२९-३०.
७. वही, १८.३४-३५.

तत्पश्चात् पुष्प एवं जल से युक्त आठ कलशों पर आठ दीपक जलाकर आठों दिशाओं में रखना चाहिए। इसके पश्चात्, श्वेत चन्दन, अर्ध्य, धूप-दीप, फल, पुष्प, दूर्वा, ताम्बूल, खाद्य सामग्री, शंख, चक्र, गदा, पद्म, रेशमी वस्त्र, यज्ञोपवीत, सूत्र, अर्घ्यपात्र, कमण्डल, गेरू, श्वेत मिट्टी, गोबर, काले मृगचर्म, दातौन, संहिता पुस्तक, मुद्राएँ आदि वेदि पर रखकर मण्डल के मध्य में स्थित कलश में मन्त्रेश्वर का पूजन करना चाहिए।[1] तत्पश्चात्, अग्नि के मध्य एवं शिष्य के शरीर में स्थित आत्मा एवं देवता की पूजा करनी चाहिए।

जयाख्यसंहिता में विस्तारपूर्वक आचार्य एवं साधकों आदि के अभिषेक के लिए आवश्यक कलश संख्या, कलश पूजन आदि का विधान बताते हुए कहा गया है कि, पूर्वोक्त लक्षणों से युक्त, सुन्दर कलशों को कदलीफल, सभी प्रकार के रत्नों एवं सभी तीर्थों के जल से परिपूर्ण करके मण्डल के बाहर सभी दिशाओं में स्थापित करना चाहिए। कलश स्थापन के पश्चात् पुष्प-चन्दनादि द्वारा पूजन करके मन्त्रों का जप करते हुए सर्वव्यापक मन्त्रेश्वर भगवान् का यज्ञ सम्पादित करने के पश्चात् शिष्य द्वारा जप कराना चाहिए। तत्पश्चात्, खीर या चरू से पूजा करनी चाहिए।

इसी प्रकार क्रम से सभी कलशों का अभिषेक तथा ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद के मांगलिक मन्त्रों का पाठ करते हुए तथा मंगलमय वस्तुओं को प्रदान करके मांगलिक वाद्यों द्वारा आचार्य का अभिषेक करना चाहिए।[2] तत्पश्चात्, गुरु को प्रणाम करने के पश्चात् सोलह कलाओं से युक्त सूर्य सदृश भगवान् का स्मरण करना चाहिए। पूर्ण अभिषेक के पश्चात् दीक्षा पूर्ण होती है।

संहिता में बताया गया है कि, दीक्षा एवं अभिषेक कर लेने के पश्चात् शिष्य अथवा साधक को चाहिए कि, वह जयाख्यसंहिता में उपदिष्ट ज्ञान को गुरु से प्राप्त करे। गुरु से सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात् उस ज्ञान को भव-भय से त्रस्त भगवत् भक्तों को प्रादान करे एवं उसका प्रकाशन कराए। दीक्षित शिष्य को सदैव भगवान् का स्मरण करना चाहिए। अभिमान के वशीभूत होकर कभी भी धार्मिक कृत्यों का परित्याग नहीं करना चाहिए। उसे

---

१. जयाख्यसंहिता, १८. ३६-४५.

२. साधके पुत्रकेऽथ च। एकं वै समयज्ञस्य द्रवे कर्म (व्यमेकं) विनिक्षिपेत्।।४९।।
………… शङ्खशब्दैः सवटहैर्जयशब्द समन्वितैः।
अनेन विधिना कुर्यादाचार्यस्याभिषेचनम्।।६१।।
- तत्रैव, पटल १८.४९-६१.

चातुर्मास विधान नियमपूर्वक करना चाहिए। पूर्ण दीक्षा ग्रहण कर लेने पर दूसरों का दिया हुआ वस्त्र, पदत्राण एवं छतरी आदि कभी भी ग्रहण नहीं करना चाहिए।[1] यदि आपत्ति काल उपस्थित हो या दूसरों से ये वस्तुएँ ग्रहण करनी पड़े तो उन्हें जल से परिमार्जित करने के पश्चात् ही लेना चाहिए। यदि भगवत्-परायण एवं भगवत्-भक्ति में लीन मनुष्य दूसरों से प्राप्त वस्तुओं का उपयोग करते हैं तो कोई दोष नहीं लगता।

जयाख्यसंहिता में आगे कहा गया है कि दीक्षित शिष्य को चाहिए कि, वह सदैव मन, कर्म एवं वाणी से तथा मधुर वचनों द्वारा गुरु का सम्मान एवं पूजन करे। जिस प्रकार गुरु अपने शास्त्र-ज्ञान का उपयोग करते रहे हों उसी प्रकार शिष्य को भी चाहिए कि वह जाति, धर्म आदि का भेदभाव किये बिना अशिक्षितों को शास्त्र-विहित नियम प्रदान करें क्योंकि भगवान् विष्णु में रत सभी मनुष्य समान होते हैं तथा सभी मनुष्यों के लिए शास्त्र-विहित नियम भी समान होते हैं।

गुरु के लिए कहा गया है कि, यदि गुरु अपने शरीर को नाशवान समझ ले तो उसे चाहिए कि वह अपना सम्पूर्ण अधिकार अपने योग्य शिष्य को प्रदान करके स्वयं सन्यास धारण करे और भोग्य वस्तुओं का परित्याग करके नारायण का स्मरण करते हुए देशाटन करे।[2] वह तीर्थों में भ्रमणशील सन्यासी के रूप में ब्रह्म में लीन होने के योग्य होता है।

---

१. उपभूक्तं परेणैव विशेषाद्दीक्षितेन तु।
छत्रोपानहवस्त्राद्यं नोपयुञ्जीत जातु वै।।७३।।
असंपत्तावथापत्सु न दोषं क्षालिते सति।
स्वगुरोर्दीक्षितानां च आचार्याणां सदैव हि।।७४।।
- जयाख्यसंहिता, पटल १८.७३-७४.

२. असंपत्तावथापत्सु न दोषं क्षालिते सति।
स्वगुरोर्दीक्षितानां च आचार्याणां सदैव हि।।७४।।
दण्डी कषायवसाश्च नमो नारायणाय वै।
ब्रुवन्प्रणवपूर्वं च त्यक्त्वा सर्वपरिच्छदम्।।८०।।
-तत्रैव, पटल, १८.७४-८०.

वैष्णव-लक्षण, पाञ्चरात्रिक आचार तथा प्रायश्चित्त

जयाख्य-संहिता में वैष्णवों के लक्षण-वर्णनक्रम में वैष्णवों के अधोलिखित भेद कहे गये हैं- १. यति, २. एकान्तिन्, ३. वैखानस, ४. कर्मसात्वत, ५. शिखिन्, ६. आप्त, ७. अनाप्त, ८. आरम्भिक, ९. संप्रवर्ति, १०. योगी, ११. जपनिष्ठ, १२. तापस, १३. शास्त्रज्ञ तथा १४. शास्त्रधारक। पिता अथवा गुरु के द्वारा निषेकादि संस्कार-संस्कृत, ब्रह्मचारी-गुणोपेत, स्वयं विवेकभावस्थ, निर्मल मन से सभी प्राणियों में विष्णु को देखने वाला तथा कर्मणा-वाचा केवल विष्णु का आराधक **यति** कहा गया है। जो यति आद्यद्विजेन्द्र के घर से, उसके अभाव में षट्कर्मरत विप्र के घर से अयाचित सिद्धान्त से अपनी शरीर-यात्रा चलाता है वह मुण्डितमस्तक तथा श्मश्रु-मुण्डित होकर कषायवस्त्र तथा दण्डधारी होता है। भ्रमणशील रहते हुए षट्कर्मनिरतों से सम्मानपूर्वक भिक्षा प्राप्त कर शरीर-यात्रा चलाता है। जो अपरिग्रहपूर्वक प्रभु का पूजन करता है और गुणी शिष्यों के साथ एकाकी निवास करता है उसे **एकान्तिक** कहा गया है। परिग्रहवान् विप्र, जो परमेश्वर-पूजन में रत रहता है द्विजेन्द्रों, क्षत्रियों अथवा वैश्यों से याचित या अयाचित धन प्राप्त कर कुटुम्ब का भरण-पोषण करता है। यह जटी, छत्री तथा सिताम्बरधारी होता है। उसे **वैखानस वैष्णव** कहा गया है। **कर्मसात्वत** मुख्य रूप से क्रियार्थ कुटुम्ब अथवा अपने भरण-पोषण के लिए उद्युक्त होकर वृत्ति के निमित्त राजा के पास जानेवाला होता है। **शिखी** के हृदय में अविरत वैष्णव-यजन का स्फुरण होता है। यह प्रधान रूप से अथवा परम्परागत रूप से कृषिकर्म सम्पादित करता हुआ सभी कर्मों का सम्पादन करता है। यहाँ शिखी के लिए भी चातुरात्म्य का निर्देश किया गया है।

आप्त का लक्षण कहते हुए कहा गय है कि, जो पञ्चकाल-क्रम में स्थित क्रमशः देवाराधन में संलग्न रहते हैं तथा द्विजातियों एवं चारों वर्णों को जो अधिकार देते हैं वे शुद्ध भगवन्मार्ग में सत्त्वस्थ **सात्वत** कहे गये हैं। ये सर्वथा असंकीर्ण विचारवाले होते हैं और ब्रह्म, इन्द्र, रुद्रादि देवताविशेष के आराधनपूर्वक वासुदेव के बिना प्रभवादियुक्त चातुरात्म्य के द्वारा आराधन करते हैं। वे फल की आकांक्षा का सर्वथा त्याग करते हैं। वे वेदान्तार्थ जानने वाले चातुर्वण्य से

ऊपर उठे होते हैं। उनकी दृष्टि में मोक्ष की अपेक्षा हरि के संस्थापन का अधिक महत्त्व होता है। सम्मार्जित धन से प्रयत्नपूर्वक प्रतिष्ठा करते हैं। भक्तिपूर्ण अन्तःकरण से वैष्णवी कीर्त्तनपरक होते हैं।

अनाप्त- वर्णधर्मी के अनुसार आचारवान् रहकर आप्त की तरह परमश्रद्धा से देवता का अर्चन करते हैं।

आरम्भी- पूर्वोक्त के बिना जो वैष्णव ब्राह्मणादि अर्थ-सिद्ध्यर्थ विश्वात्म का आराधन करते हैं उन्हें आरम्भी कहा गया है।

सम्प्रवर्त्तिन्- स्वयं श्रद्धा से जो हरि के संपूजन में अमार्ग से प्रवृत्त होते हैं उन्हें सम्प्रवर्त्तिन् कहा गया है।

योगी- जो वैष्णव शय्या, आसन तथा मार्ग में सतत हृदयगत प्रभु का स्मरण करता है या निष्कलादि प्रभेद से आयतन में निमीलित-नयन बैठकर सदा समाधि का अभ्यास करता है और 'नमो नारायणाय' अथवा 'नमो भगवते वासुदेवाय' का जप करता है वह भगवद्योग-सेवी कहा गया है। वह कर्मणा, मनसा या वाचा कभी भी किसी का अनिष्ट-चिन्तन नहीं करता।

जपनिष्ठ- जो कषाय वस्त्रधारी दण्डी शुद्ध तथा शान्त मन से समस्त जन्तुओं में भगवद्भाव रखता है, पद्माक्ष अथवा स्फटिक की माला हाथ में लेकर भगवान् का भजन करते हुए जप करता है वह जपनिष्ठ कहा गया है। जपनिष्ठ मन से विष्णु-अर्चा में तत्पर रहता है। वह मन्त्र-जाप तथा स्तुति-पाठ में भी श्रद्धावान् तथा तत्पर रहता है।

तापस- जो वैष्णव तत्तत् देवताओं का आश्रयण कर व्रत का आचरण करता है, चान्द्रायण तथा एकादशी आदि व्रताचार करता है, सतत विष्णु के आलय में, उसके अभाव में गृह में स्थित विष्णु की सर्वदा उपासना करता है उसे तापस कहा जाता है। वह मासोपवासी तथा विष्णु-आलय-लोलुप होता है। व्रत के अवसान में पत्र-पुष्पादि के द्वारा भगवन्मयों की पूजा करता है। औदकी शौच करने वाला तापस समीपस्थ लोगों को नक्तोपवास-पूजा आदि के लिए सर्वदा उद्‌बुद्ध करता रहता है। वह पय-मूल-भक्षी होता है।

शास्त्रज्ञ- जो वैष्णव पुराण, धर्मशास्त्र, वैष्णव-इतिहास, वैष्णव-वेदान्त-सिद्धान्तों को जानता है, सुनता है तथा उसकी व्याख्या करता है, प्रणष्ट वाक्यों की वस्तु का विचार करता है और सतत् शास्त्रज्ञों के साथ प्रयत्नपूर्वक आगमों का संस्कार करता है उसे शास्त्रज्ञ कहते हैं।

शास्त्रधारक- जो वैष्णव श्रद्धा से कहीं भी आगामों का संकलन कर, ब्रह्म का ध्यान करते हुए उसको धारण करता है, अर्घ्य-पुष्पादि से शास्त्रपीठ की पूजा करता है तथा वैष्णवों को शास्त्र देता है उसे शास्त्रधारक कहते हैं।

शास्त्रधारक कभी भी अन्य दर्शनों की निन्दा नहीं करता। इस प्रकार जयाख्य-संहिता ने इन चौदह वैष्णवों का लक्षण-निर्देशपूर्वक वर्णन किया है।[1]

जीवन में आचार का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है अत एव 'आचारः परमो धर्मः' कहा गया है। प्रायः समस्त शास्त्रों में सदाचार, धर्म आदि पर गम्भीर चिन्तन किया गया है। कहा तो यहाँ तक गया है कि, छः अंगों के साथ चार वेद पढ़ा हो परन्तु, सदाचारी न हो, उस वेदपाठी को वेद भी पावन नहीं कर सकते हैं।[2] श्रीवैखानसगृह्यसूत्र में संस्कारों द्वारा बहुदुर्लभ इस मानव-शरीर को भगवदाराधन योग्य बनाने का मार्ग प्रशस्त हुआ है। इन संस्कारों का क्रम इस प्रकार है- (१) ऋतुसंगमन (२) गर्भाधान (३) पुंसवन (४) सीमन्त (५) विष्णुबलि (६) जातकर्म (७) शय्योत्थान (८) नामकरण (९) अन्नप्राशन (१०) निष्क्रमण (११) पिण्डवर्धन (१२) चौल (१३) उपनयन (१४) पारायण (१५) ब्रतवन्ध (१६) विसर्ग (१७) उपाकर्म (१८) समावर्तन और पाणिग्रहण-इन अठारह संस्कारों का निरूपण किया गया है।[3]

पाञ्चरात्र-सम्प्रदाय के दीक्षा वर्णनक्रम में व्यावहारिक दृष्टि से वैष्णवों के तापादि पञ्चसंस्कार किये जाते हैं जो अधोलिखित हैं-

तापः पुण्ड्रः तथा नाम मन्त्रो यागश्च पञ्चमः।[4]

पञ्चसंस्कारों में दीक्षित वैष्णव पञ्चकाल-प्रक्रिया की ओर अग्रसर होता है। वैष्णवों के दैनन्दिन आचार पञ्चकाल-प्रक्रिया में विहित हैं। कालविभागाश्रित आचार-प्रतिपादन-क्रम अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित है। शतपथ ब्राह्मण में 'पञ्चमहायज्ञ'- १. ब्रह्मयज्ञ, २. पितृयज्ञ, ३. देवयज्ञ, ४. भूयज्ञ तथा ५. अतिथि विधिवत् वर्णित हैं।[5]

पञ्चकाल की उपासना के प्रसंग में नारद के श्रीभगवान् से प्रश्न किया कि, लोक में एक ही काल है फिर पञ्चकाल-कथन कहाँ तक तर्कसंगत है? उत्तर में श्री भगवान् ने कहा कि, एक दिवसीय काल को ही पाँच भागों में किया जाता है जो प्रातः काल से लेकर रात्रि के अन्त तक होता है। एक दिन अर्थात् अहोरात्र

---

१. जयाख्यसंहिता, २२/६८-८४
२. 'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः यद्यप्यधीताः सह षड्भिरंगैः।'
३. "ऋतुसंगमनगर्भाधानपुंसवनसीमन्तविष्णुबलिजातकर्मोत्थाननामकरणान्न-प्राशनप्रवासागमनपिण्डवर्धनचौलोपनयनपरायणव्रतबन्धविसर्गोपाकर्म-समावर्तनपाणिग्रहणानीत्यष्टादशसंस्काराः शरीरस्य।"
- वै. गृह्यसूत्र, प्रश्न १, खण्ड १, सूत्र २.
४. श्रीप्रश्नसंहिता, १६/१०९.
५. शतपथब्राह्मण, ११/५/६/२.

में होने वाले भिन्न-भिन्न कर्मों के अनुसार पञ्चकाल कहा गया है। ये काल पाञ्चरात्रागम के अनुसार- १. अभिगमन, २. उपादान, ३. इज्या, ४. स्वाध्याय तथा ५. योग हैं।[1] जयाख्य संहिता पञ्चकाल का स्वरूप अधोलिखित है-

ब्राह्मन्मुहूर्तादारभ्य प्रागंशं विप्र वासरे।
जपध्यानार्चनस्तोत्रैः कर्मवाक्चित्तसंयुतैः।।
अभिगच्छेज्जगद्योनिं तच्चाभिगमनं स्मृतम्।
ततः पुष्पफलादीनामुत्थायार्जनमाचरेत्।।
भगवद्यागनिष्पत्तिकारणं प्रहरं परम्।
तदुपादानसंज्ञं वै कर्मकालपदाश्रितम्।।
ततोऽष्टाङ्गेन यागेन पूजयेत् परमेश्वरम्।
सार्धं तु (साधकः) प्रहरं विप्र इत्याकालस्तु स स्मृतः।।
श्रवणं चिन्तनं व्याख्या ततः पाठसमन्विता।
स्वाध्यायसंज्ञं तं विद्धि कालांशं मुनिसत्तम्।।
दिनावसाने संप्राप्ते पूजां कृत्वा समभ्यसेत्।
योगं निशावसाने च विश्रमैरन्तरीकृतम्।
पञ्चमो योगसंज्ञोऽसौ कालांशो ब्रह्मसिद्धिदः।।[2]

उत्तर देते हैं- हे नारद! एक दिन प्रथम प्रहर अर्थात् ब्राह्म मुहूर्त्त से सूर्योदय काल के समय तक कायिक, वाचिक, मानसिक रूप से युक्त होकर भगवान् का जप, अर्चन, ध्यान और पाठादि करना चाहिये। जगत् कारण नारायण के चरणों में जाना ही अभिगमन काल कहा गया है। तत्पश्चात्, भगवत् पूजन के लिये फल पुष्पादि का अर्जन करना चाहिये। इस दूसरे काल को उपादान काल कहते हैं। इसको कर्मकाल भी कहा जाता है। हे नारद! अष्टाङ्ग योग के द्वारा परमेश्वर के पूजन कर्म को करें। इस तृतीय काल को इज्या काल कहते हैं। हे मुनिसत्तम! जिस काल में भगवत् कथा का श्रवण, मनन, पाठ तथा व्याख्यान किया जाता है उस काल को स्वाध्याय काल कहते हैं जो चतुर्थ काल-बोधक है। यह पूजन दिन की समाप्ति काल में पूर्ण करना चाहिये। रात्रि के अंतिम समय में अपने अन्तःकरण को पूर्ण निष्ठा से भगवान् के चरणों में स्थापित कर सम्बन्ध स्थापित करने को ही योगकाल कहते हैं जो ब्रह्म की सिद्धि प्रदान करता है।

१.क. जयाख्य-संहिता, २२.६-५६. ख. पाद्मसंहिता, च.पा., १३/३-४.
ग. सनत्कुमारसंहिता, ऋषिरात्र, १/३-१५.
२. जयाख्यसंहिता, २२/६८-७४ क.

पाञ्चरात्रागम में प्रतिपादित पञ्चकाल-प्रक्रिया का वर्णन श्रीमद्वेदान्तदेशिक ने अपने ग्रन्थ 'पाञ्चरात्ररक्षा' में भी किया है जहाँ पाञ्चरात्र-ग्रन्थों के प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं।[१]

प्रायश्चित्त-

आगम में प्रायश्चित्त का प्रधान उद्देश्य भगवान् की निर्बाध, निर्दोष तथा पवित्र रूप में अर्चा करना जिसकी उपेक्षा से पाप प्रादुर्भूत होते हैं। इसी पाप के निवारणार्थ प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। कहीं-कहीं अनिष्ट निवारण के लिए भी प्रायश्चित्त का विधान है। विष्णुतिलकसंहिता में प्रायश्चित्त शब्द की निरुक्ति करते हुए कहा गया है-

प्रायः पापसमूहः स्याच्चित्तं तन्नाशकारणम्।[२]

जयाख्यसंहिता के पच्चीसवें पटल में प्रायश्चित्त के स्वरूप पर सम्यक् विचार किया गया है। जयाख्यसंहिता का कहना है कि, विहित कर्म के न करने से उत्पन्न होने वाले दोषों के निवारणार्थ प्रायश्चित्त करना पड़ता है। पापों के परिमार्जन के लिए जप, दान, हवन तथा तप आवश्यक है।[३] आचारों के लोप के सम्बन्ध में ब्राह्मणों को कठोर तथा अन्य लोगों को सुसह्य प्रायश्चित्त विधान बताया गया है। उदाहरणार्थ- यजमान को मूर्तिभंग की जो प्रायश्चित्त विधि करनी पड़ती है, उसमें शूद्र यजमान का दुगुना वैश्य को, तिगुना क्षत्रिय को, और ब्राह्मण को चौगुना करना चाहिए।[४] जयाख्यसंहिता में यह प्रतिपादित है कि जन्म और मृत्यु के समय घर में जिस मृतक-सूतक-अशौच का पालन किया जाता है वह भी वर्ण के अनुसार अलग-अलग है। ब्राह्मण को दस, क्षत्रिय को बारह, वैश्य को पन्द्रह और शूद्र को एक मास अशौच पालन करने के बाद ही फिर अनुष्ठान करने का अधिकार प्राप्त होता है।[५] जयाख्यसंहिता में विविध प्रकार के पापों के उदाहरण तथा उनके समुचित उपशम के लिए प्रायश्चित्त का विधान वर्णित है। डॉ. एच. डेनियल स्मिथ ने एक सारगर्भित निबन्ध **'प्रायश्चित्त इन दी कनोनिकल वर्कस आफ दी पाञ्चरात्रागम'** नामक शीर्षक से लिखा है। विद्वान् विचारक ने पाञ्चरात्रागम की प्रायः सभी संहिताओं में वर्णित प्रायश्चित्तविधान का सम्यक् विवेचन किया है।[६]

---

१. पाञ्चरात्ररक्षा, अधिकार-२.
२. विष्णुतिलकसंहिता, ४४/३.
३. जयाख्यसंहिता, २५/१-४.
४. पारमेश्वरसंहिता, १९/३५३, ५.
५. जयाख्यसंहिता, २५/११५, ६.
६. आड्यार लाइब्रेरी बुलेटिन वाल्यूम ३०, १९६६, पृ. २३-४३.

उपसंहार

तत्त्वचिन्तन एवं साधना के दो आधारभूत स्रोत भारतीय परम्परा में माने गये हैं जिन्हें हम निगम तथा आगम के नाम से जानते हैं। इन दोनों ही परम्पराओं में भक्ति, उपासना तथा ज्ञान की स्रोतस्विनी अनादि काल से अविच्छिन्न रूप में प्रवाहित हो रही है और आज भी उसी से साधना लोक को मार्ग प्राप्त होता है। इनमें आगम प्रस्थान में उपरिलिखित वाङ्मय का विपुल भण्डार है जिनमें से कुछ वैदेशिक आक्रमण तथा भौगोलिक विप्लव के कारण नष्ट हो गये। बहुत कुछ आज भी सुरक्षित हैं। आगम की साहित्यिक परम्परा में प्रमुख आगमों का संक्षिप्त विवेचन किया जा चुका है। अध्ययन का प्रधान विषय पाञ्चरात्रागम है और उसमें भी जयाख्यसंहिता को प्रतिपादन का मुख्य आधार बनाया गया है।

आगमों में साकार तथा निराकार- दोनों ही प्रकार की पद्धतियों का समावेश था किन्तु, सामान्य जन को इस ओर अभिप्रेरित करने के लिए वैष्णव आगम में प्रतिमा, प्रासाद, दीक्षा तथा गुरु आदि तत्त्वों का सम्यक् रूप से समावेश किया गया। शरण गमन, भेदभाव, साहित्य सर्वसुलभ दीक्षा तथा सौन्दर्यमयी विष्णु प्रतिमाएँ आकर्षण के साथ ही साथ चित्तावर्जक भी बनती गयीं।

जयाख्यसंहिता इन्हीं विभिन्न पद्धतियों का जीवन्त प्रतिपादक है। इसमें मूर्तिपूजा, विभिन्न मन्त्रों द्वारा विभिन्न सिद्धियों की प्राप्ति का विधान, मण्डल उपासना, विग्रह-माप आदि अनेक सूक्ष्मतम बातों का विशद विवेचन किया गया है। वैष्णव आगमों में त्रिरत्न के नाम से विख्यात जिन ग्रन्थों का उल्लेख है उनमें जयाख्यसंहिता आज भी दक्षिणी भारत में प्रमाण के रूप में उद्धृत की जाती है। इस ग्रन्थ में प्रायश्चित्त तथा श्राद्ध का विशद वर्णन है। इससे यह स्पष्ट है कि, इसमें वैदिक कर्मकाण्ड को सर्वथा हेय नहीं माना गया बल्कि, उसकी प्रतिष्ठा ही की गयी है। इस सम्प्रदाय में गुरु की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थिति मानी गयी है। बिना गुरु के दीक्षा सम्भव नहीं है और बिना दीक्षा के इस सम्प्रदाय की उपासना में प्रवेश सर्वथा असम्भव है। महत्वपूर्ण बात यह है कि, इस सम्प्रदाय में उत्सवों का महत्वपूर्ण स्थान है जो व्यक्ति तथा समाज पर अपनी अमिट छाप छोड़ जाते हैं।

वैष्णव उपासना पद्धति का और प्रधान रूप से पाञ्चरात्र आगम की उपासना पद्धति का प्रभाव देश के विभिन्न भागों में साधना करने वाले उपासकों पर पड़ा। उत्पलदेव, यामुनाचार्य, रामानुज, माध्व, निम्बार्क, वेदान्तदेशिक तथा बहुत अंश में चैतन्य महाप्रभु एवं वल्लभ भी इस उपासना पद्धति से प्रभावित प्रतीत होते हैं। इन सभी आचार्यों ने भक्ति तथा प्रपत्ति को मोक्ष का साधन माना है और जगत् की सत्यता को मानते हुए उसके नियामक परमात्मा के स्वरूप का निरूपण किया है। मध्यकालीन सन्त कवियों पर इन आगमों का प्रचुर प्रभाव पड़ा। भक्ति तथा प्रपत्ति का उनमें से अनेक के लिए स्वीकरणीय मार्ग बना। यह परम्परा किसी न किसी रूप में आज भी विद्यमान है। षोडशोपचार तथा पञ्चोपचार पूजा पद्धति आज भी सामान्य उपासना पद्धति है। उत्तरकालीन बौद्धों ने भी सप्तविध अनुत्तर पूजा का विधान माना। हमारी आज की उपासना पद्धति में इस प्रकार के तत्त्व व्यापक रूप से समाये हुए हैं।

प्रतिपालक के रूप में विष्णु के अवतार की भावना अधिक दृढ हुई और भगवान् बुद्ध को भी विष्णु एक अवतार के रूप में मान्यता मिल गयी। नारदीय-संहिता में बुद्ध की प्रतिमा को पद्मासन में आसीन, दशतालमान से कल्पित, लम्बे कानों तथा योगदृष्टि से युक्त पद्मलोचन, समाधिस्थ तथा अभय या वरद हस्त होना बताया है तथा इसका रूप शातकुम्भप्रभा की तरह होता है।[1]

दूसरी ओर, बौद्धों में भी बुद्ध की भगवत्ता प्रतिष्ठित हो गयी और उन्हें सर्वव्यापक तथा सर्वशक्तिमान् मानकर उनकी पूजा होने लगी। इसके प्रमाणभूत ग्रन्थ सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र, ललितविस्तर, स्वर्णप्रभाससूत्र तथा बोधिचर्यावतार आदि ग्रन्थ हैं। इसी सम्प्रदाय के कारण विष्णु को लोकात्मक माना गया तथा महाभारत में प्रतिपादित चारों वर्णों को मोक्ष का अधिकारी माना गया।[2] इतना ही नहीं, भागवतमहापुराण में भी निम्न जातियों के भगवत भक्ति द्वारा उद्धार का उल्लेख है[3] और यह भी कहा गया है कि, भगवत् भक्ति से विमुख ब्राह्मण की अपेक्षा शूद्र श्रेष्ठ है।[4] भगवद्भक्ति ही अधिकार की एकमात्र कसौटी है। भगवान् के भक्त कभी भी शूद्र नहीं हो सकते। वे सदा के लिए ब्राह्मण ही होते

---

१. नारदीयसंहिता, १३/३०१-३०३.

२. महाभारत, ६६-३९.

३. किरातहूणान्ध्र पुलिन्दपुल्कसा आभीर-कङ्का यवनारवशादयः।
येऽन्ये चे पापा यदुपाश्रयाश्रयाः शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः।।
- महाभागवतपुराण, २/४/१८.

४. विप्रात्द्विशतगुणयुतात्.......स्वपचं वरिष्ठम्।। भागवतपुराण।

हैं। जो ईश्वर भक्ति नहीं करते वे लोग चाहे उच्च वर्ण के क्यों न हों? सदा के लिए शूद्र ही हैं।[1] आलवार सन्तों की परम्परा भी इसी बात का पोषण करती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि, कतिपय पन्थों की कट्टरवादिता तथा अनिश्वरवादी बौद्धों की उदारता को ध्यान में रखकर त्यक्त वर्णों को भी इस उपासना में सम्मिलित किया गया जो आधुनिक परिवेश में एक मौलिक समस्या का रूप ग्रहण कर रहा है। वास्तव में आज की इस ध्वंसात्मक प्रवृत्ति के युग में वैष्णव प्रवृत्ति का पनपना, बढ़ना तथा पल्लवित और पुष्पित होना अत्यन्त आवश्यक है।

विष्णुभक्त प्रत्येक पदार्थ में भगवान् को देखता है[2] अतः, महात्मा तुलसीदास के शब्दों में "निज प्रभुमय देखहि जगत्, का सन करहि विरोध" सम्पूर्ण विश्व के प्राणियों में अपने ही आराध्य की प्रतिच्छाया देखने के कारण वैष्णव किसी से द्वेष नहीं करता। वैष्णव भक्त बौद्ध बोधिसत्व की भाँति अकेले मुक्त नहीं होना चाहता।[3] उसकी परिकल्पना है कि, विश्व के सभी प्राणी सुखी, समृद्ध तथा भगवत्कृपा के अधिकारी हों। इस प्रकार आज के आतंकवाद, जातिद्वेष, धर्मद्वेष तथा शस्त्रों की होड़ में जयाख्यसंहिता में प्रतिपादित आदर्श मानव की कल्पना अत्यन्त श्लाघ्य तथा अपरिहार्य है।

इस प्रकार, जयाख्यसंहिता का मूल्यांकन अनेक दृष्टियों से किया जा सकता है। संहिता की सबसे अधिक उल्लेखनीय बात उस सांस्कृतिक छाप से देखा जा सकती है जो मानव-जीवन के स्तर को ऊँचा उठाता है जिसके आदर्श का समुचित पालन करके इस पृथ्वी पर स्वर्ग की स्थापना की जा सकती है। इस संहिता की देन का वास्तविक रूप इसके अनुयायियों की उस मनोवृत्ति में ढूँढी जा सकती है जिसके अनुसार किसी भी प्राणी को शारीरिक या मानसिक हानि पहुँचाना सर्वथा त्याज्य है।[4] सच्चा वैष्णव सदा अहिंसक हुआ करता है जिसका परम कर्त्तव्य है कि वह मनसा, वाचा, कर्मणा किसी का अपकार न करे। इस अहिंसावृत्ति के ही कारण यह यावत्प्राणियों को अपना आत्मीय

---

१. न शूद्रा भगवद्भक्ता विप्रा भागवताः स्मृताः।
सर्ववर्णेषु ते शूद्रा ये ह्यभक्ता जनार्दने।।
- विहगेन्द्रसंहिता, २४/१०.

२. यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याऽहं न प्रणस्यामि स च मे न प्रणश्यति।। - गीता ६/३०.

३. नैतान् विहाय कृपणान्विमुमुक्षयेको......। - भागवत.

४. "जितदर्पा मतिं कृत्वां सर्वभूतहिते स्थितः।
भूतद्रोहपरित्यागो आस्ते यः संयतेन्द्रिय।।" - जयाख्यसंहिता, ३३/२-३.

समझता है, उसमें सर्वत्र एकमात्र भगवान् का प्रतिबिम्ब देखता हुआ उनके प्रति प्रेमभाव रखता तथा उनके प्रति सब कुछ अर्पित करने की चेष्टा किया करता है। इस त्यागवृत्ति के कारण उसमें किसी के प्रति द्वेषभाव नहीं आता और अपने किये कार्य तक को भगवदर्थ मान लेने के कारण उसे किसी प्रकार की चिन्ता नहीं सताती और वह सदा भगवच्चिन्तन में ही मग्न रहा करता है। इस प्रकार के सच्चे वैष्णवों की संख्या में वृद्धि होने पर सारे समाज का कल्याण अवश्यम्भावी है। यही संहिता का सन्देश है।

पाञ्चरात्र आगम और जयाख्यसंहिता का वैशिष्ट्य आगम की अत्यन्त प्राचीन परम्परा को सुरक्षित रखने में भी है। काश्मीर शैव आगम के प्राचीन ग्रन्थ 'जयाख्यसंहिता' से उद्धरण देते दिखाई पड़ते हैं। इससे न केवल 'जयाख्यसंहिता' की आपेक्षिक प्राचीनता पुष्ट होती है अपितु, आगमिक दृष्टि से उसका सातत्य प्रामाण्य भी द्योतित होता है।

पाञ्चरात्र आगम और जयाख्यसंहिता आगम की उस धारा का भी प्रतिनिधित्व करते हैं जिनमें नैगमिक एवम् आगमिक परम्पराओं का समन्वय तथा ऐक्य प्रतिबिम्बित होता है। निगम और आगम तत्त्वतः एक दूसरे के विरोधी नहीं अपितु, एक ही परम्परा की दो धाराएँ हैं जिनमें परस्पर सम्बन्ध सर्वदा बना रहा है। भारतीय धर्म एवं साधना के इतिहास में इस परस्पर सम्बन्ध और परस्परान्वय को अनदेखा नहीं किया जा सकता।

'जयाख्यसंहिता' का हमारा अध्ययन भारतीय साधना की परम्परा के एकत्व, सातत्य और सजीवता को समझने की दिशा में एक विनम्र प्रयास मात्र है।

जयाख्यसंहिता में भगवत्-स्तुति

नमोऽस्तु परमेशाय कारणाय पराय च।।५।।

सहस्रशिरसे तुभ्यं सहस्रचरणाय च।
सहस्रनयनश्रोत्र सहस्राद्भुतविक्रम।।६।।

सहस्रसूर्यवपुषे सहस्रेन्दुगभस्तये।
नमः परमहंसाय परात्परतराय च।।७।।

सत्त्वरूपाय शान्ताय नमो विश्वायनाय च।
भवाय भवहर्त्रे च सर्गस्य प्रभवाय च।।८।।

नमः कनकगर्भाय सर्वदेहभृते नमः।
त्रयीत्रयमयाद्याय नमस्ते परमात्मने।।९।।

हृदम्बुजगुहावासपरव्योमान्तशायिने।
भक्तियोगविदभ्यासग्राह्याय खलु ते नमः।।१०।।

मीनो निमीलिताक्षस्त्वं कूर्मस्त्वं च नगोद्वहः।
त्वया रूपं च कृत्वाऽग्र्यं विधृतं भूमिमण्डलम्।।११।।

भयाभये त्वयैकस्यां नरसिंहतनौ धृते।
वामनो गोपितवपुर्विततस्त्वं त्रिविक्रमः।।१२।।

रामरूपेण रम्येण तथा रामत्रयेण च।
त्वया देव जिता दैत्याश्छन्नरूपाश्च राक्षसाः।।१३।।

कृष्णस्त्वं बालरूपी च विभुर्दामोदरो हरिः।
त्वं विश्वरूपो देवानां साङ्ख्यानां कपिलः प्रभुः।।१४।।

योगिनां यो गतिस्त्वं वै शेषात्मा धरणीधरः।
सङ्कर्षणो ज्ञानिनां त्वं कामिनां कुसुमायुधः।।१५।।

अनिरुद्धश्च सर्वेषां जीवत्वेन त्वमच्युतः।
त्वया सृष्टं जगत्सर्वं ब्रह्मत्वेन जनार्दन।।१६।।

स्थितं पासि स्वयं भूत्वा विष्णुरूपेण केशव।
रुद्ररूपेण गोविन्द जगत्संहरसे क्षणात्।।१७।।

यज्ञरूपेण देवानां हव्यं वह्निमुखेन च।
वहसि त्वं पितॄणां च कव्यं कृत्स्नं जगत्पते।।१८।।

आराधयामि त्वां भक्त्या भवनिर्वाणदं प्रभुम्।
सुरसौख्यकरं देवं सुराणाममृतप्रदम्।।१९।।

स्थितास्त्वदुदरे लोका द्वीपाश्चोदधिभिस्सह।
देवैश्च दानवैःसार्द्धमृषिभिश्च तपोधनैः।।२०।।

मनुजैर्दनुजैश्चैव सरिद्भिस्सह पर्वतैः।
तवान्तस्संस्थितं सर्वे सर्वस्यान्तर्भवान् स्थितः।।२१।।

त्वमाद्यो भुवनस्यास्य त्वां स्मृत्वा सुखिता वयम्।
भवामो नित्यसंबुद्धाः संस्थिता यत्र कुत्रचित्।।२२।।

प्रणवस्त्वं त्रिमात्रश्च भूर्भुवस्वस्त्वमेव च।
अहङ्कारकरस्त्वं वै त्रितयलोकातारकः।।२३।।

जयाख्यसंहिता, पटल २/५-२३.

परिशिष्ट ख

मण्डल चित्र

नवपद्ममण्डल-१

Area : 16 × 16 = 256 units
Scale : 1 unit = 9 mm.
Colours : As described on pp. 21-25

Illustrated fig. 1
नवपद्ममण्डल

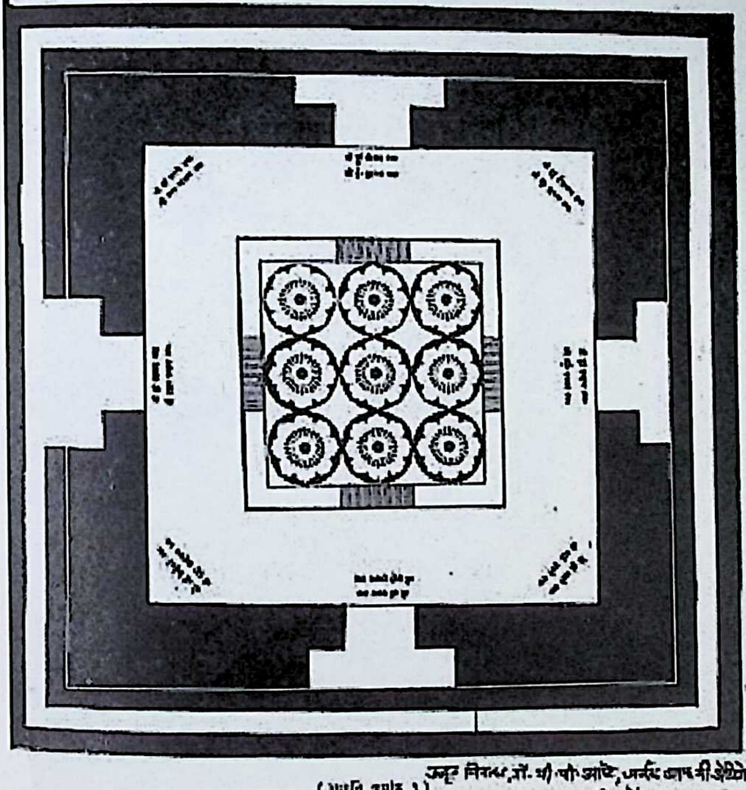

(आकृति संख्या १)

उद्धृत निबन्ध, प्रो. पी. पी. आप्टे, जर्नल आफ दी ओरियण्टल इन्स्टी- बड़ौदा, वाल्यूम 23, जून दिस. 63, पृ-416

Parts of the Maṇḍala-Diagram (from centre to border line)

1. Karṇikākṣetra = 6 × 6 = 36 units
2. Pīṭha = 2 rows, 28 half units ;—Gātra — 2 units (× 4 = 8);—Koṇa = 5 units (× 4 = 20)
3. Vīthi = 2 rows, 28 half units = 30 full units
4a. Dvāra = 2 rows, 6 units (× 4 = 24);—Kaṇṭha = 2 units; Upakaṇṭha = 4 units
4b. Koṇa = 22 units (× 4 = 88)
5. Rekhātraya (= three border strips—no measurement given)

मण्डल चित्र
नवपद्ममण्डल-२

Illustrated Fig. 2 Scale [illegible]

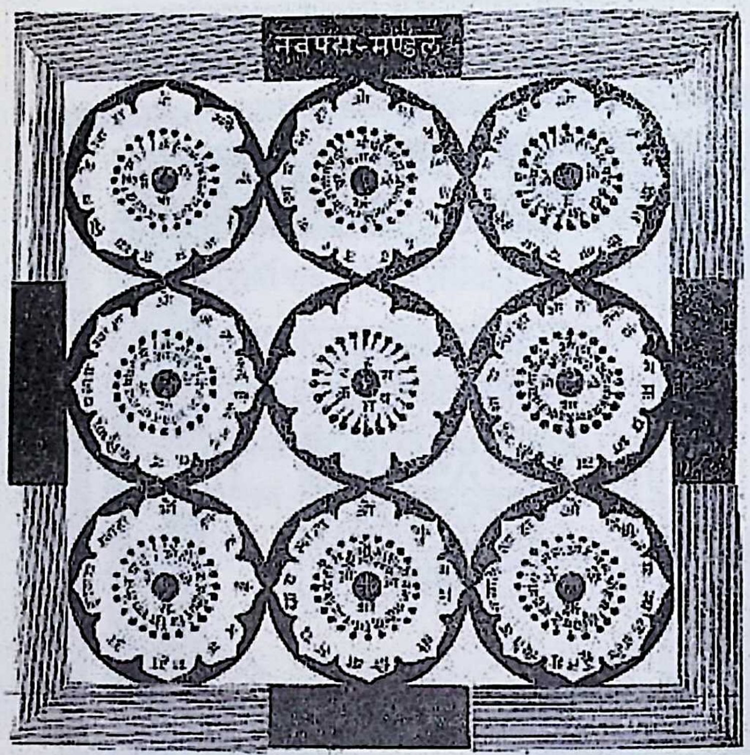

[illegible]

Lotus Area : Total [illegible] units, Individual 2×2 = 4 units

Note :—For the [illegible] on the central lotus, see Fig. 3

मण्डल चित्र

नवपद्ममण्डल-३

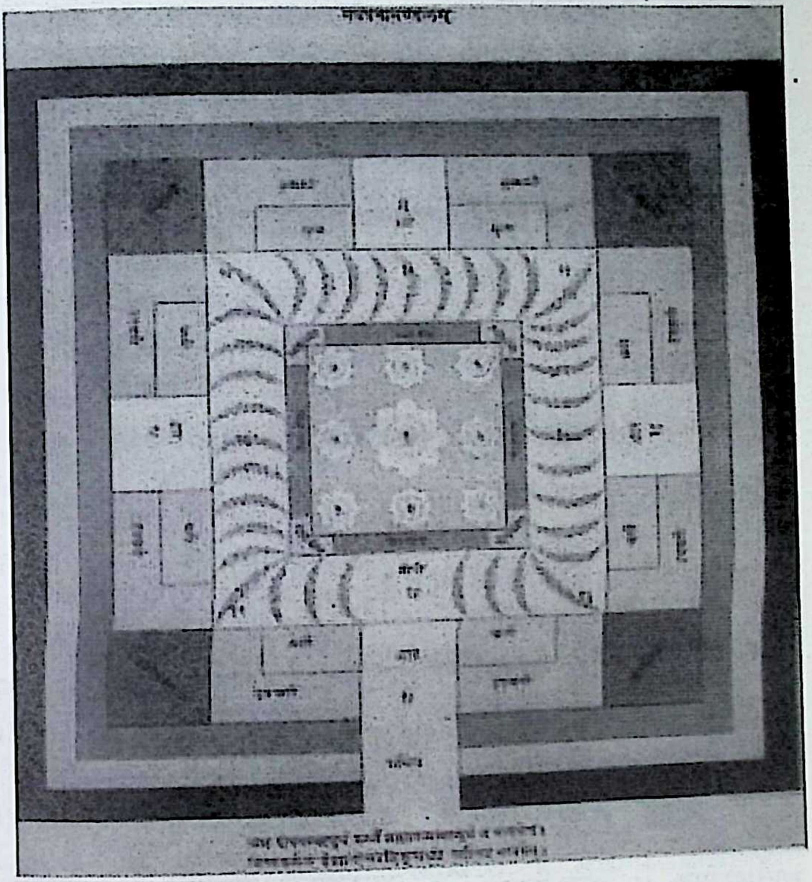

विशिष्ट शब्दों की विवरणी (वर्णानुक्रम से)

अग्नि–१. आहवनीय, २. अन्वाहार्य, ३. गार्हपत्य, ४. आवसथ्य, ५. सभ्य।

अग्निकुण्ड–१. चतुरस्र, २. अर्द्धचन्द्राकृति, ३. भूमण्डलाकृति, ४. त्र्यस्र,५. पुण्डरीक।

अङ्कुरबीज–१. व्रीहि, २. मुद्ग, ३. श्यामतिल, ४. शिम्ब, ५. निष्पाव, ६. सर्षप, ७. प्रियङ्गु, ८. माष, ९. कौलुत्थ।

अष्टमङ्गल–१. शङ्ख, २. चक्र, ३. स्वस्तिक, ४. कलश, ५. श्रीवत्स, ६. चामर, ७. सिंह, ८. तार्क्ष्य।

अवतार–१. मत्स्य, २. कूर्म, ३. वराह, ४. नरसिंह, ५. वामन, ६. परशुराम, ७. राम. ८. कृष्ण, ९. बुद्ध, १०. कल्की।

आसन–१. योगासन, २. स्नानासन, ३. अलङ्कारासन, ४. भोजनासन, ५. यात्रासन।

उत्सव (कालाधृत)–१. द्वादशाहोत्सव, २. नवाहोत्सव, ३. सप्ताहोत्सव, ४. पञ्चाहोत्सव, ५. त्र्यहोत्सव, ६. एकाहोत्सव।

उत्सव (त्रिविध)–१. नित्योत्सव, २. नैमित्तिकोत्सव, ३. काम्योत्सव।

उत्सवरात्र-देवता–१. वराह, २. नृसिंह, ३. वामन, ४. परशुराम, ५. राम, ६. बलराम, ७. कृष्ण ८ कल्की, ९. मत्स्य, ११. कूर्म, १२. नारायण।

उत्सवरात्र-बलिदेवता–१. सर्वभूत, २. पैत्रिक, ३. यक्ष, ४. नाग, ५. ब्रह्मा, ६. शिव, ७. विष्णु।

कर्मेन्द्रियाँ–१. वाक्, २. पाणि, ३. पाद ४ पायु, ५. उपस्थ।

काम्यदेवता–१. अग्नि, २. ब्रह्मा, ३. धनद, ४. श्री, ५. स्कन्द, ६. सूर्य, ७. दुर्गा, ८. रुद्र, ९. विष्णु, १०. इन्द्र।

क्षिति (चतुर्विध)–१. वारुणी, २. ऐन्द्री, ३. वायवी, ४. आग्नेयी।

गर्भागार-पद–१. ब्राह्म, २. दैवत, ३. मानुष, ४. पैशाच।

चतुर्मूर्त्ति–१. वासुदेव, २. सङ्कर्षण, ३. प्रद्युम्न, ४. अनिरुद्ध।

चतुर्मूर्त्ति देवियां–१. शान्ति, २. श्री, ३. सरस्वती, ४. रति।

जम्बूद्वीपस्थ द्वीप–१. अङ्गद्वीप, २. मलयद्वीप, ३. शङ्खद्वीप, ४. कुमुदद्वीप, ५. वराहद्वीप, ६. लङ्काद्वीप।

जाति (मन्त्रस्थ)–१. नमः, २. स्वाहा, ३. वषट्, ४. वौषट्, ५. हूँ, ६. फट्।

तत्त्व–१. पृथ्वी, २. आप, ३. तेज, ४. वायु, ५. व्योम, ६. गन्धतन्मात्रा, ७. रसतनमात्रा, ८. रूपतन्मात्रा, ९. स्पर्शतन्मात्रा, १०. शब्दतन्मात्रा, ११. वाक्, १२. पाणि, १३. पाद, १४. पायु, १५. उपस्थ, १६. श्रोत्र, १७. त्वक्, १८. नेत्र, १९. जिह्वा, २०. घ्राण, २१. अहंकार, २२. बुद्धि, २३. मन, २४. तम, २५. रज, २६. सत्त्व।

तन्त्र–१. वैखानस, २. शैव, ३. पाशुपत, ४. पाञ्चरात्र।

तीर्थक्षेत्र–१. सालग्राम, २. द्वारवती, ३. चक्रदान, ४. कुरुप्रिय, ५. रङ्ग, ६. सौकर, ७. कण्ठ, ८. काञ्ची, ९. शिवप्रिय।

त्रिकालार्चन–१. प्रातः, २. मध्याह्न, ३. सायं।

द्वारपाल–१. चण्ड, २. प्रचण्ड, ३. जय, ४. विजय, ५. पूर्ण, ६. पुष्कर, ७. गरुड, ८. विष्वक्सेन, ९. आनन्द, १०. नन्द, ११. वीरसेन, १२. सुषेण, १३. सम्भव, १४. प्रभव।

दिक्पाल–१. इन्द्र, २. यम, ३. वरुण, ४. धनद, ५. वह्नि, ६. नैर्ऋति, ७. वायु, ८. ईशान।

दीक्षित–१. समयी, २. दीक्षित, ३. चक्रवर्ती, ४. अभिषिक्त, ५. गुरु, ६. आचार्य, ७. भगवान्।

देवपुरी–१. अमरावती, २. तेजोवती, ३. वैवस्वती, ४. रक्षोवती, ५. शुद्धवती, ६. गन्धवती, ७. महोदया, ८. यशस्विनी।

द्वारकुम्भदेव–१. पद्मराग, २. प्रवाल, ३. वैडूर्य, ४. पुष्पक, ५. नील, ६. मरकत, ७. मुक्ताफल, ८. स्फटिक।

द्वारपाल–१. चण्ड, २. प्रचण्ड, ३. जय, ४. विजय, ५. पूर्ण, ६. पुष्कर, ७. गरुड, ८. विष्वक्सेन, ९. आनन्द, १०. नन्द, ११. वीरसेन, १२. सुषेण, १३. सम्भव, १५. प्रभव।

धान्य (ग्राम्य)–१. तिल, २. व्रीहि, ३. यव, ४. माष, ५. गोधूम, ६. प्रियङ्गु, ७. मुद्ग।

धान्य (वन्य)–१. वेणु, २. श्यामाक, ३. नीवार, ४. जर्तिला, ५. गवीधुक्, ६. कर्कट, ७. श्रुतक।

नियम (दस)–१. शौच, २. इज्या, ३. तप, ४. सत्य, ५. स्वाध्याय, ६. उपस्थनिग्रह, ७. व्रत, ८. उपवास, ९. मौन, १०. ध्यान।

न्यास (त्रिविध)–१.स्थितिन्यास, २. सृष्टिन्यास, ३. संहृतिन्यास।

पञ्चकाल–१. अभिगमनकाल २. उपादानकाल, ३. इज्याकाल, ४. स्वाध्यायकाल, ५. योगकाल।

पञ्चकालार्चन–१. प्रातः, २. मध्याह्न, ३. अपराह्ण, ४. सायं, ५. निशीथ।

पञ्चगव्य (त्रिविध)–१. प्रोक्षणार्थ, २. प्राशनार्थ, ३. स्नपनार्थ।

पञ्चगव्यद्रव्य (प्राशनार्थ)–१. शकृद्रस, २. मूत्र, ३. दधि, ४. आज्य, ५. पय।

पञ्चगव्यद्रव्य (स्नपनार्थ)– १. गोमूत्र, २. गोक्षीर, ३. गोदधि, ४. गोघृत, ५. गोशकृत्।

पञ्चगव्यद्रव्य (स्नपन)–१. घृत, २. शकृत्, ३. रस, ४. दधि, ५. क्षीर।

पञ्चभूत–१. पृथ्वी, २. आप्, ३. तेज, ४. वायु, ५. आकाश।

पाताल सप्ततल–१. आभास, २. परतल, ३. नितल, ४. गभस्तिमत्, ५. महातल, ६. सुतल, ७. रसातल।

पिण्डिकान्यास-बीज–१. यव, २. व्रीहि, ३. निष्पाव, ४. प्रियङ्गु, ५. तिल, ६. माष, ७. नीवार, ८. महाशालि।

पिण्डिकान्यास-रत्न–१. रत्न, २. मौक्तिक, ३. वैडूर्य, ४. शङ्ख, ५. स्फटिक, ६. पुष्टि, ७. चन्द्रकान्त, ८. इन्द्रनील, ९. पद्मराग, १०. मनःशिला, ११. हरताल, १२. अञ्जन, १३. श्यामशीशक, १४. सौराष्ट्र, १५. रोचन, १६. गैरिक, १७. पारद, १८. हिरण्य, १९. रजत, २०. ताम्र, २१. आयस, २२. त्रपु, २३. कांस्य।

पूजा-साधन–१. आप्, २. पुष्प, ३. पत्र, ४. गन्ध, ५. वास, ६. माला, ७. धूप, ८. दीप, ९. भूषणादि, १०. गुगुल, ११. मुद्ग, १२. मत्स्यपिण्ड, १३. दधि, १४. फल, १५. हृतक, १६. सूप, १७. व्यञ्जनादि, १८. स्रुव।

प्रतिमा (त्रिविध)–१. चित्र, २. अर्धचित्र, ३. चित्राभास।

प्रतिमोपादानद्रव्यकृत भेद–१. शिलामयी, २. लौहमयी, ३. मणि-मयी, ४. काष्ठमयी, ५. मृण्मयी।

प्रतिष्ठाभेद (पञ्च)–१. स्थापना, २. आस्थापना, ३. संस्था-पना, ४. प्रस्थापना, ५. प्रतिष्ठा।

बिम्बमृद्भेद–१. शुक्ला, २. रक्ता, ३. पीता, ४. कृष्णा।

बिम्ब (षड्विध)–१. मूल, २. कौतुक, ३. बलिबिम्ब, ४. तीर्थयात्राबिम्ब, ५. उत्सवबिम्ब, ६. स्नपनबिम्ब।

भारतस्थ महाचल–१. महेन्द्र, २. मलय, ३. सह्य, ४. कीर्त्तिमान्, ५. ऋक्षपर्वत, ६. विन्ध्य, ७. पारियात्र, ८. कन्यक।

महोत्सव-भेद–१. ध्वजा-रोहणपूर्वक, २. देवताह्वानपूर्वक, ३. अङ्कुरार्पणपूर्वक।

मासाधिप (द्वादश)–१. विष्णु, २. मधुसूदन, ३. त्रिविक्रम, ४. वामन, ५. श्रीधर, ६. हृषीकेश, ७. पद्मनाभ, ८. दामोदर, ९. केशव, १०. नारायण, ११. माधव, १२. गोविन्द।

यम (दस)–१. आनृशंस्य, २. क्षमा, ३. सत्य, ४. अहिंसा, ५. दम, ६. आर्जव, ७. शम, ८. प्रसाद, ९. माधुर्य, १०. मार्दव।

यागोपकरण–१. समित्, २. इध्म, ३. परिधि, ४. आज्यपात्र, ५. प्रणीता, ६. प्रोक्षणी, ७. अर्घ्यादिपात्र, ८. धूपपात्र, ९. सर्वपात्राधार, १०. घट, ११. वर्धनी, १२. कटाह, १३. कर्पर, १४. जलपात्र, १५. स्थाली, १६. मुकुटादि भूषण, १७. स्नपनद्रव्य १८. पञ्चगव्यद्रव्य, १९. वस्त्र, २०. ध्वज, २१. छत्र, २२. अष्टमङ्गल, २३. तालवृन्त, २४. पाद्यप्रतिग्रहपात्र, २५. आचमनप्रतिग्रहपात्र, २६. आसन, २७. पीठ, २८. विष्टर, २९. पादुका, ३०. दर्पण, ३१. ओदनपात्र, ३२. खट्वा।

यौवनशिलाभेद–१. स्त्रीशि-ला, २. पुंशिला, ३. नपुंसकशिला।

रत्नोदक द्रव्य–१. माणिक्य, २. पद्मराग, ३. नील, ४. वज्र, ५. पुष्य, ६. प्रवाल, ७. मुक्तक, ८. मरकत, ९. वैडूर्य।

रुद्र-परिवार–१. गङ्गा-यमुना, २. वृषभ, ३. सनक, ४. स्कन्द, ५. सनत्कुमार, ६. ब्रह्मा, ७. चन्द्र, ८. आदित्य।

लोहोदकद्रव्य–१. रुक्म, २. रूप्य, ३. ताम्र, ४. आयस, ५. त्रपु।

वास्तुदेश–१. वैष्णव, २. ब्राह्म, ३. रौद्र, ४. ऐन्द्र, ५. गारुड, ६. भौतिक, ७. आसुर, ८. राक्षस तथा ९. पैशाच।

वास्तुपददेव–१. ब्रह्मा, २. गुरु, ३. पर्जन्य, ४. जय, ५. माहेन्द्र, ६. आदित्य, ७. सत्य, ८. भृगु, ९. अन्तरिक्ष, १०. वह्नि, ११. पूषा, १२. गृहक्षत्ता, १३. भृगु, १४. यम, १५. गन्धर्व, १६. भृङ्ग, १७. राजा, १८. पितृ, १९. दौवारिक, २०. सुग्रीव, २१. पुष्पदन्त, २२. वरुण, २३. असुर, २४. शोषण, २५. पापयक्ष्मा, २६. रोग, २७. अहि, २८. मुख्य, २९. भल्लाट, ३०. सोम, ३१. भुजग, ३२. अदिति, ३३. दिति, ३४. आप्, ३५. आप-वत्स, ३६. सविता, ३७. सावित्र, ३८. इन्द्र, ३९. इन्द्रजय, ४०. रुद्र, ४१. यक्ष्मा, ४२. मारीचि, ४३. विपश्चित्, ४४. मित्र, ४५. भृगु।

विष्णुशक्तिपात–१. दिव्य, २. मन्द, ३. मध्य।

शिलाभेद (अवस्थाकृत)–१. बाला, २. वृद्धा, ३. मध्यमा।

शिलाभेद (स्थानकृत)–१. वारुणी, २. माहेन्द्री, ३. आग्नेयी, ४. वायवी।

शिलासंग्रह-स्थान–१. हिमवान्, २. हेमकूट, ३. निषध, ४. त्रिकूट, ५. माल्यवान्, ६. ऋक्ष, ७. शृङ्गवान्, ८. मलय, ९. गन्धमादन, १०. मेरु, ११. सत्य, १२. विन्ध्य, १३. पारियात्र, १४. अर्बुद, १५. श्रीपर्वत, १६. जयन्त, १७. श्वेतपर्वत।

षट्कालार्चन–१. प्रातः, २. मध्याह्न, ३. अपराह्ण, ४. सायं, ५. निशीथ, ६. प्रत्यूष।

षोडशोपचार (पूजन)–१. आसन, २. स्वागत, ३. पाद्य, ४. अर्घ्य, ५. आचमनीय, ६. मधुपर्क, ७. पुनराचमनीय, ८. स्नान, ९. वसन, १०. भूषण, ११. गन्ध, १२. पुष्प, १३. धूप, १४. दीप, १५. नैवेद्य, तथा १६. स्तुति-पाठ।

सप्तलोक–१. भू, २. भूव, ३. स्व, ७, मह, ५. जन, ६. तप, ७. सत्य।

सूर्यकला–१. तपनी, २. तापनी, ३. धूम्रा, ४. ज्वलिनी, ५. ज्वालिनी, ६. पावनी, ७. हव्यावाहा, ८. तेजोवती, ९. शतधा, १०. वामा, ११. पद्मप्रबोधिनी, १२. तमोपहा।

सूर्य-परिवार–१. उषा, २. सन्ध्या, ३. चन्द्र, ४. अङ्गार, ५. बुध, ६. बृहस्पति, ७. शुक्र, ८. शनैश्चर, ९. राहु, १०. केतु।

स्कन्द-परिवार–१. मयूर, २. शक्ति, ३. मेधा, ४. प्रज्ञा, ५. द्विरद, ६. ककुद्, ७. देवसेना, ८. विद्या।

स्नपन-द्रव्य–१. घृत, २. उष्णोदक, ३. रत्नवारि, ४. फलोदक, ५. लोहाम्भ, ६. मार्जनाम्भ, ७. गन्धाम्भ, ८. अक्षतवारि, ९. यवोदक, १०. पाद्य, ११. अर्घ्य, १२. आचमन, १३. पञ्चगव्य, १४. दधि, १५. पय, १६. मधु, १७. कषाय, १८. गुलोदक, १९. इक्षुरस, २०. नालिकेर-रस, २१. शान्तिवारि, २२. मङ्गलोदक।

हविर्भेद–१. नित्य, २. नैमितिक, ३. काम्य।

हविर्भेद (आलयार्चा में)–१. उत्तमोत्तम, २. उत्तम-मध्यम, ३. उत्तमाधम, ४. मध्यमोत्तम, ५. मध्यम-मध्यम, ६. मध्यमाधम, ७. अधमोत्तम, ८. अधम-मध्यम, ९. अधमाधम।

हविर्भेद (गृहार्चा में)–१. उत्तम, २. मध्यम, ३. अधम।

परिशिष्ट घ

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

१. अथर्ववेद, आर्य साहित्य मण्डल लि० अजमेर संवत् १९५७।

२. अनिरुद्धसंहिता, श्रीनिवास अय्यंगर मैसूर ई० १९५७।

३. अमरकोश, अमरसिंह, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई १९२९।

४. अहिर्बुध्न्यसंहिता, भाग १, २ पं० वी० कृष्णामाचार्य, अडियार लाईब्रेरी रिसर्च सेन्टर, मद्रास, द्वि० सं० १९६६।

५. आगम और तन्त्रशास्त्र, आचार्य व्रजबल्लभ द्विवेद्वी, परिमल प्रकाशन दिल्ली १९८४।

६. आगम कोश, वैखानस एवं पाञ्चरात्रागम भाग २, ३, कल्पतरु रिसर्च अकादमी बंगलोर १९९०।

७. आगम परिज्ञान और प्रभातिलक, शम्भुलिंग शिवाचार्य, पं० काशीनाथ शास्त्री मैसूर १९३०।

८. आगमप्रामाण्यम्, यामुनाचार्य, गायकवाड़ ओररियन्टल इन्स्टिच्यूट, बड़ौदा १९७६।

९. आनन्दसंहिता (तेलगु) ईगापालेम, आन्ध्रप्रदेश १९२४।

१०. आपस्तम्बश्रौतसूत्र, संपादक रिचर्ड गार्वे, मुंशीराम मनोहर लाल पब्लिसर्स दिल्ली, द्वि० सं० १९८३।

११. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, आचार्य अभिनवगुप्त, भाग १-३ सं० प्रो० रामचन्द्र द्विवेदी, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली १९८६।

१२. ईश्वरसंहिता, सुदर्शन प्रेस, कांजीवरम् १९२३।

१३. ऋग्वेद, योगेश्वरगुरु गंगेश्वर चैरिटेबल ट्रस्ट, तुलसीनिवास चर्चगेट बम्बई, विक्रमाब्द २०४८।

१४. कपिंजलसंहिता, राघवाचार्य और गोपाचार्य, के सी० पी० प्रेस कुड्डापेठ १८९६।

१५. काश्यप ज्ञानकाण्ड, सम्पादक आर० पार्थसारथि भट्टाचार्यः तिरुमलै तिरुपति देवस्थानम्, तिरुपति १९४८।

१६. काश्मीर की शैव संस्कृति में कुल और क्रम-मत, आचार्य नवजीवन रस्तोगी, डी.के. प्रिण्टवर्ल्ड (प्रा.) लि., एफ-५२, वालीनगर, रमेशनगर मेट्रो स्टेशन, नई दिल्ली, २०११ ई.

१७. गुह्यसमाजतन्त्र, सम्पादक–विनयतोष भट्टाचार्य, गायकवाड ओरियन्टल सीरिज, बड़ौदा १९३१।

१८. गौतमधर्मसूत्र, सम्पादक-डॉ उमेशचन्द्र पाण्डेय, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी १९६६।

१९. चरकसंहिता, चक्रपाणि, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।

२०. चिन्मयभारत, डॉ कुबेरनाथ राय हिन्दूस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद,१९९६।

२१. छान्दोग्य उपनिषद्, श्रीरंगरामानुज मुनि, सुन्दरम् चैरिटिज, मद्रास १९७३।

२२. जयाख्यसंहिता, गायकवाड ऑरियन्टल सिरीज, बड़ौदा १९३१।

२३. तन्त्र और तसव्वुफ, प्रो० राममूर्ति त्रिपाठी, राका पब्लिकेशन, इलाहाबाद, १९८९।

२४. तन्त्र दर्शन, परमहंस निरंजनानन्द, श्री पंचदशनाम परमहंस, अलखवाडा देवघर १९६३।

२५. तन्त्रालोक (जयरथटीका), भाग-२, प्रथम आह्निक, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली १९८७।

२६. तान्त्रिक बौद्ध साधना और साहित्य, नागेन्द्र नाथ उपाध्याय, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संवत् २०१५।

२७. तैत्तिरीय आरण्यक, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना।

२८. धर्मशास्त्र का इतिहास, पी०वी० काणे (हिन्दी संस्करण), हिन्दी समिति लखनऊ १९७५।

२९. नाट्यशास्त्र-अभिनवभारती, कन्हैयालाल जोशी, परिमल पाब्लिकेशन दिल्ली १९८४।

३०. नारदपाञ्चरात्र, अनु० स्वामी विजयानन्द, पाणिनि ऑफिस, इलाहाबाद, १९२१।

३१. नारदपाञ्जरात्रम्, संकर्षणसंहिता, सम्पादक- आचार्य व्रजवल्लभ द्विवेदी, स्वामीनारायण अक्षरपीठ, अहमदाबाद, २००४ ई.।

३२. नारदीयसंहिता, डॉ० राघवप्रसाद चौधरी, केन्द्रीय सं० विद्यापीठ, तिरुपति १९७१।

३३. निगम तथा शैव-शाक्त-वैष्णव आगम परम्पराओं का अन्तः सम्बन्ध, प्रो. राधाबल्लभ त्रिपाठी, न्यू भारतीय बुक कारपोरेशन, नई दिल्ली, २०10 ई.।

३४. परमसंहिता, डॉ० एस० कृष्णस्वामी अय्यंगार, गायकवाड सीरीज, बड़ोदा १९४०।

३५. पाञ्चरात्र परिशीलन, प्रो. अशोक कुमार कालिया, न्यू भारतीय बुक कारपोरेशन, नई दिल्ली, २०१० ई.।

३६. पाञ्चरात्रागम डॉ० राघवप्रसाद चौधरी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९८७।

३७. पाद्मसंहिता, श्रीमती सीतापद्मनाभम् और डॉ० आर० एन० सम्पत् (भाग-१),पाञ्चरात्र परिशोधन परिषद्, मद्रास, १९७४।

३८. पारमेश्वरसंहिता श्रीरंगम् १९५३।

३९. पुराण विमर्श, आचार्य बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी तृ० सं० १९८७।

४०. पूर्णता- प्रत्यभिज्ञा, आचार्य रामेश्वर झा, प्रकाशन- श्री आर.बी.जोशी एण्ड ब्रदर्श, नीचीबाग, वाराणसी, १९८४ ई.।

४१. पौष्करसंहिता, भाग १, २, डॉ. पी.पी. ऑप्टे, राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ, १९९१, २००६ ई.।

४२. बृहद्देवता (शौनक), सं० रामकुमार राय, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी १९८९।

४३. बौद्धचर्यावतार, हिन्दी अनुवादक डॉ० रामनिवास तिवारी, ऑंकर ग्रन्थमाला, वाराणसी १९९३।

४४. बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, डॉ० गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, हिन्दी समिति, लखनऊ, द्वि० सं० १९७६।

४५. भार्गवतन्त्र, सम्पादक डॉ. राघवप्रसाद चौधरी, गंगानाथ झा, केन्द्रीय संस्कृतविद्यापीठ, इलाहाबाद, १९९१ ई.।

४६. भारतीय दर्शन का इतिहास (भाग ३) डॉ० एस० एन० दासगुप्त राजस्थान, हिन्दी अकादमी, जयपुर १९७४।

४७. भारतीय संस्कृति और साधना, म०म०पं० गोपीनाथ कविराज, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना १९७७।

४८. भारद्वाजसंहिता, प्रो० बाबूलाल शुक्ल, खेमराज श्री कृष्णदास प्रकाशन बम्बई, १९९०।

४९. मनुस्मृति, सम्पादक आचार्य जगदीशलाल शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली १९८३।

५०. महाभारत, सम्पादक श्रीपद कृष्ण बेलवलकर, भण्डारकर ऑरियन्टल रिसर्च इस्टीट्यूट, पुणे १९५४।

५१. मार्कण्डेयसंहिता, सी०वी० शेषाचार्युलु, तिरुमलै तिरुपति देवस्थानम् १९७५।

५२. यतीन्द्रमतदीपिका, श्रीनिवासाचार्य, चौखम्बासुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, प्र.सं. १९८१ ई.।

५३. लक्ष्मीतन्त्र धर्म और दर्शन, डॉ. अशोक कुमार कालिया, अखिल भारतीय संस्कृत परिषद्, लखनऊ, १९७७ ई.।

५४. लक्ष्मीतन्त्र, वी कृष्णमाचार्य, अडयार लाइब्रेरी एण्ड रिसर्च सेन्टर, मद्रास, १९५९।

५५. वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड, सम्पादक ए० सुब्रह्मण्यम् अय्यर, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, १९८३।

५५. वाल्मीकिरामायण, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, १९८३।

५७. विमानार्चनकल्प, सम्पादक श्री व० रघुनाथ चक्रवर्ती भट्टाचार्य, चेन्नपुरी, मद्रास, १९२६।

५८. विश्वामित्रसंहिता, उनदेमानशंकर भट्ट, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति १९७०।

५९. विष्णुपुराण, नाग पब्लिसर्स दिल्ली १९८५।

६०. विष्णुसहस्रनामस्तोत्रम् (प्रथम भाग) ऑरियन्टल रिसर्च इस्टीच्यूट, मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर, १९६१।

६१. विष्णुसंहिता, सम्पादक गणपतिशास्त्री, नाग पब्लिसर्स, दिल्ली १९९१।

५६. विष्वक्सेनसंहिता, लक्ष्मीनरसिंह भट्ट, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति १९७२।

६२. वैखानस आगम कोश, भाग १-११, सम्पादक, प्रो. लक्ष्मीनृसिहं भट्ट आदि, राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति, १९९३-२०१० ई.।

६३. वैखानस विजय, उत्तमूर टी० वीर राघवाचार्य, तिरुपति १९६३।

६४. वैखानसश्रौतसूत्र, डॉ डब्लू० कैलेण्ड, मुंशीराम मनोहरलाल पब्लिसर्स, दिल्ली, १९९१।

६५. वैखानसस्मार्तसूत्र, डॉ डब्लू० कैलेण्ड, मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास पब्लिकेशन दिल्ली, १९८९।

६६क. वैष्णवागम विमर्श, आचार्य व्रजवल्लभ द्विवेद्वी, सम्पूर्णानन्द सं० विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९९७।

ख. श्रीवैखानस पैतृमेधिक प्रयोगः, प्रधान सम्पादकः, श्री सन्निधान सुदर्शन शर्मा, श्री वेङ्कटेश्वरवेदविश्वविद्यालय, तिरुपति, २००९।

६७. वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत (हिन्दी संस्करण), डॉ० आर० जी० भाण्डारकर, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९६७।

६८क. वैष्णव-पाञ्चरात्र आगम कतिपय पक्ष, डॉ. रामप्यारे मिश्र, प्रतिभा प्रकाशन, शक्तिनगर, दिल्ली, १९९४ ई.

६८ख. वैष्णव धर्म, आचार्य, परशुराम चतुर्वेदी, तृतीय संस्करण, चौखम्बा ओरियण्टालिया, वाराणसी, १९७७ ई.।

६९. शतपथब्राह्मण, चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी १९८१।

७०. शाण्डिल्यसंहिता, अनन्तशास्त्री फडके, सरस्वती भवन, टेक्स्ट ६०, वाराणसी १९३५-१९३६।

७१. शारदातिलक, म०म० श्री मुकुन्द झा बक्शी, चौखम्बा संस्कृत सिरीज वाराणसी, १९३।

७२. शिवमहिम्नस्तोत्र, अँग्रेजी अनुवाद डॉ० रामनिवास तिवारी, पिलिग्रिम्स बुक हाऊस, काठमाण्डु।

७३. श्रीपञ्चरात्रपारम्यम्, उत्तमूरश्रीवीरराघवाचार्य, सम्पादक- श्रीलक्ष्मीनरसिंह भट्ट, राष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठ, तिरुपति, १९९१ ई.।

७४. श्रीपुरुषोत्तमसंहिता, सम्पादक- आचार्य अशोक कुमार कालिया, न्यू भारतीय बुक कारपोरेशन, दिल्ली २००७, ई.।

७५. श्रीप्रश्नसंहिता, श्रीमती सीतापद्मनाभम्, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति १९६९।

७६. श्रीपाञ्चरात्ररक्षा, श्रीवेदान्तदेशिक, अनुवादक- पं. चक्रपाणि त्रिवेदी, चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, २०१३ ई.।

७७. श्रीभाष्य, श्रीललितकृष्णगोस्वामी, श्री निम्बार्काचार्य पीठ, प्रयाग १९७४।

७८. श्रीशक्तिसंगमतन्त्र, डॉ० बी० भट्टाचार्य, गायकवाड़ ऑरियन्टल इस्टीच्यूट, बड़ोदा १९७८।

७९. शुक्लयजुर्वेद, पं० जगदीशलाल शास्त्री, मोतीलाल, बनारसीदास, दिल्ली, १९७१।

८०. समूर्ताचनाधिकरण, श्री० व०रघुनाथ चक्रवर्ती भट्टाचार्य, तिरुमलै तिरुपति देवस्थानम्, तिरुपति, १९४३।

८१. सर्वदर्शनसंग्रह, माधवाचार्य, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९८४।

८२. सांख्यतत्त्वकौमुदी, रमाशंकर भट्टाचार्य मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १९६७।

८३. सिद्धान्तशिखामणिसमीक्षा, डॉ० चन्द्रशेखर शिवाचार्य, शैवभारती भवन, वाराणसी १९८९।

८४. सीतोपनिषद् (ईशादि-अष्टोत्तरशतोपनिषद्) श्री वासुदेव लक्ष्मण पणिकर चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी १९९०।
८५. संस्कृत साहित्य का बृहद् इतिहास (तन्त्रागम खण्ड) उ०प्र० संस्कृत संस्थान, लखनऊ १९९७।
८६. सन्मार्ग, आगम विशेषांक, सन्मार्ग दैनिक, तुलसीघाट, वाराणसी, १९८०।
८७. सन्मार्ग, भारतीय संस्कृति विशेषांक, सन्मार्ग दैनिक तुलसीघाट, वाराणसी, १९८०।
८८. हयशीर्षसंहिता, कालीकुमार दत्त और कल्याणकुमार दासगुप्त एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, १९७५।

अंग्रेजी ग्रन्थ

1. Agama Susama, Editors, Prof. Lakshminarasimha Bhatt & others, Rashtriya Sanskrit Vidyapeetha, Tirupati, 2005.
2. Agamas And South India Vaisnvism, Dr. Vardachari, Prof. M. Rangacharya Memorial Trust Tripalichen, Madras, 1982, I Ed.
3. A History of Indian Literature, Maurice Winternitz, University of Calcutta, 1938.
3. Aspects Of Visnuism, J. Gonda, Motilal Banarsidass Publisher, Delhi, 1954.
4. Discriptive Bibiliography of The Panchratra (Part1-2), Dr. H. Deniyal Smith, Orientel Institute, Barodara, 1975, 1980.
6. Elements of Hindu Iconography, T.A. Gopinath Rao, Vol. I, part I, Madras 1914.
7. Hindu Tantrism Gupta, Goudriaan And Moens, Leiden, 1979.
8. History of Dharmashastra Vol. 2, P. V. Kane, Bhandarker Oriental Research Ins. Poona, 1974.
9. Introduction of The Pancratra And The Ahirbudhnya Samhita, F.O. Schrader, Adiyar, 1916.
10. Journal of The Karnatka University Homantism, 1970.
11. Journal of The Oriental Research, Madras, 1964-66.
12. Journal of The Royal Asiatic Society, London, 1931.

13. Journal of The Tirumal Tirupati Devsthanam, Tirupati, May-June-1967.
14. Kasyapa's Book of Wisdom, T. Goudriaan, Mouton & Co Hague, 1965.
15. Laxmi Tantra, Sanukta Gupta, Liden, 1974.
16. Sakti And Sakta, Sir John Woodroffe, Ganesh & Co, Madras, 1954, X Ed. 1994.
17. Sanskrit English Dictionary, Sir Monier Williams, Oxford Clarendon Press; 1960.
18. South Indian Images of God And Goddesses, H. Krishna Shastri, Madras, 1916.
19. The Development of Hindu Iconography, J.N. Banerjea, Calcutta, 1956.
20. The Tantra Study On Their Religion And Literature, Chinta Haran Chakravarti, Punthi Pustak Prakashan, Calcutta.
21. The Tantric Tradition, Agehanand Bharti, B. I. Pub., III Ed. 1983.
22. The Visnu Samhita, Dr. N.P. Unni, Trivedrum Sanskrit Series LXXXV, Nag Pub. Delhi, 1925.
23. Vaikhanas Worship, Prof. S. K. Ramchandra Rao, TT Devasthanams, Tirupati 2004.
24. Proceeding of the National Conference on Vedas and Sastras, Tirumala Jan. 29-Feb. 3, 1992 Published by Sri Ajeyakallam, TT Devasthanams, Tirupati, First Edison 2004
25. The Philosophy of PŒncarŒtra, Dr. S.R. Bhatt, Butala & Co. New Delhi, 1980

परिशिष्ट ङ

विशिष्ट शब्द - अनुक्रमणी

अथर्ववेद- ९, १२, १३, २३
अमरकोष- २२
अगेहानन्द भारती- ७
अग्नि- १३३,
अत्रि- ४९
अभिगमन- १४०, २२७
अभिषेक- १३६, १३७, २१८, २२१, २२२
अर्चावतार- १०३
आचार्य- १३४, १३६, २१८, २२१, २२२
इज्या-
ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका-३१
ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतविमर्शिनी- ५
ईशानशिवगुरुदेवपद्धति- ७, १७
ईशावास्योपनिषद्- ४
उत्पलदेव- ६८, ६९
उत्सव- १८४,
उपादान- १४०, १९६ २२७
उपासकाध्ययन- २
एकायन- ६७, ६८, ६९, ११५, ११६
कलश- १३५, २२२
करपात्रिजी- २
कुण्ड- १३३, २०६
कुम्भ- २१४, २१६
कुल्लूकभट्ट- ४७
क्षेमराज- १०७
खिलाधिकार- ५०
गरुडपुराण- २९, ८०, ९७
गाणपत्यागम- २४, २६
गाणपत्यसिद्धान्त- २६
गोपीनाथकविराज- १७
चतुर्व्यूह- ९७, ९९, १०१, १०२
चरकसंहिता- ४, ५
चिन्ताहरणचक्रवर्ती- १०
छान्दोग्योपनिषद्- ११, २२, ६७
जप- १३३, १७४, २२२
जैनागम- ३४, ३५
तन्त्र और तसव्वुफ- १०
तन्त्रालोक- १८
तालमान- १९०
तैत्तिरीयारण्यक- ११
तृचभास्कर- २४
दर्शनोदयः- ६
देवीपुराण- ४६
दैविकसूत्रम्- ४७
ध्यान- १३२, १६४,
नवजीवन रस्तोगी- ३१
निगमागम- १-३, २१, २४, १६८
निरुक्त- ३, ४५

नृसिंह- १३१, १७५
पञ्चकाल- ४६, १४०, २२६, २२७
पवित्रारोपण- १३९,
पाञ्चरात्ररक्षा- १६
पाशुपत- ३१
प्रत्यभिज्ञा- ३१
प्रत्यभिज्ञाहृदय- १०७
प्रणव- ५६, १२२, १६७
प्रतिष्ठा- १९२
प्रमाणनयतत्त्वलोकालङ्कार- ४
प्रायश्चित्त- १४२
प्रबोधचन्द्रबागची- १४
प्रासाद- १९१
बन्धन- १६०
ब्रह्मस्वरूप- ८३, १२३, १२६, १४८, १४९
ब्रह्मसूत्र- २२
बिम्ब- १३८, १९३
बेर- १८४, १८५
बौधायनधर्मसूत्र- २५, ४५
बौद्धागम- ३२
बृहद्देवता- ४५
भगवच्छास्त्र- ३८
भागवत- ४२, ४३, ४६
भार्गवतन्त्र- २७
भर्तृहरि- ३-४
भास्करराय- ९, २४
मालिनीविजयतन्त्र- २८
मत्स्यपुराण- ४६
मनुस्मृति- ४१
मज्झिमनिकाय- ४४
मन्त्रस्वरूप- १६५, १७५
मातृका- १६८
मण्डल- १३२
मोक्ष- १११, १६०
यन्त्र- १७५, २०८
यशस्तिलक- ४४
यामुनाचार्य- १६, ६८, ८०, ८१
यज्ञाधिकार- ५०
यक्षिणी- ११८
योग- १६३, १६४,
योगराज- १४
योगिनीतन्त्र- ९
रत्नत्रय- ११९, १२०
राममूर्ति त्रिपाठी- १०
रामेश्वर झा- ४, १७, १७६
रुद्रयामल- ८
लक्ष्मीविशिष्टाद्वैत- ५४, ५५
लक्ष्मीनिवासपुरम्- ६
लिङ्गपूजा- ११
लोकायत- १२
व्रजवल्लभद्विवेदी- ४८, ८०
वामनदत्त- ६८
वाचस्पतिमिश्र- २
वामनपुराण- ४६
वशिष्ठधर्मसूत्र- ४५
विनायकरहस्य- २६, २७
विशाखयूप- ९४, ९६
विभव- १०२, १०३
वेखणससूत्त- ४४

वेदान्तदेशिक- १६, ४६, ८१
व्यास- १
शाक्तागम- ३२
शक्तितत्त्व- ९०
शक्तिसंगमतन्त्र- २१
शैवागम- ३१
शंकर- ९७
षण्मुख- २७, ३०
सांख्यसप्तति- ४
सुब्रह्मण्य २७, ३०
संवित्स्वातन्त्र्यम्- १७
सीतोपनिषद्- ४५
सौरागम- २१, २३
स्कान्दागम- २७
स्नपन- १९२, १९७
स्वच्छन्दतन्त्र- ३
स्पन्दप्रदीपिका- ६८
स्वाध्याय- १४०,
स्वायम्भुवपाञ्चरात्र-

नाम : डॉ. शीतलाप्रसाद पाण्डेय

जन्म तिथि : २८ जनवरी १९६२ ई.

पता : ग्राम व पोस्टः- कुरहुआ (द्वारा- काशी हिन्दू विश्वविद्यालय), वाराणसी - २२१०११

पिता : पं. श्री रामनाथ पाण्डेय

शिक्षा : प्रारम्भिक शिक्षा : १ से १० प्रायः ग्रामीण विद्यालय प्रायः प्रथम श्रेणी।

उच्च शिक्षा : शास्त्री (ससम्मान) प्रथम श्रेणी आचार्य-धर्मागम, (स्वर्णपदक प्राप्त)

पी-एच.डी.-धर्मागम, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी - २२१००५

उपलब्धियाँ : भारतीय इतिहास अनुसन्धान परिषद् नई दिल्ली, द्वारा पोस्ट डाक्टूरल फेलोशिप प्राप्त। प्रयाग स्थित धर्मज्ञानोपदेश संस्कृत महाविद्यालय द्वारा शास्त्ररक्षा सम्मान से सम्मानित, असम-बङ्गीय-ज्योतिष व तन्त्र-समिति तथा ऋषि बङ्किम कृष्टि-परिषद् द्वारा विवेकानन्द-पुरस्कार प्राप्त तथा अखिल भारतीय-विद्वत्-परिषद् काशी द्वारा आगमविज्ञान क्षेत्र में विशेष कार्य हेतु माहेश्वर-पुरस्कार प्राप्त। प्रायः ५० शोध निबन्ध प्रतिष्ठित शोध पत्रिकाओं में प्रकाशित। प्रायः ५० राष्ट्रीय एवं अन्ताराष्ट्रिय शोध संगोष्ठियों में भागीदारी।

सम्प्रति : काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के धर्मागम विभाग में असि. प्रोफेसर पद पर कार्यरत।

₹ 795.00

शिवांक प्रका

4598/12 बी, प्रथम तल, गोला कॉटेज,
अंसारी रोड, दरिया गंज, नई दिल्ली-110002
दूरभाषः 011-23251264, मो. 9811734184
ई-मेलः shivank.prakashan@gmail.com

ISBN: 978-93-83980-19-2